पहली वार १५००
सन् १६३५.
मूल्य डेढ़ रुपया।

पूज्य मालवीयजी की अपील

"सस्ता साहित्य मण्डल ने हिन्दी में उच्चकोटि की सस्ती पुस्तकें निकालकर हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सर्वसाधारण को इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

मदनमोहन मालवीय

मुद्रक—
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
दिल्ली।

आरम्भिक

यह ध्रुव सत्य है कि सारा जगत्—जीवमात्र ही नही, अणु-परमाणु भी—परतन्त्रता से स्वतन्त्रता की ओर जारहा है। जो विश्व हम आज देख रहे है, वह एक मूल स्वतंत्र तत्व का प्रकट रूप है। अव्यक्त से व्यक्त होते ही उसे आकार और मर्यादा प्राप्त हुई। इसी मर्यादा ने उसे कई प्रकार के नियमों और वन्धनों मे जकड दिया। यही पराधीनता हुई। मुक्त जीव शरीर के कैदखाने मे आगया। आतो गया—किन्तु उसकी स्वाभाविक गति इस जेल से छुटकारा पाने की ओर है। यही मनुष्य के लिए ईश्वर की ओर से आशा का, मागल्य का सन्देश है। जिसने इस रहस्य को समझ लिया है उसकी स्वभावतः प्रवृति वेग के साथ परतत्रता से छूटकर स्वतंत्रता की ओर जाने की, निराशा, शोक, अनुत्साह, कष्ट के अवसरों पर भी आशावान और उत्साही रहने की एवं पतित होजाने की अवस्था मे भी शुद्ध, उन्नत और श्रेयोमय हो सकने का आत्मविश्वास रखने की ओर होगी। किन्तु बहुतेरे लोग इस रहस्य को नही जानते। इससे नाना प्रकार के दुःख, ग्लानि, शोक, सन्ताप, चिन्ता आदि का बोझ अकारण ही अपने

सिरपर लादे फिरते हैं और जीवन को सुखी और स्वतंत्र बनाने के बजाय दुखी और परतंत्र बनाये रखते हैं। अगले पन्नों में इसी बात का यत्न किया गया है कि पाठक इस रहस्य को समझें और जानें कि मनुष्य पराधीन से स्वाधीन कैसे हो सकता है। वास्तविक स्वाधीनता क्या वस्तु है, उसे वह व्यक्ति और समाज-रूप से कैसे पा सकता है। उसके लिए कितनी तैयारी, कैसी साधन-सामग्री की आवश्यकता है—इसका भी वर्णन एक हद्तक किया गया है। कौन कौन से विचार और धारणायें वास्तविक स्वाधीनता को समझने मे बाधक है, इसका भी विवेचन एक अध्याय में कर दिया गया है। आन्दोलन और नेता स्वतंत्रता के सबसे बड़े भौतिक साधन हैं—इसलिए इनपर भी एक अध्याय लिखा गया है। देश का एक साधारण सेवक और लेखक नेता की योग्यता और गुणों के संबंध मे कुछ लिखे, यह है तो 'अव्यापारेषु व्यापार', किन्तु इसकी आवश्यकता समझकर ही इस विषय मे कुछ लिख डालने का साहस किया है। मैं समझता हूं, उस अध्याय से भी पाठकों को कुछ लाभ ही होगा।

मैं नहीं कह सकता कि इस उद्देश मे सफलता कहाँतक मिली है। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूं कि इन अध्यायों से पाठकों की कई उलझने अवश्य सुलझ जायंगी। यदि इतना भी हुआ तो मेरे समाधान के लिए काफी है। यदि उन्होंने सच्ची स्वतंत्रता और उसके साधनों को समझ लिया तो मानना होगा कि मुझे इस श्रम का पूरा बदला मिल गया। पाठकों से इससे अधिक आशा रखने का मुझे अधिकार भी नहीं है।

मेरे मित्र अध्यापक गोकुललाल असावा और श्री वैजनाथजी महोदय ने प्रकाशित होने से पहले सारी पुस्तक को आलोचना की निगाह देख लेने की कृपा की है इसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। इस पुस्तक मे भिन्न-भिन्न सामयिक पत्रों मे प्रकाशित मेरे कुछ लेखों का भी समावेश—प्रसंगानुसार कर दिया है अतएव उन पत्रों के सम्पादकों का भी मैं आभारी हूँ।

इस पुस्तक मे जिन विचारों का प्रतिपादन किया गया है उनकी स्फूर्ति मुझे मुख्यतः पूज्य महात्मा गाधीजी के सिद्धान्तों और आदर्शों से हुई है अतः उनके चरणों मे सा० प्रणाम करते हुए यह वक्तव्य समाप्त करता हूँ।

इन्दौर
चैत्र शु० वर्षप्रतिपदा १९९२

हरिभाऊ उपाध्याय

लेखक के पू० पिता

पडित सिद्धनाथ उपाध्याय

समर्पण

तीर्थ-स्वरूप पूज्य पिताजी को

जिन्हें

'देश-सेवा' की धुन मे मेरे द्वारा

बहुत मानसिक क्लेश

पहुँचा है ।

हरिभाऊ उपाध्याय

निर्देशिका

स्वतंत्रता की ओर—

—हरिभाऊ उपाध्याय

मानवजीवन

[१]

[१]

जीवन क्या है ?

सब से पहले हम मनुष्य और उसके जीवन को समझने का यत्न करें। जीवन 'जीव' शब्द से बना है। जीव के जन्म से लेकर मृत्यु तक के समय या अवधि को जीवन कहते हैं। जीव आरम्भ से अन्त तक जिन-जिन अवस्थाओं में से गुजरता है उन्हें भी जीवन कहते हैं, जैसे बाल्य-जीवन या धार्मिक जीवन। जीव वह वस्तु है जो एक शरीर में रहता है और जिसके कारण शरीर जीवित कहलाता है—शरीर चाहे पशु का हो, मनुष्य का हो, या कीट-पतंग का हो। इस पुस्तक में मनुष्य के जीवन का विचार होगा।

जीव जब किसी शरीर में आता है तब उस पर इतने प्रभाव काम करते हैं—(१) माता-पिता के रज-वीर्य और स्वभाव के गुण-दोष।

(२) कुटुम्ब, पाठशाला और मित्रो के सस्कार। (३) उपार्जित विद्या और स्वानुभव। कितने ही लोग यह भी मानते हैं कि पिछले जन्मो के सस्कार लेकर जीव नवीन जन्म ग्रहण करता है। जब से जीव गर्भ मे आता है तब से वह नये सस्कार ग्रहण करने लगता है। इन सस्कारो पर बहुत ध्यान रखने की आवश्यकता है। इसी सावधानी पर जीव का भविष्य अवलम्बित है। अज्ञान के कारण जीव अच्छे सस्कारो को लेने मे रह जाता है और कितने ही बुरे सस्कारो मे लिप्त हो जाता है। कुटुम्ब, समाज और राज्य के सब नियम इसी उद्देश से बनाये जाते हैं कि मनुष्य अच्छे सस्कारो को ग्रहण करता रहे और बुरे सस्कारो से बचता रहे। मनुष्य का ही नही, जीव-मात्र का जीवन इसी बुराई और अच्छाई के सघर्ष का अखाडा है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि मनुष्य-शरीर, पशु-पक्षियो के शरीर से अधिक उन्नत और विकसित है—इस कारण जीव उसके द्वारा अपने को अधिक पूर्ण रूप मे व्यक्त कर सकता है। यह भी एक प्रश्न है कि मनुष्य-शरीर से अधिक पूर्ण शरीर है या नहीं और हो सकता है, या नही। कितने ही लोग मानते हैं कि एक प्रेत-शरीर होता है और उसमें जीव अधिक स्वतत्रता के साथ रहता है। इसे पितृयोनि कहते हैं। किन्तु जैसा कि पहले कहा है, इस पुस्तक का सम्बन्ध सिर्फ मनुष्य जीवन से ही है। इसलिए हमे यह जानना जरूरी है कि मनुष्य-जीवन क्या है? जीव यद्यपि सब शरीरो मे एक है तथापि शरीर-भेद से उसके गुण और विकास मे अन्तर है। अन्य शरीरो की अपेक्षा मनुष्य-शरीर मे बुद्धि का विकास बहुत अधिक पाया जाता है जिसके कारण वह अच्छाई और बुराई, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की छान-बीन बहुत आसानी से कर सकता है। और यही कारण है कि मनुष्य ने आज भीमकाय, विषैले और महान् हिंस्र पशुओ को अपने अधीन कर रक्खा है, एव कई

प्राकृतिक शक्तियो पर भी अपना अधिकार कर लिया है। इसीलिए यह जरूरी है कि मनुष्य अपने वल ओर पौरुष के वास्तविक स्वरूप को समझे, अपनी पराधीनता से स्वाधीन बनने की राह खोजे और जाने। इन सब बातो को जान लेना जीवन का मर्म समझ लेना है। उनके अनुसार जीवन को बनाना, जीवन की सफलता है। सक्षेप मे जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जीव के पुरुपार्थ को जीवन कहते हैं।

अव हमे यह देखना है कि यह पुरुषार्थ क्या वस्तु है—अथवा यो कहे कि जीवन की सफलता या साधना किसे कहते हैं।

[२]

जीवन का उद्देश

जीव कहा से जन्मता है और कहा जाता है ? रास्ते म वह क्या देखता है, क्या पाता है, क्या छोडता है, क्या करता है—इन सबको जानना जीवन के रहस्य को समझना है। किन्तु इनकी बहुत गहराई मे पैठना तर्क-शास्त्र ओर दर्शन-शास्त्र के सूक्ष्म विवेचन मे प्रवेश करना है। उससे भरसक बचते हुए फिलहाल हमारे लिए इतना ही जान लेना काफी है कि विचारको और अनुभवियो ने इस सम्बन्ध मे क्या कहा है और क्या बताया है। उनका कहना है कि इस ससार मे अनगिनत, भिन्न-भिन्न, परस्पर-विरोधी और विचित्र चीजे हैं। किन्तु उन सबके अन्दर हम एक ऐसी चीज को पाते हैं जो सबमे सर्वदा समायी रहती है। उसका नाम उन्होने आत्मा रक्खा है। यह आत्मा इस भिन्नता और विरोध के अन्दर एकता रखता है। इस दिखती हुई अनेकता मे वास्तविक एकता का अनुभव आत्मा के ही कारण होता है। साप इतना जहरीला

जीव है फिर भी उसके मारे जाने पर हमारे मन मे क्यो दु ख होता है ? शत्रु के भी दु ख पर हमारे मन मे क्यो सहानुभूति पैदा होती है। इसका यही कारण है कि हमारे और उसके अन्दर एक ही तत्व भरा हुआ है, जो सुख-दु ख हर्ष-शोक आदि भावो को परस्पर विपरीत शरीरो मे रहते हुए भी एक-सा अनुभव करता है। उसी तत्व का नाम आत्मा है। जब यह तत्व किसी एक शरीर के अन्दर आया हुआ होता है तव उसे जीवात्मा कहते हैं। जब जीवात्मा को यह ज्ञान हो जाता है कि मै वास्तव मे तो महान् आत्मा हूँ, किन्तु कारण-वश इस शरीर मे आ फँसा हूँ—इसमे वध गया हूँ और जब वह इसके वन्धन से छूटकर या इससे ऊपर उठकर अपने महान् आत्मत्व को अनुभव करता है, उसमे मिल जाता है तब वह परमात्मा हो जाता है, या यो कहिए कि मुक्त हो जाता है, सब तरह से स्वतत्र हो जाता है। इसका सार यह निकला कि परतत्रता मे फँसा हुआ जीव स्वतत्रता चाहता है। गर्भ मे आते ही स्वतत्र होने का वह प्रयत्न करता है। स्वतत्रता उसके जीवन का प्रयत्न ही नही, ध्येय ही नही, बल्कि स्वभाव-धर्म है। क्योकि जीव अपनी मूल दशा मे स्वतत्र है। उसी दशा मे वह आत्मा है। स्वतत्र जीव का नाम परमात्मा है और परतन्त्र आत्मा का नाम जीव है। इस कारण स्वतत्रता जीव की प्राकृतिक या वास्तविक दशा है—परतत्रता अस्वाभाविक और अवास्तविक। जीवन का लक्ष्य, अन्तिम गन्तव्य स्थान, या प्राप्तव्य स्थिति हुई पूर्ण स्वतत्रता। जीव स्वतत्रता के धाम से चला, परतत्रता मे फँसा और स्वतत्रता की ओर जा रहा है। वही पहुँचने पर उसे अन्तिम शान्ति मिलेगी, पूरा सुख मिलेगा। इस स्वतत्रता का, इस सुख का, इस आनन्द का पाना ही जीवन की सफलता या सार्थकता है।

जब जीव प्रकृति के लगाये शरीर तक के वन्धन को, परतत्रता को,

सहन नही कर सकता, तब मनुष्य की उपजाई पराधीनता उसे कैसे बरदाश्त हो सकती है ? यदि यह असहिष्णुता सबमे एक-सी नही पाई जाती है तो उसका कारण केवल यह है कि अनेक कु-सस्कारो के कारण कइयो का स्वाधीनता-भाव मन्द और सुप्त हो जाता है। उनको हटाकर अच्छे सस्कार जाग्रत करते ही आन्तरिक स्वतत्रता की ज्योति उसी प्रकार जगमगाने लगती है जिस प्रकार ऊपर की राख हट जाने पर आग जल उठती है। तो जीवन की सफलता केवल इसी बात मे नही है कि हमारी बुद्धि यह समझ ले कि हमे स्वतत्र या मुक्त होना है, परमात्मा बनना है, बल्कि हमारा सारा बल और पुरुपार्थ यह अविरत उद्योग करे कि हमे वह स्थिति प्राप्त हो। बुद्धि के द्वारा इस मर्म को समझनेवालो की सख्या कम नही है, किन्तु स्वतत्रता का परम आनन्द और ऐश्वर्य वही पाते हैं जो उसके लिए अपने जीवन मे श्रेष्ठ पुरुषार्थ करते हैं।

[३]

स्वतंत्रता का पूर्ण स्वरूप

जीव जबसे गर्भ मे आता है तबसे लेकर मृत्यु तक शरीर के बन्धन मे रहता है—शरीर के कारण उत्पन्न निर्बलताओ और मर्यादाओ से बँधा रहता है—इसलिए वह परतन्त्र कहलाता है। यह तो एक तरह से उसकी आजीवन परतत्रता हुई। किन्तु इस जीवन की परतत्र के अन्दर भी फिर उसे कई परतत्रताओ मे रहना पडता है। दैहिक परतत्रता एक तरह से प्रकृति-निर्मित है, किन्तु शरीर धारण करने के बाद, या उसीके कारण, कुटुम्ब, समाज, या राज्य

द्वारा लगाई गई परतन्त्रता मनुष्य-निर्मित है। यो तो नियममात्र मनुष्य की शक्ति को रोकते है। परन्तु हम उन नियमो के पालन को परतन्त्रता नही कह सकते जो हमारी स्वीकृति से, हमारे हित के लिए, बनाये गये हो। जो नियम हमारी इच्छा के विरुद्ध, हमारे हिताहित का बिना खयाल किये, हम पर लाद दिये गये हो, वे चाहे किसी कुटुम्ब के हो, समाज के हो, वा राज्य के हो, बन्धन हैं, परतन्त्रता है। इन्हे ऐसा कोई मनुष्य नही मान सकता जिसने मनुष्यता के रहस्य और गौरव को समझ लिया है। अतएव मनुष्य को न केवल दैहिक परतन्त्रता से लडना है, बल्कि मानुषी परतन्त्रताओ से भी लडना है। यही उसका पुरुषार्थ है। बल्कि यो कहना चाहिए कि वह इन मानुषी परतन्त्रताओ से छुटकारा पाये बिना दैहिक परतन्त्रता से सहसा नही छूट सकता। मानुषी परतन्त्र-ताओ से लडने से न केवल वह अपने को दैहिक परतन्त्रता से लडने के अधिक योग्य बनाता है बल्कि दूसरो के लिए भी दैहिक परतन्त्रता से मुक्त होने का रास्ता साफ कर देता है।

महज सुखोपभोग की सुविधा को ही स्वतन्त्रता समझ लेना हमारी भूल है। शरीर का पूर्ण विकास, मन की ऊँची उडान, बुद्धि का अबाध खेल, अन्त करण की असीम निर्मलता और उज्ज्वलता, आत्मा की चमक तथा अखण्ड वैभव, इन सबको मिलाने पर पूर्ण स्वतन्त्रता की वास्तविक कल्पना हो सकती है। एक शासन-प्रणाली से दूसरी उदार या अच्छी शासन-प्रणाली मे चला जाना, एक व्यक्ति की अधीनता से दूसरे अधिक भले और बडे आदमी के अकुश मे चला जाना—महज इतना ही स्वतन्त्रता का पूरा अर्थ और स्वरूप नही है। शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के पूर्ण विकास का ही नाम पूर्ण स्वतन्त्रता है। जो व्यक्ति, प्रथा, या प्रणाली मनुष्य को ऐशो आराम के तो थोडे से अधिकार दे देती है, या उसकी

न्यूनाधिक सुविधा तो कर देती है, किन्तु उसके पूर्ण, सर्वागीण विकास का खयाल नही करती, या उसकी वाधक और अवरोधक है, वह पूर्ण स्वतत्रता का दावा हरगिज नही कर सकती, हामी कदापि नही कहला सकती। मन, वचन और कर्म की पूर्ण स्वतत्रता के आगे, शारीरिक सुख भोग की थोडी सुविधा, मन पर उलटे-सीधे कुछ सस्कार डालने का थोडा सा सुप्रवन्ध—वस इसीका नाम स्वतत्रता कदापि नही है। यह बात हमे अच्छी तरह समझ रखनी चाहिए। ये तो उसकी थोडी-सी किरणे मात्र हैं—हमे सव कलाओ सहित पूनो के चाद को देखना और समझना चाहिए।

देखा जाता है कि वहुतेरे लोग दैहिक परतत्रता से पिण्ड छुडाने के लिए उतने उत्सुक नही हैं जितनी कि मानुपी परतत्रता से या यो कहे कि राजनैतिक परतत्रता से। किन्तु राजनैतिक मुक्ति तो दैहिक मुक्ति की पहली सीढी है। उस पर पाव रक्खे विना मनुष्य आगे वढ नही सकता। लेकिन राजनैतिक मुक्ति को ही वहुत वडी चीज न समझते रहना चाहिए। राजनैतिक परतत्रता हमारे सामाजिक विकास की वहुत वडी वाधक है—इसलिए उसे सवसे पहले दूर करना हमारा परम कर्त्तव्य है, किन्तु हमारी गति यही तक न रुक जानी चाहिए—हमारी शक्ति यहीं पर कुण्ठित हो न जानी चाहिए। हमारी सारी यात्रा की यह तो एक मजिल है। हमे अपना असली धाम न भूल जाना चाहिए। हम अपना आदर्श नीचा न करले। लक्ष्य न चूक जायँ। इसलिए उसकी ओर वार-वार ध्यान दिलाना और अपने जीवन को उस ध्रुव से पृथक् दिशा मे न वहने देने के लिए चेतावनी देना आवश्यक है। कितने ही लोगो के जीवन को जो हम असफल और दुखपूर्ण देखते हैं उसका एक महान् कारण इस वात का अज्ञान या इसके विषय मे असावधानी ही है।

यह तो हुई मनुष्य की अपनी स्वतत्रता की वात। पर इसके साथ ही

दूसरो को परतन्त्रता से मुक्ति दिलाने की बात भी लगी हुई है । अपने साथ ही साथ अपने पड़ौसियो का उद्धार उसे करना होगा। किन्तु इसका विवेचन आगे करेगे । यहा तो इतना ही लिखना काफी है कि जब हम इस भावना का विकास अपने अन्दर करेगे तो अनुभव करेगे कि हम स्वतन्त्रता के क्षेत्र मे ऊँचे उठ रहे हैं । तब हमे अकेले मनुष्य की स्वतन्त्रता पर ही सन्तोष न हो सकेगा । हमे पशु-पक्षियो की पराधीनता भी खलने लगेगी । उन्हे भी हम उसी दृष्टि से देखने लगेगे जिस दृष्टि से अभी मनुष्य को देखते हैं । उनके भिन्न-भिन्न शरीरो के अन्दर हम उसी एक आत्मा को देखने लगेगे और उनके उद्धार के लिए भी उत्सुक होगे । ओर आगे चलकर जीव-मात्र के बन्धन हमे असह्य होने लगेगे । जैसे-जेसे हमारी वृत्तिया इस प्रकार शुद्ध और व्यापक होती जायँगी वैसे-वैमे वह स्वतन्त्रता-प्राप्ति के मार्ग मे हमारी प्रगति की सूचक होगी । अन्त को हम शारीरिक भेदो के पार जाकर अपने असली रूप मे मिल जायँगे—यही हमारी पूर्ण स्वतन्त्रता होगी ।

[४]

मनुष्य क्या है ?

मनुष्य-जीवन का विचार करते समय सबसे पहले जानने योग्य वस्तु है मनुष्य स्वय ही । जब हम मनुष्य को जानने का यत्न करते हैं तो उसमे सब से बड़े दो भेद दिखाई देते हैं—एक उसका शरीर और दूसरा उसमे रहनेवाला जीवात्मा । इस जीवात्मा या चैतन्य के ही कारण शरीर जीवित रहता और चलता-फिरता तथा विविध कार्य करता है । इसीलिए शरीर जड और जीवात्मा चेतन कहा गया है ।

शरीर भिन्न-भिन्न अवयवो से वना हुआ है, जिन्हे इन्द्रिया कहते हैं। इनके भी दो भेद हैं भीतरी इन्द्रिया और बाहरी इन्द्रिया। आख, कान, नाक, मुख, जीभ, त्वचा, हाथ, पाव, गुदा, मूत्रेन्द्रिय, ये बाहरी, और फेफडा, यकृत, प्लीहा, हृदय, मूत्रपिण्ड, जठर, अँतडिया, नसे, मस्तिष्क आदि भीतरी अवयव हैं। बाहरी इन्द्रियो मे आख, कान, नाक, मुह, जीभ ये पाच ज्ञानेन्द्रिया कही जाती हैं क्योकि इनके द्वारा मनुष्य को बाहरी वस्तुओ का ज्ञान होता है—ये बाहर से ज्ञान के सस्कार भीतर भेजती हैं और त्वचा, हाथ, पाव, गुदा तथा मूत्रेन्द्रिय ये कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं, क्योकि ये अन्दर से आदेश पाकर तदनुसार कर्म करती हैं।

इनके अलावा शरीर के अन्दर एक और इन्द्रिय है जो बाहर से आये ज्ञान के सस्कारो को ग्रहण करती है और कर्मेन्द्रियो के द्वारा उनकी समुचित व्यवस्था करती है। इसे मन, चित्त या बुद्धि कहते हैं। यह इन्द्रिय जब केवल सकल्प-विकल्प करती रहती है अर्थात् यह करूँ या न करूँ, इसी उलझन मे पडी रहती है तब तक इसका नाम है मन; जब किसी कार्य के करने का निर्णय करने लगती है तब उसका नाम है बुद्धि और जब वह कार्य मे प्रेरित करती है, गति देती है तब उसका नाम है चित्त।

परन्तु इतने अवयवो से ही मनुष्य पूरा नही हो जाता है। यह उस मनुष्य के रहने का घर-मात्र हुआ। असली मनुष्य—जीवात्मा—इसमे भिन्न है। वह सारे शरीर और मन-बुद्धि आदि मे समाया रहता है। वह न हो तो इस सारे शरीर का, इस कारखाने का, कुछ मूल्य नही है। उसके निकल जाने पर इस शरीर को मुर्दा कहकर हम गाड या जला देते हैं।

अब कोई यह प्रश्न करे कि तुम शरीर को मनुष्य कहते हो या जीवात्मा को, तो उत्तर यही देना पडेगा कि जीवात्मा को। मनुष्य ही नही प्राणि-मात्र मे असली, साररूप, चीज यही है। ऊपर का कलेवर यह शरीर, उसकी रक्षा, उन्नति और विकास के लिए है। यह उसका साधन है। इसलिए बहुत महत्वपूर्ण है।

अब हम यह जान गये कि कर्मेन्द्रिया, ज्ञानेन्द्रिया, अन्तरीन्द्रिया मन-चित्त-बुद्धि और सबसे बढकर जीवात्मा को मिलाकर पूरा मनुष्य बना है। मनुष्य किसलिए पैदा हुआ है, या मनुष्य-जीवन का चरम उद्देश्य क्या है, यह जानने का साधन मनुष्य की इच्छा के सिवा, हमारे पास और कुछ नही है। मनुष्य-मात्र मे एक बलवती इच्छा पाई जाती है कि सुख मिले—अटल, अखण्ड और अनन्त सुख मिले। सुख पाने की अभिलापा ही उससे आजीवन भिन्न-भिन्न पुरुपार्थ करवाती है। यह निश्चित है कि सुख स्वतत्रता मे है, पराधीनता मे, बन्धन मे, सर्वदा दु ख ही दु ख ही है। इसलिए बन्धनो से छुटकारा पाना सुख का साधन हुआ यही उसके जीवन की स्वतत्रता और वही सफलता हुई।

[५]

स्त्री-पुरुष-भेद

सृष्टि रचना के अन्तर्गत प्रत्येक देहधारी मे हमे दो बडे भेद दिखाई पडते हैं (१) स्त्री और (२) पुरुष। ये भेद इनकी शरीर-रचना के कारण हुए हैं। स्त्री और पुरुष के दो अगो मे भेद है—जननेन्द्रिय, जिसे लिंग भी कहते हैं, और स्तन। स्त्री के स्तन अवस्था की वृद्धि के साथ बढते जाते हैं और माता बनने पर उसमे दूध आने लगता

है। स्त्री के एक तीसरा विशेष अग गर्भाशय भी होता है। इन अवयव भेदो से स्त्री और पुरुष का जीवन कई बातो मे एक दूसरे से भिन्न हो जाता है। कुटुम्ब मे पति-पत्नी के जीवन से आरम्भ करके फिर माता-पिता और अन्त को बडे-बूढो के रूप मे परिणत होता हुआ उनका जीवन समाप्त होता है। यद्यपि यह निश्चय-पूर्वक कहना कठिन है कि समाज और जीवन मे किसका महत्व अधिक है, परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि जीवन मे दोनो की अनिवार्यता है—दोनो एक दूसरे के पूरक है। यद्यपि मनुष्य-समाज मे स्त्री विशेष आदर और स्नेह की दृष्टि से देखी जाती है तथापि मानवी जीवन का सञ्चालक, नियामक या नेता तो पुरुष ही हो रहा है। स्त्री मे स्नेह की और पुरुष मे तेज की प्रधानता पाई जाती है। शरीर के भेदो से दृष्टि हटा ले तो दोनो मे एक ही मूल वस्तु—आत्मा दिखाई देगी, किन्तु स्थूल जगत् मे, दोनो के गुण और बल मे, अन्तर पड गया है। इसीसे उनके कर्तव्य भी अपने-आप भिन्न हो गये हैं। पत्नी और फिर माता होने के कारण स्त्री के जीवन मे स्नेह, वात्सल्य और कौटुम्बिकता की अधिकता है और उसके जीवन मे 'गृह' को प्रधान स्थान है। पति और पोषक होने के कारण पुरुष के जीवन में तेज, पुरुषार्थ की प्रधानता है और उसके जीवन मे 'व्यवसाय' को प्रधान स्थान मिला है। यही कारण है जो पत्नी पति की सहधर्मचारिणी मानी गई है। पति कर्तव्य को चुनता है और पत्नी उसकी पूर्ति मे उसका साथ देती है। दोनो एक-प्राण दो-तन से रहते हैं। स्त्री-पुरुष की समानता का यही अर्थ है। दोनो को अपनी चरम उन्नति की सुविधा होना आवश्यक है - दोनो का एक-दूसरे की स्वतत्रता मे सहकारी होना जरूरी है। दोनो एक असली चीज से बिछुडे हुए है। दोनो वही जाने के लिए, उसीको पाने के लिए, छटपटाते हैं। दोनो का परस्पर सहयोग बहुत आवश्यक है। स्त्री-

पुरुष अलग रहकर भी अपने परमधाम को पहुँच सकते हैं। परन्तु इस दशा में उनका ससार-बन्धनो से परे रहना ही उचित है। ससार-बन्धन मे पडने पर सामाजिक कर्तव्यो से वे बच नही सकते और इसलिए दोनो का सहयोग आवश्यक हो जाता है।

पुरुष में तेज की और स्त्री मे स्नेह की प्रधानता होती है, यह ऊपर कहा जा चुका है। तेज और स्नेह दोनो अतुल शक्तिया हैं। एक मे पराक्रम का और दूसरे मे बलिदान का भाव है। पराक्रम कुछ अश मे अपने को दूसरो पर लादता है। स्नेह प्राय सर्वांश में दूसरे को अपना कर आत्मसात् कर लेता है। इसी कारण बडे-बडे पराक्रमी स्नेह से जीत लिये जाते हैं। इसीलिए ससार मे स्नेह की महिमा पराक्रम से बडी है। इसी कारण उपनिषद् मे पहले 'मातृदेवो भव' कहकर फिर 'पितृदेवो भव' कहा गया है। सो, पराक्रम (पुरुष) यदि अकेला रहेगा तो उसे अपनेको प्रखरता से बचाने के लिए अपने अन्दर स्नेह के सेचन की आवश्यकता होगी, और यदि स्नेह अकेला रहा तो उसके निर्बलता मे परिणत हो जाने की आशका है, इसलिए तेज का ओज मिलाने की जरूरत होगी। यदि स्त्री-पुरुष अकेले रहकर अपनी कमियो को इस प्रकार यत्न करके पूरा करे तो हर्ज नही, अन्यथा उनके सहयोग से ही दोनो तत्व उचित मर्यादा मे रह सकते हैं, और उनसे स्वय उनको तथा समाज को लाभ पहुँच सकता है।

यहा हमें सहयोग का अर्थ अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। दैहिक विकारो को शमन करने के लिए स्त्री-पुरुषो का जो शारीरिक सहयोग होता है और उसके द्वारा सन्तति के रूप मे समाज को जो लाभ होता है, केवल इतना ही अर्थ यहा सहयोग का अभीष्ट नही है। स्त्री-पुरुष-शक्ति के दो बडे भेद केवल इस सहयोग के लिए नही हुए है। वास्तव मे ये दो

भेद सृष्टि के सहयोग-तत्व को सिद्ध करते हैं और बताते हैं कि सृष्टि सहयोग चाहती है, विरोध नही। सहयोग जीवन का तत्व है, विरोध जीवन का दोष है। इसलिए वास्तव मे दोष के ही विरोध को जीवन मे स्थान है। स्त्री-पुरुष एक-दूसरे के दोषो का विरोध और गुणो का सम्मिलन करते हुए पूर्ण दशा को पहुँचे—यही सृष्टि रचयिता को अभीष्ट है। अतएव सहयोग का अर्थ यहा है जीवन- कार्यो मे सहयोग। केवल पति-पत्नी के ही नाते नही, बहन-भाई के नाते, माता-पुत्र के नाते, मित्र-मित्र के नाते, सब तरह स्त्री-पुरुष का सहयोग वाछनीय और उपयोगी है।

कुछ ज्ञानियो और सन्तो ने स्त्रियो की बुरी तरह निन्दा की है। किन्तु वह स्त्री-जाति, स्त्री-तत्व, स्त्री-शक्ति की निन्दा नही है, वास्तव मे उसके दोषो, दुर्विकारो की निन्दा है। पुरुष के दोषो, दुर्गुणो की भी इतनी ही तीव्र निन्दा की जा सकती है। बल्कि पुरुष आक्रामक होने के कारण वह अधिक भर्त्सना का पात्र है। सच पूछिए तो दूसरे की निन्दा करना ही अनुचित है। हमारी असफलता, दु ख या कमजोरी का कारण हमे अपने ही अन्दर खोजना चाहिए। वह वही मिलेगा भी। किन्तु हम जल्दी मे दूसरे के प्रति अनुदार, कठोर और अन्त मे अन्यायी बन जाते है। इसमे न तो सच्चाई है, न न्याय है, न बहादुरी है।

[६]

स्त्री का महत्त्व

मानव-जीवन मे स्त्री का महत्त्व उसकी शरीर-रचना से ही स्पष्ट है। सन्तति समाज को उसकी देन है। यद्यपि सन्तति मे पुरुप का भी अग या अश है, किन्तु उसकी धारणा स्त्री के ही द्वारा

होती है। सन्तति देकर, उसका लालन-पालन और गुण-सवर्धन करके स्त्री समाज की सेवा करती है। इसके अतिरिक्त वह स्वय भी पुत्री, बहन, पत्नी, माता, वृद्धा के रूप मे समाज की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे अनेक प्रकार की सेवाये करती है, मनुष्य-जीवन को पूर्णाग बनाती है। मृदुल गुणो की अधिष्ठात्री होने के कारण वह समाज मे सरसता और स्वाद की वृद्धि करती है। जीवन-सघर्ष मे शान्ति और सान्त्वना की वह देवी है। विधवा के रूप मे वह त्याग और सयम को स्फूर्ति देती है। पुत्री के रूप मे घर को जगमगाती, बहन के रूप मे भाई का बल और ढाल बनती, पत्नी के रूप मे पति को अपने जीवन का सार-सर्वस्व लुटाती, माता के रूप मे समाज को अपना श्रेष्ठतम दान देती, वृद्धा के रूप में समाज पर अपने अनुभव ओर आशीर्वाद की वृष्टि करती हुई स्त्री समाज के अगणित उपकार करती है। काव्य, नाटक, चित्र, सगीत, नृत्य आदि ललित कलाओ का आधार स्त्री-जाति ही है। इतिहास मे स्त्रियो ने वीरोचित कार्य भी किये है। समय पडने पर स्त्रियो ने पुरुषो मे वीरता और तेज का सचार भी किया है। दर्शन-ग्रन्थो मे वह आदि शक्ति, महामाया भी मानी गई है। अतएव एक अर्थ मे स्त्री ही समस्त शक्ति की जननी है। पुरुष अपने सारे सत्व को खीच कर स्त्री को प्रदान करता है। किन्तु स्त्री उसे गृहण करके अपने सत्व मे उसे मिलाती, अपने मे उसे धारण करती, और फिर उसकी एक अनुपम कृति जगत् को प्रदान करती है। इसलिए पुरुष केवल देता है। किन्तु स्त्री लेती है, रखती है, मिलाती है, और फिर दे देती है। पुरुष तो अपनी थाथी स्त्री को देकर अलग हो जाता है, किन्तु स्त्री वडी वफादारी से उसे सचित करके जगत् को देकर ही अलग नही होजाती, बल्कि जगत् की सेवा के योग्य उसे बनाती है।

प्रकृति ने अपने समस्त गुणो को एकत्र करके उसके दो भाग किये

(१) मृदुल और (२) परुप । मृदुल अश का नाम स्त्री और परुष का पुरुप रक्खा । स्वय कप्ट सहकर दूसरो को सुख पहुँचाना मृदुल गुणो की विशेषता है। क्षमा, दया, तितिक्षा, उदारता, शांति, आदि मृदुल गुणो के कुछ नमूने हैं। ये अपने धारण करनेवाले को कष्ट और दूसरे को सुख पहुँचाते हैं। परन्तु धारण करनेवाला उस कप्ट को कष्ट इसलिए अनुभव नही करता कि वह दूसरे के सुख मे अपने को सुखी मानता है। यही स्त्री का आदर्श है। यही स्त्री की दिव्यता है, यही पुरुष पर स्त्री की विजय है। यही जगत् मे स्त्री का वैभव है। यही मानव जीवन मे स्त्री का गौरव है। स्त्री के अभाव मे जगत् हिंसा, कलह, अशान्ति और दु ख का नमूना वन गया होता। उसमे हरे-भरे विटप-वृन्द नही, वल्कि रूखे-सूखे ठूठ नजर आते । शोभा, सुन्दरता, सरसता, सजीवता की जगह भीषणता, वीभत्सता, नृशसता, स्वार्थान्धता ओर रक्त-पिपासा का राज्य दिखाई देता। स्त्री ने उत्पन्न होकर जगत् पर अमृत की वृप्टि की है। उसने मनुप्य को उत्पन्न ही नही किया, जगत् को जिलाया और अमर वनाया है ।

[७]

पुरुष का कार्य

पुरुप के शरीर मे ओज, तेज, पराक्रम, के गुणो की अधिकता है। इसलिए, स्त्री जहा उत्साह और जीवन देती है तहा पुरुप रक्षा करता, आगे वढता, कठिनाइयो को मिटाता, सकटो को चीरता और सफलता पाता है। स्त्री मे रमणीयता और पुरुष मे पराक्रम है। स्त्री लुभाती है ओर पुरुष भयभीत करता है। स्त्री मे आकर्षण

है। पुरुष मे आच है, स्त्री की ओरम नुष्य वरवस दौडा जाता है, पुरुष की ओर सहमता हुआ कदम उठाता है। स्त्री ही के हृदय मे अपना हृदय मिला देना चाहता है, किन्तु पुरुष को दूर ही से पूजने योग्य समझता है। पुरुष मे सूर्य की प्रखरता है, स्त्री मे शशि की स्निग्धता और सुधामयता। इसलिए पुरुष समाज का रक्षक, पथदर्शक, नेता और भय-त्राता है। स्त्री समाज की सेविका है, पुरुष समाज का सिपाही है। स्त्री खीचती है और जीतती है, पुरुष वढता है और जीतता है। स्त्री स्नेह फैलाकर जीतती है, पुरुष धौस दिखाकर जीतता है। स्त्री हृदय को जीतती है, पुरुष उसे दवाता है। स्त्री हराकर भी हारा हुआ नही समझने देती, पुरुष हराकर फिर कोशिश करता है कि यह जीतने न पावे। इस कारण यद्यपि पुरुष की धौस का प्रभाव समाज पर विशेष रूप से पाया जाता है तथापि समाज के हृदय की डोर तो स्त्री ही हिलाती है। इसलिए पुरुष आदर-पात्र होता है पुरुष को आदर देकर वदले मे लोग आदर नही पाते, किन्तु स्त्री को स्नेह देकर वदले मे वढता हुआ स्नेह पाते है। क्योकि पुरुष अपने लिए वडा है, स्त्री दूसरो के लिए वडी है। धौस आदर चाहती है—झुकाना चाहती है, स्नेह दिल मिलाना चाहता है। आदर मे वडप्पन है, स्नेह मे समानता है। लोग वडो को चाहते तो है, किन्तु खुश रहते है वरावर वालो से। पुरुष मे दूसरे को अकित करने का भाव प्रबल है इसलिए ऐसे ही गुणो का विकास उसमे स्पष्ट रूप से पाया जाता है। इसलिए स्त्री की सेवाओ को इतिहास नही जानता, उसने मनुष्य के जीवन-विकास मे अपना इतिहास छिपा रक्खा है।

पुरुष प्रधानत इन चार रूपो म समाज की सेवा करता है—सिपाही, नेता, अध्यापक, गुरु। सिपाही के रूप मे वह समाज के लिए

लडता और विजय पाता है। नेता के रूप मे वह समाज को आगे खीचता और उठाता है। अध्यापक के रूप में वह अच्छे सस्कारो को जगाता और गुरु के रूप मे उसे अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाता है। ससार मे जहा कही निर्भयता है, तेजस्विता है, दुर्दमनीयता है, प्रखरता है, वह पुरुष-शक्ति की देन है। यदि पुरुप न होता तो हिंस्र पशु मनुष्य को चट कर गये होते। यदि पुरुष न होता तो स्त्री, वालक, निर्बल अनाथ हो गये होते। यदि पुरुष न होता तो मृदुल भावो, मृदुल गुणो, या यो कहे कि साहित्य, सगीत, कला, को आश्रय ही न मिला होता। पुरुप न होता तो राज्य, समाज, सस्थाये न वनी होती, न शास्त्र और विज्ञान का इतना विकास ही सभवनीय था। पुरुप न होता तो समाज मे सगठन, आन्दोलन, युद्ध, विजय, इन शब्दो और बडे-बडे राज्य तथा धर्म-शास्त्रो का जन्म न हुआ होता। पुरुप मस्तिष्क का राजा है और स्त्री हृदय की देवी है। इसलिए पुरुप यदि न हुआ होता तो ससार दिमागी खूबियो से खाली रह जाता। पुरुप ज्ञान का और स्त्री वल का प्रतीक है। स्त्री न होती तो जिस प्रकार उत्साह और प्रेरणा-हीन निर्जीव समाज हमे मिला होता उसी प्रकार यदि पुरुप न हुआ होता तो अन्धे, पगु, अबुध, असहाय, समाज मे हम अपने को पाते। स्त्री विना समाज यदि जीवन-हीन है तो पुरुष विना गति-हीन और दर्शन-हीन। इसलिए पुरुप समाज का सिरमौर और वन्दनीय है। पुरुष सत्य का तेज है और स्त्री अहिसा की देवी है।

---

[८]

बालक-जीवन

स्त्री मे ऋतु की प्राप्ति और पुरुषो मे मूछो की रेख का बँधना वाल्य-काल की समाप्ति और यौवन के आगमन का चिन्ह । वचपन मनुष्य के जीवन मे सबसे निर्दोष तथा कोमल अवस्था है । उस सरलता, निष्कपटता, सहज-स्नेह का अनुभव मनुष्य फिर पूर्ण ज्ञानी होने पर ही कर सकता है । वचपन की निष्पापता स्वाभाविक और ज्ञानी अथवा पूर्ण मनुष्य की साधुता परिपक्व ज्ञान का फल होती है । इसका अर्थ यह नही कि वचपन मे मनुष्य सचमुच निर्दोष होता है, वल्कि यह कि उस समय उसके सस्कार मन्द या सुप्त होते है और आगे चलकर वयोधर्मानुसार दुनिया के सम्पर्क मे आने से जाग्रत और विकसित होते है । वास्तव मे वालक भावी मनुष्य है । जैसे कली मे फल छिपा हुआ होता है वैसे ही वालक मे मनुष्य समाया हुआ होता है । वालक ही खिलकर और फलकर मनुष्य होता है । वह अपने प्राप्त और सचित सस्कारो के अनुसार गुण-दोष अपने आसपास के वातावरण मे से गृहण करता रहता है और अन्त मे मनुष्य वन जाता है । ज्यो-ज्यो वचपन समाप्त होता जाता है त्यो-त्यो उसमे एक ऐसी शक्ति पैदा होती जाती है जो उसे भले और वुरे की तमीज सिखाती है और अपने मन के वेगो को रोकने का सामर्थ्य देती है । इसे वुद्धि या सारासार-विचार-शक्ति कहते हैं । जव यह मनुष्य को किसी काम से रोकती है या किसी मे प्रेरित करती है तव उसे पुरुषार्थ कहते है । इस विवेक और पुरुषार्थ के वल पर ही मनुष्य अपने वुरे सस्कारो को मिटाकर

अपनी उन्नति करता है। परन्तु बचपन मे ये शक्तिया बीजरूप मे रहती हैं, इसलिए किसी रखवाले की जरूरत होती है। दूध पीने तक मुख्यत माता, पाठशाला जाने तक माता-पिता तथा कुटुम्बीजन और फिर अध्यापक बालक के रखवाले होते हैं। उसके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा, चाल-चलन, का भार इन्ही पर होता है। बालक अनुकरणशील होता है। बोलने और अपने मन के सभी भावो को अच्छी तरह प्रकाशित करने का सामर्थ्य तो उसमे बहुत कम होता है, किन्तु समझने और ग्रहण करने की शक्ति काफी होती है। बालक कई बार आखो के उतार-चढाव और चेहरे के हाव-भाव से हमारे मन के भावो को ताड जाता है। वह हमारी समालोचना भी करता है और परीक्षा भी लेता रहता है। वचन-भग से बालक बहुत रुष्ट होता है और बुरा मानता है। 'हठ' तो बालक की प्रसिद्ध ही है। इस कारण उसके अभिभावको की जिम्मेदारी और भी बढ जाती है। वे बालक को जैसा बनाना चाहते हो वैसा ही वायुमण्डल उन्हे अपने घर और कुटुम्ब का बनाना चाहिए। हमारा निजी जीवन जैसा होगा वैसा ही घर का वातावरण होगा। दुर्व्यसनी, झूठे, पाखण्डी, दुष्ट लोगो के घर मे बच्चा अच्छे सस्कार कैसे पा सकेगा ? अतएव बच्चे को अच्छा बनाना हो तो अपने को अच्छा बनाना चाहिए।

यदि हमने मनुष्य के जीवन के लक्ष्य को और उसके मर्म को अच्छी तरह समझ लिया है तो हमे बच्चे की शिक्षा-दीक्षा और पालन-पोषण मे कठिनाई न होगी। मनुष्य का लक्ष्य एक है—पूर्ण स्वतत्रता। उसीकी तरफ हमे बच्चे की प्रगति करना है। उसके कपडे-लत्ते, खान-पान, खेल-कूद, पढना-लिखना, सोना-बैठना, सबमे इस बात का पूरी तरह ध्यान रखना होगा। घरमे सादगी, स्वच्छता, सुघडता, पवित्रता

की वृद्धि जिस तरह हो वही उपाय हमे करने चाहिएँ। माता का दूध बच्चे का सर्वोत्तम आहार है। मा का दूध बन्द होने के बाद उसे सादे और सात्विक किन्तु पौष्टिक आहार की आदत डालनी चाहिए। सफाई और सुघडता का पूरा ध्यान रहे। दात, नाक खूब साफ रहे। कपडे और शरीर की सफाई भी उतनी ही आवश्यक है। सुबह-शाम प्रार्थना करने की आदत डालनी चाहिए। अपनी चीजे सँभालकर और नियत स्थान पर रखना सिखाना चाहिए। ऐतिहासिक, राष्ट्रीय और दवी पुरुषो के चित्र ओर वैसे ही खिलौने उन्हे देने चाहिएँ। कहानियो और अच्छे-अच्छे भजनो तथा गीतो द्वारा उसका चरित्र बनाने का ध्यान रखना चाहिए। कोई गुप्त बात अथवा अश्लील कार्य बच्चे के सामने न करना चाहिए। बच्चो की शिक्षा के सम्बन्ध मे विशेषज्ञो द्वारा निर्मित साहित्य माता-पिता को अवश्य पढ लेना चाहिए।*

बालक प्रकृति का दिया हुआ खिलौना, घर का दीपक और समाज की आशा होता है। इसलिए उसके प्रति सदा प्रेम का ही बरताव करना चाहिए। मारने-पीटने से उल्टा बालक का बिगाड होता है। बालक के साथ धीरज रखने की जरूरत है। जब हम नतीजा जल्दी निकालना चाहते है, या बच्चा हठ पकड लेता है तभी हम धीरज खो बैठते है और उसे मारने-पीटने लगते है। हमे इस प्रकार अपनी कमी की सजा बच्चे को न देना चाहिए। यद्यपि सभी बच्चो मे एक ही आत्मा की ज्योति जगमगाती है और उसकी कोशिश बन्धन को तोडकर

---

*गुजराती में दक्षिणामूर्ति भावनगर का और हिन्दी में हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग आदि द्वारा प्रकाशित बाल साहित्य पढने योग्य है। बालकोपयोगी मासिक पत्र भी मगाना चाहिए। 'बालक' 'बानर' 'शिशु' 'आनद' (मराठी) 'शिक्षणपत्रिका' के नाम उल्लेखनीय है।

आजादी की ओर है तथापि हमे वच्चे की स्वाभाविक और आनुवशिक प्रवृत्ति समझने की चेप्टा करनी चाहिए। आत्मिक अश के साथ अनेक सस्कार मिलकर वच्चे का स्वभाव वनता है। उसकी चित्त-प्रवृत्ति जिधर हो उधर ही का मार्ग उसके लिए सुगम करदेना अभिभावको का काम है। इसका यह अर्थ कदापि नही है कि हम उसकी बुरी प्रवृत्तियों को वढावे। कोई वालक भावना-प्रधान होता है, कोई वुद्धि-प्रधान, किसी का मन पढने-लिखने मे अधिक लगता है, तो किसी का खेलकूद में। यह जरूरी नही है कि वच्चे को हम सदैव अपनी इच्छा के अनुसार चलावे। उसे उसकी स्वाभाविक सत् प्रवृत्ति की ओर वढने दे—सिर्फ हम उतनी ही रोक-थाम करते रहे जितनी उसको कुप्रवृतियो की ओर से हटाने के लिए आवश्यक है। वच्चे के लिए हर आवश्यक सामग्री के चुनाव मे हम पूरी सावधानी से काम ले। अनियम और स्वेच्छाचार से उसे वचाने का उद्योग करे। ऐसे खेलो की आदत डाले जिससे उसका शरीर गठीला हो और मन पर अच्छे सस्कार पडे। देशभक्ति, मानव-सेवा, नीति और सदाचार-सम्वन्धी श्लोक, भजन, वोध-वचन उसे कठस्थ कराना चाहिए। अपने कुल, समाज और देश या राष्ट्र की परम्परा तथा सस्कृति का ज्ञान उसे वचपन से ही प्रसगानुसार कराते रहना चाहिए। जीवन-चरित्रो का असर वालक के हृदय पर वहुत होता है। इसलिए देश-विदेशो के उत्तम और वीर-पुरुपो के चरित्र उसे अवश्य सुनाने चाहिएँ। भूत-प्रेत आदि की डरावनी-वाते कहकर वच्चे के हृदय को निर्वल न वनाना चाहिए। वच्चा यदि डर से कोई काम करता हो तो इसमे वच्चे की किसी प्रकार उन्नति नही है। दव्वू वालक घर, कुटुम्व, समाज सवके लिए शर्म है। अभिभावको की सदा यह इच्छा रहनी चाहिए कि हमारा वालक हमसे वढकर निकले। वीर और

सेवा-परायण बालको के चरित्र भी सुनाने चाहिएँ। जबतक लिंग-ज्ञान न होने लगे तबतक लडके-लडकियो को साथ रहने और खेलने मे हर्ज नही है। हठी बालक से घबराना न चाहिए। बोदे बालक की अपेक्षा हठी बालक अच्छा होता है। आज्ञाओ और नियमो का पालन बच्चो पर लादना नही चाहिए। किन्तु वह नियम-बद्ध और आज्ञापालक हो,इस ओर ध्यान देना चाहिए। हमारे घर का जीवन भी ऐसा होना चाहिए कि बच्चा खुद-ब-खुद नम्र और सभ्य बनता जाय। अपनी जरूरत के हर काम को खुद करने की आदत बच्चे को डालना चाहिए। अपनी अपेक्षा अपने सहवासियो का अधिक खयाल करने की शिक्षा बालक को सदैव देनी चाहिए।

बालक मानव-जीवन की ज्योति है, इसलिए, जीवन-सघर्ष मे पडने के पहले ही, उसे आवश्यक रूप से तैयार करना प्रत्येक माता-पिता और अभिभावक का परमधर्म है।

[६]

सार्थक जीवन की शर्तें

अब जीवन को सार्थक बनाने वाली शर्तों को जान लेना जरूरी है। पहले तो हम यह अच्छी तरह समझ ले कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य—सर्वोच्च आदर्श—क्या है। इसके बाद हम यह सोचे कि जीवन के विकास-पथ मे हम आज किस मजिल पर है। तभी हम अपना कार्यक्रम बनाने मे सफल हो सकेगे। अपने अन्तिम लक्ष्य के अनुरूप कोई निकटवर्ती जीवन-साध्य हमे निश्चित कर लेना चाहिए। वह ऐसा हो जो हमारी रुचि और प्रवृत्ति के अनुकूल हो। फिर हमे तत्सम्बन्धी अपनी योग्यता और अपूर्णता का विचार करना चाहिए।

और फिर अपूर्णता की पूर्ति का उद्योग करना चाहिए। साथ ही हमे अपने दैनिक जीवन के कार्यक्रम की उचित व्यवस्था करनी चाहिए।

कार्यक्रम भी दो प्रकार का हो सकता है—एक तो व्यक्तिगत दूसरा सामाजिक। व्यक्तिगत मे सिर्फ इतना ही विचार करना काफी होगा कि हमारे घर की स्थिति कितनी अनुकूल और कितनी प्रतिकूल है। सामाजिक कार्यक्रम की अवस्था मे सामाजिक स्थिति का भी हिसाब लगाना होगा। किसी कार्यक्रम का निश्चय करने के पहले हमे इस बात का विचार करना चाहिए कि इसका असर मुझ पर, सामनेवाले पर, मेरे कुटुम्ब, समाज और राष्ट्र तथा उनकी व्यवस्थाओ पर क्या होगा ? यदि कार्य ऐसा हो कि अकेले मुझे तो लाभ हो, पर शेष सबको हानि, तो उसे त्याज्य समझना चाहिए। छोटे और थोडे लाभ को बडे लाभ के आगे छोडने की प्रवृत्ति रखनी चाहिए। यदि अपना और कुटुम्ब का लाभ होता हो, किन्तु समाज और देश का अहित होता हो तो उसे छोड देना चाहिए। इसके विपरीत यदि समाज और देश का हित होता हो तो अपनी और कुटुम्ब की हानि को मजूर करके भी उसे करना चाहिए।

हमारी अपूर्णता दो प्रकार की हो सकती है—विचार या बुद्धि-सम्बन्धी और भौतिक सामग्री-सम्बन्धी। ज्ञान-सम्बन्धी हो तो अपने से अधिक योग्य और अनुभवी व्यक्ति को पथदर्शक बनाना चाहिए। भौतिक सामग्री मे धन, जन, और अन्य उपकरणो का समावेश होता है। धन प्रधानत धनियो से मिल सकता है। सहायक आरम्भ मे अपने कुटुम्ब, मित्र-मडल और सहयोगियो मे से मिल सकते हैं। उच्च चारित्र्य सब जगह हमारी सहायता करेगा। यदि चारित्र्य नही है तो धनियो की खुशामद करनी होगी। खुशामद हमे शुरू मे ही गिरा देगी। जिस अन्तिम लक्ष्य की साधना के लिए हमने कदम

बढाया है उससे हमारा मुँह मोड देगी। खुशामद के लिए मिथ्या स्तुति'अनिवार्य है। वह हमे सत्य से दूर ले जायगी और वल तथा प्रभाव तो सच्चाई मे ही है। अत धन प्राप्त करने के लिए हमे सव से पहले सच्चाई का आश्रय लेना होगा। जन प्राप्त करने के लिए प्रेम, समता, उदारता और क्षमाशीलता जरूरी है। 'मुझे किसीकी परवा नही' ऐसी मनोवृत्ति से जन नही जुट सकते। जन जुटाने मे हमे उलटा सौदा न कर लेना चाहिए। सिद्धान्त, आदर्श और मनोवृत्ति की एकता जितनी ही अधिक होगी उतनी ही सहयोगिता स्थायी और सुखद होगी।

धन-जन आदि सामग्री प्राप्त कर लेना तो फिर भी आसान है, परन्तु उनको सग्रह कर रखना और उनका उचित उपयोग करना वडा कठिन है। खुशामद, वाहरी प्रलोभन से धन-जन-सामग्री जुट तो सकती है, किन्तु सचित नही रह सकती। यदि केवल स्वार्थ हमारा उद्देश होगा तो भी वह घर आई सम्पद् चली जायगी। हममे जितनी ही निस्वार्थता और सचाई होगी उतनी ही यह सम्पद् टिक रहेगी। सचाई के मानी है उच्चार और आचार की एकता। उचित उपयोग के लिए वुद्धि-वल की आवश्यकता है। मानवी स्वभाव का ज्ञान, समय की परख, समझाने की शक्ति, तात्कालिक आवश्यकता की सूझ, सरस और मीठी वाणी इसके लिए वहुत जरूरी है। प्राप्त धन-जन और अपनी वुद्धि के उचित उपयोग से हम अपना कार्य भी साधते है और उसके द्वारा प्राप्त अनुभव से अपनी अपूर्णता भी कम करते है।

इसके अतिरिक्त शरीर,मन और वुद्धि-सम्वन्धी गुणो की आवश्यकता तो हई है। यदि हम अपने अन्तिम लक्ष्य और निकटवर्ती ध्येय को ठीक कर ले और सदा इस वात का ध्यान रखते रहे कि हम सीधे अपने लक्ष्य की ओर ही जा रहे है तो हमे अपने आप सूझता जायगा कि हमें किन-

किन शारीरिक, मानसिक और आत्मिक गुणो के प्राप्त करने की आवश्यकता है । अन्तिम लक्ष्य तो मनुष्यमात्र का निश्चित ही है । फर्ज कीजिए कि गोविन्द ने अपने लिए यह तय किया कि भारत के लिए पूर्ण राजनैतिक म्वतत्रता प्राप्त करना उसका नजदीकी लक्ष्य है । इस लक्ष्य को प्राप्त करके वह अन्तिम लक्ष्य पूर्ण आत्मिक स्वतत्रता को पहुँचना चाहता है, तो सवसे पहले वह इस वात का विचार करेगा कि उसके स्वराज्य-प्राप्ति के साधन ऐसे हो जो उसे आत्मिक स्वतत्रता से पराङमुख न कर दे । यदि आत्मिक स्वतत्रता उसके दृष्टि-पथ से अलग नही है तो वह फौरन् इस निर्णय पर पहुँच जायगा कि भारतीय राजनैतिक स्वतत्रता का पथ उसकी आत्मिक स्वतत्रता के पथ से भिन्न नही हो सकता । यदि इस वात मे कोई गलती नही है कि मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य पूर्ण आत्मिक स्वाधीनता है तो फिर प्रत्येक भारतीय का मनुष्य होने के नाते वही अन्तिम लक्ष्य है और इसलिए उसकी राजनैतिक स्वाधीनता का पथ आत्मिक स्वाधीनता के ही अनुकूल होगा । आत्मिक स्वाधीनता के लिए सव से जरूरी वात है मनुष्य मे सच्चाई का होना । सच्चाई के दो मानी है—एक तो सच्चाई का ज्ञान और दूसरे उसका दृढता से पालन करने की व्याकुलता । यह सच्चाई मनुष्य की गति को रुकने नही देती और ठीक लक्ष्य की ओर अचूक ले जाती है । और यही गुण राजनैतिक स्वतत्रता के लिए भी अनिवार्य है । क्योकि वल जो कुछ है वह सच्चाई मे ही है । कहते है—साच को आच क्या ? झूठ आखिर कै दिन चलता है ? झूठे आदमी से लोग डरते है, प्रेम नही करते । राजनैतिक और आत्मिक दोनो स्वतन्त्रताओ के लिए एक जरूरी वात यह है कि मनुष्य दूसरो के साथ अपने सवध को स्थिर करे । उसे दूसरो के सपर्क मे आना पडता है, उन्हे काम देना

पडता है और उनसे काम लेना पडता है । यह सम्बन्ध जितना ही अधिक मधुर, प्रेममय और सुखदायी हो उतना ही जीवन और जीवन की प्रगति सुखमय, निश्चित और शीघ्र होगी । दूसरो को दुःख न देते हुए काम करने की प्रवृत्ति रखना इसके लिए बहुत आवश्यक है । खुद कष्ट उठाले पर दूसरो को कष्ट न होने पावे—इस भावना का नाम है अहिंसा । यह अहिंसा हमारे पारस्परिक व्यवहार को शुद्ध स्थिर और परस्पर-सहायक बनाती है । यह सत्य का ही व्यावहारिक रूप है । अपनी दृष्टि से, अपनी अपेक्षा से जिसे सत्य कहते है, दूसरे की अपेक्षा से वह अहिंसा कहा जाता है । सत्य का प्रयोग जब दूसरे पर करते है तो वह अहिंसा के रूप मे बदल जाता है । इस तरह क्या आत्मिक स्वाधीनता और क्या राजनैतिक स्वतन्त्रता दोनो के लिए सत्य और अहिंसा ये दो गुण प्रत्येक मनुष्य मे और इसलिए प्रत्येक भारतीय मे अनिवार्य है । जितना ही इनका विकास हमारे अन्दर अधिक होगा उतने ही हम दोनो प्रकार की स्वाधीनता के निकट पहुचेगे । यह सोचकर गोविन्द निश्चय करता है कि मै सत्य और अहिसा का पालन करूँगा । ये तो हुए सर्व-प्रधान मानसिक और आत्मिक गुण । दोनो स्वाधीनताओ के लिए मनुष्य मे कठोर और मृदुल दोनो प्रकार के गुणो के उदय की आवश्यकता है ।

पिछले अध्यायो मे हम यह देख ही चुके है कि क्षमा, दया, तितिक्षा, उदारता, शान्ति आदि मृदुल गुण है और पुरुषार्थ, पराक्रम, शूरवीरता, तेजस्विता, निर्भयता, साहस आदि कठोर गुण है । समस्त कठोर गुणो का समावेश सत्य मे और मृदुल गुणो का अहिसा मे हो जाता है । एक ओर से सत्य का आग्रह रखने का और दूसरी ओर से अहिसा के पालन का आप प्रयत्न कीजिए तो मालूम होने लगेगा कि आपमे कठोर और मृदुल दोनो प्रकार के गुणो का विकास हो रहा है—एक

ओर आपका तेज अबाध रूप से बढ रहा है और दूसरी ओर सहवासियो मे आपके प्रति प्रेम और सहयोग की मात्रा बढती जा रही है। सत्य अपने स्वत्व की गैरटी है और अहिसा दूसरे को उसके स्वत्व रक्षा का आश्वासन देती है। सत्य जब व्यावहारिक रूप मे अहिसा बनने लगता हे तब कौशल या चातुरी की उत्पत्ति होती है। जब मनुष्य को यह सोचना पडता है कि एक ओर मुझे सत्य से डिगना नही है, दूसरी ओर दूसरे को कष्ट पहुचने नही देना है, किन्तु यह बात तो दूसरे से कहनी या करा लेनी है तो अब ऐसी दशा मे किस तरह काम किया जाय ? इसका जो उत्तर उसे मिलता हे या जो रीति उसे सूझती है उसीको व्यावहारिक भापा मे कौशल या चातुरी कहते है। सत्य और अहिसा की रगड से यह पैदा होती है। झूठ, बनावट, मक्कारी से भी चतुराई की जाती है, किन्तु असली हीरे और नकली हीरे मे जो भेद होता है वही इन दोनो प्रकार के कौशल मे होता है। एक जबानी, ऊपरी और दिखाने के लिए होता है, दूसरा हृदय की सस्कृति का फल होता है। सत्य और अहिसा के मथन से एक ओर मानसिक गुण बढता है वह है बुद्धि की तीक्ष्णता। सत्य और अहिसा के पथिक को कदम-कदम पर सोचना पडता है। पेचीदगियो मे से रास्ता निकालना पडता है। इससे उसकी प्रज्ञा तीक्ष्ण होती है।

अब रही शारीरिक योग्यता। सो यह उचित खान-पान, व्यायाम आदि से प्राप्त हो जाती है। परिमित आहार और नियमित व्यायाम नीरोगता की सबसे बढकर ओषधि है। दूध से बढकर पौष्टिक, नीद से बढकर दिमाग को ताकत पहुँचानेवाली वस्तु और दूर तक घूमने से बढकर मन्दाग्नि को दूर करने का उपाय ससार मे नही है। व्यायाम जहा तक हो स्वाभाविक और उत्पादक हो।

इसके वाद गोविन्द यह चुनता है कि स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए मै किस काम को अपनाऊँ ? अपनी रुचि और योग्यता को देखकर वह किसी एक काम को लेता है और उसमे अपनी सारी शक्ति लगा देता है। धन-जन लाता है, आवश्यक जानकारी प्राप्त करता है और उसे पूरा करता है। प्रत्येक कामकी योग्यता और आवश्यकता का वह विचार करता है। फर्ज कीजिए, उसके सामने दो काम आते है— एक विधवा-विवाह और दूसरा अस्पृश्यता-निवारण। वह अस्पृश्यता निवारण को चुनता है। क्योकि विधवा-विवाह के विना भारत की आजादी उतनी नही रुकती जितनी अछूतपन के कारण रुक रही है। इस तरह वह अपने जीवन की हर एक सास मे यह विचार करेगा कि कौन से काम करूँ जिससे स्वाधीनता जल्दी से जल्दी आवे। अनुकूल कामो को, गुणो को, शक्तियो को वह अपनावेगा, प्रतिकूल को छोडेगा, या अनुकूलता मे परिणत करने का उद्योग करेगा। जब जीवन के प्रत्येक छोटे काम मे भी वह इस दृष्टि से काम लेगा तो उसे दीख पडेगा कि सामान्य व्यवहार मे न-कुछ और क्षुद्र दिखनेवाले काम, विचार, व्यवहार भी कितने महत्वपूर्ण है और मनुष्य को कितना सम्हलने की, जागरूक रहने की और सारासार-विचार करने की आवश्यकता है। वह हर एक बात की जडतक पहुँचने की कोशिश करेगा— और किसी चीज को जड से ही बनाने या बिगाडने का उद्योग करेगा। ऊपरी इलाज से उसे सन्तोष न होगा। यह वृति उसे गम्भीर, धीर और निश्चयी बनावेगी, और अन्त को सफलता के राजमार्ग पर ला रक्खेगी।

जीवन को सार्थक बनाने की प्राय सब शर्ते यहा आ अई है अब हम यह देखे कि मनुष्य क्या होने चला था और क्या हो गया है ?

स्वतंत्र-जीवन

[२]

[१]

कहाँ फँस मरा ?

मनुष्य जन्मत स्वतत्र है। जिन सस्कारो को लेकर वह जन्मा है, जिन माता-पिताओ के लालन-पालन ने उसे परवरिश किया है, जिन मित्रो, कुटुम्बियो और गुरुजनो ने उसका जीवन वनाने मे उसे शिक्षा-दीक्षा, सुमति और सहयोग दिया है, उसके प्रति अपने वन्धनो और कर्त्तव्यो को छोडकर कोई कारण ऐसा नही है जिससे वह अपनी इच्छा और रुचि के प्रतिकूल किसी के अधीन वनकर रहे। ससार मे कोई शक्ति ऐसी नही है, जो उसे दवाकर, अपना दास वना कर रख सके। यदि मनुष्य आज हमे किसी व्यक्ति, समूह, प्रथा या नियम का गुलाम दिखाई दे रहा है, तो यह उसकी अपनी करतूतो का फल है, उसकी त्रुटियो, दुर्गुणो, कुसस्कारो का परिणाम है। अन्यथा

वयस्क—बालिग—होते ही वह अपनी रुचि, अपनी इच्छा, अपने आदर्श और उद्देश के अनुसार चलने के लिए पूर्ण स्वतत्र है। आरम्भ मे मनुष्य स्वतत्र ही पैदा हुआ था। किन्तु उसके स्वार्थ-भाव ने, उसके भेडियापन और लुटेरेपन ने, उसे स्वामी और दास, सम्पन्न और दीन, पीडक और पीडित, इन दो भागो मे बाट दिया है। पशु के मुकावले मे जो अनन्त शक्तिया मनुष्य को मिली हैं, उनका परिणाम तो यह होना चाहिए था कि वह हर अर्थ मे पशु से ऊँचा, वली, पवित्र और रक्षक साबित हो, किन्तु पूर्वोक्त दो बुराइयो ने कई बातो मे उसे पशु से भी गया-बीता बना दिया है। एक पशु दूसरे पशु को अपना गुलाम बनाने की कला मे इतना निपुण कहा है? इतने वैज्ञानिक और सभ्य तरीके से दूसरे पशु को हडप जाने, फाड खाने के लक्षण उनमे कहा मिलते हैं? परन्तु मनुष्य ने अपनी बुद्धि—जो पशु को प्राप्त नही है—और पुरुपार्थ का ऐसा दुरुपयोग किया है कि आज वह खुद ही अपने बनाये जाल मे फँसकर उसमे से निकने के लिए बुरी तरह छटपटा रहा है। उसने जो समाज और शासन का ढाचा खडा किया है—समय-समय पर जो कुछ परिवर्तन उसमे करता रहा—वह यद्यपि इसी उद्देश से था कि मनुप्य स्वतत्र और सुखी रहे, किन्तु कुवुद्धि ने उसे अच्छे नियमो, तथा सत्प्रणालियो का उपयोग, एक का स्वामित्व और प्रभुता बढाने मे तथा दूसरे को सेवक और रक बनाने मे करने के लिए विवश कर दिया। उसने स्वतत्रता के शरीर को पकड रक्खा, पर आत्मा की उपेक्षा की और उसे खो दिया। स्वतत्रता के क्षेत्र मे उसने ऊँची-से-ऊँची उडानें मारी, अनन्त शक्तियो की पूर्णता या पूर्ण विकास तक की कल्पना उसने कर डाली, फिर भी आज हम उसके अधिकाश भाग को पीडित, दलित, दीन, दुखी, पतित और पिछडा हुआ पाते हैं। पशु स्वतत्र है, गुलामी

उसे यदि सिखाई है तो मनुष्य ने ही। इसमे मनुष्य ही उसका गुरु और स्वामी है। मनुष्य चढने की धुन मे, चढने के भ्रम मे इतना गिरा कि केवल पशु-पक्षी ही नही खुद अपनी जाति और अपने भाइयो को भी गुलाम वना के छोडा। आज व्यक्ति, समूह और जातिया दूसरे को अपने छल, वल और भेडियापन के वदौलत अपना दास और दवा हुआ बनाकर उसपर गर्व करते है, मूछे मरोडते है, अपना गौरव - समझते हैं !! यह पतन मनुष्य ने खुद ही अपने हाथो कर लिया है— 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के नियम को इसका श्रेय हैं। स्वतत्रता के वास्तविक रूप को उसने भुला दिया। अपने असली रूप को वह भूल गया। अपने गन्तव्य स्थान का भान उसे न रहा। स्वतत्र उत्पन्न होकर वह चिरस्थायी सुख की शोध मे चला और मनुष्य-जाति को पीडक और पीडित दो भागो मे वाट दिया। उसकी बुद्धि और साधना ने उसको सुख, शान्ति और आनन्द के धाम तक पहुँचा दिया था, किन्तु अपना ही भला चाहने, अपनी ही रोटी सेक लेने, और दूसरे की परोसी थाली को खुद छीनकर खा जाने की प्रवृत्ति ने आज उसे अपने ही मुट्ठीभर भाइयो का दास वना रक्खा है! जो स्वतत्रता का प्रेमी था, साधक था, व्यक्तिरूप मे उसका उपभोग भी करता था, वही जालिम और मजलूम, दास और प्रभु के टुकडो मे बँट गया। मुट्ठीभर लोग स्वतत्रता के नामपर स्वतत्रता के नशे मे, अपने करोडो भाइयो का खून चूसते है, उनकी कमाई पर गुलछर्रे उडाते है, अपने को वडा, ऊँचा, श्रेष्ठ समझकर उन्हे हीन, गिरा और हेय समझने मे अपने वडप्पन, उच्चता और श्रेष्ठता की शान मानते हैं। इसको मूल कारण यही है कि उसने स्वतत्रता से तो प्रीति की, पर उसमे ऐसा चिपटा कि उसे भी अपने अधीन वना डाला! अपनी प्रियतमा के वदले उसे पदाकित दासी वना डाला!!

अर्थात् स्वतन्त्रता को तो उसने थोडा-वहुत समझा, पर उसकी रक्षा और उसके स्वरूप की सच्ची झाकी वहुजन-समाज को कराने के उद्देश से ही सही, कुबुद्धि, स्वार्थ-भाव, लुटेरेपन ने उसे अपने भाइयो का सेवक, सखा, मित्र वनाने के वदले स्वामी, पीडक और जवरदस्त वना दिया। स्वतन्त्रता का वह इच्छुक रहा और है, पर उसके पूर्ण और असली स्वरूप को भूल गया, दूसरे भाई के प्रति अपने व्यवहार-नियम और कर्तव्य को विसार वैठा, जिसका फल यह हुआ कि आज उसे अपने ही पर घृणा हो रही है। यदि मनुष्य आज अपनी ऊपरी तडक-भडक के अन्दर छिपे गन्दे ढाचे को देखे, अपने क्षुद्र मनोभावो को जाचे तो, उसे अपना वर्तमान जीवन भारतभूत होने लगे, अपने पर गर्व और गौरव होने के वदले शर्म और ग्लानि से उसका सिर नीचे होने लगे। अरे, यह अमरता का यात्री किस अन्धे कुए मे जा गिरा ? अपने भाइयो को, उद्धार करने का टिकट देकर, सारे जहाज को ही किस विकट रेते मे फँसा मारा ? मनुष्य, क्या तू अपने को पहचान रहा है ? सच्ची स्वतन्त्रता की याद तुझे है ? अपने चलने और जाने के मुकाम का खयाल तुझे है ? इस समय किस जगह है और कहा जा रहा है—इसकी सुध तुझे है ? क्या तू चेतेगा ? सुनेगा ? जागेगा ? सोचेगा—सम्हालेगा, अपने को और अपने भाइयो को अपने गुलामी के अन्धे गड्ढे से निकालेगा और उन्हे लेकर आगे दौडेगा ?

———

[२]

सामूहिक-स्वतंत्रता

मनुष्य स्वतत्र जन्मा तो है, उसे स्वतत्रता परमप्रिय तो है किन्तु उसने उसकी असलियत को भुला दिया है, खो दिया है । एक मनुष्य महज अपनी ही स्वतत्रता का खयाल करता है, दूसरो की का नही, यदि करता भी है तो अपनी का अधिक, दूसरो की का कम । एक तो उसने आधी स्वतत्रता को पूरी स्वतत्रता समझ रक्खा है, दूसरे सामूहिक रूप मे स्वतत्रता की पूरी ऊँचाई, पूरी दूरी तक नही पहुँच पाया है, या पाता है, तमाम किरणो सहित स्वतत्रता का पूरा दर्शन वह नही कर रहा है, या उसके पूरे वैभव और स्वरूप से दूर रहता है। सच्ची स्वतत्रता वह है, जो अपना तथा दूसरो का समान रूप से खयाल और लिहाज रक्खे । जो अधिकार, सुविधा या सुख मै अपने लिए चाहता हूँ वह मै औरो को क्यो न लेने दू ? यदि खुले या छिपे तौर पर, जान मे वा अनजान मे, मैं ऐसा नही करता हूँ, तो अपने को सच्ची स्वतत्रता का प्रेमी कैसे कह सकता हूँ ? मनुष्य अकेला नही है । उसके साथ उसका कुटम्ब, मित्रमण्डल और समाज जुडा हुआ है । सन्यासी हो जाने पर भी, जगल मे धूनी रमाने पर भी, वह समाज के परिणामो, प्रभावो और उपकारो से अपने को नही बचा सकता । जबतक एक भी मनुष्य उसके पास आता है, या आ सकता है, समाज की एक वस्तु, घटना या भावना उस तक पहुँचती रहती है तबतक वह उसके प्रभावो से अपने को सामान्यत नही बचा सकता । अतएव अपने हित, सुख और आनन्द का खयाल करने के साथ ही उसे दूसरे के हित, सुख और आनन्द का भी

खयाल करना ही पडता है और करना ही चाहिए। अतएव वह महज अपनी परतन्त्रता की बेडिया काटकर खामोश नही बैठ सकता । अपने पडौसियो का भी उसे खयाल रखना होगा। जो मनुष्य अपनी स्वाधीनता का सवाल जितना ही हल कर चुका होगा वह उतना ही अधिक दूसरो को स्वाधीनता दिलाने मे, या उसकी रक्षा करने मे सफल होगा और उस मनुष्य की अपेक्षा जो बेचारा अपने ही बन्धनो को काटने मे लगा हुआ है, उसपर इसकी अधिक जिम्मेवारी भी है । यह एक मोटी-सी वात है कि जिसके पास अपना काम शेप नही रह गया है वह दूसरो का काम करदे, जो कि उससे कमजोर, या पिछडे हुए है । इस प्रकार दूसरो की सहायता या सेवा करना मनुष्य की एक स्वाभाविक और उन्नत भावना है, जो कि मनुष्य की पूर्णता की वृद्धि के साथ ही उसपर उसकी अधिक जिम्मेवारी डालती जाती है । -

इस तरह एक तो हमने स्वतन्त्रता के अधकचरे रूप को देखा है और दूसरे खुद उससे लाभ उठाने की अधिक चेप्टा की है, दूसरो को उसका लाभ लेनेदेने या पहुँचाने की तरफ हमारी तवज्जो कम रही है । यही कारण है, जो मनुष्य जाति सच्ची और पूरी स्वतन्त्रता से अभी कोसो और वरसो दूर है । यदि मनुष्य अपने जीवन पर दृप्टि डाले तो उसे पता लगेगा कि आज वह स्वतन्त्रता का प्रेमी वनकर, समाज या देश मे नही रह रहा है, वल्कि धन, सत्ता, विद्वत्ता, वशोच्चता या परम्परागत बडप्पन के वदौलत इनके प्रभावो से लाभ उठाकर वह दूसरो को दवाने का कारण वन रहा है । मेरी पत्नी यह मानती चली आई है कि पति तो भला वुरा जेसा हो पति-देव है, उसका कहा मुझे मानना ही चाहिए, उसका आदर मुझे करना ही चाहिए । वेटा-वेटी और नौकर-चाकर भी यही सुनते, देखते और समझते चले आये है कि वडो का, वुजुर्गो का,

मालिको का हुक्म बजाना ही चाहिए, उनके सामने उनका सिर सदा झुका ही रहना चाहिए। प्रजा को यह सिखाया ही गया है कि वह राजा या शासको के रौब को माने ही—उसके अन्तर के विकास की पुकार के विपरीत भी वह शासन और सत्ता के सामने सिर झुकाये ही। पर मैं पूछता हूँ कि क्या यह हमारे लिए—सच्चे मनष्य के लिए—गौरव और गर्व की बात है ? इस तरह सीधे या उलटे तरीको से बडाई धन और अधिकार पाना अथवा उसके मिलने पर फूलना, इसमे कौन बडाई है ? क्या पुरुषार्थ है ? बडाई और पुरुषार्थ, गर्व और गौरव की बात तो तब हो, जब मनुष्य इन साधनो के दबाव से नही बल्कि अपने पूर्ण स्वतन्त्रता-प्रेम के कारण दूसरो के हृदय पर अधिकार करले और उसे बनाये रक्खे। दूसरे मनुष्य उसके शारीरिक बल, बुद्धि-वैभव, धन-लोभ, कुल-गौरव या सत्ता-भय से दबकर नही, बल्कि उसके स्वतन्त्रता-प्रेम से उसकी पुष्टि करनेवाले सद्गुणो से, प्रेरित, आकर्षित होकर उसे चाहे, अपने हृदय मे प्रेम और आदर की चीज बनावे, तो यह स्थिति अलबत्ता समझ मे आ सकती है। इसका गौरव और उच्चता तथा दोनो के सच्चे लाभ की कल्पना करके मन आनन्द मे नाचने लगता है। उस समय प्रेम और आदर, सुख और शान्ति, प्रगति और उन्नति बनावटी, क्षण-स्थायी और ऊपरी नही बल्कि सच्ची, हार्दिक और स्थायी होगी। पर स्वतन्त्रता के इस सच्चे लाभ को हम तभी पा सकते है, जब हम सच्चे अर्थ मे स्वतन्त्रता की आराधना करे। जितना जोर हम अपनी स्वतन्त्रता पर देते है, जितना ध्यान हम अपनी स्वतन्त्रता का करते और रखते है, उतना ही दूसरो की स्वतन्त्रता को निबाहने का भी रक्खे। अपनी स्वतन्त्रता की प्राप्ति या रक्षा के लिए यदि आज हम तन, मन, धन सब स्वाहा करने के लिए तैयार हो जाते है तो दूसरो को स्वतन्त्रता दिलाने और उसकी

रक्षा करने के लिए भी क्या हम अपने को इतना तैयार पाते है ? रक्षक होने के वजाय हम उलटे आज दूसरो की, अपने से कम भाग्यशाली या पिछडे और गिरे भाइयो की स्वतत्रता के भक्षक नही वन रहे है ? इस-लिए हमे महज दूसरो की, अपने पडौसी की, स्वतन्त्रता का ध्यान रखने से ही काम न चलेगा। खुद अपनी स्वतन्त्रता से अधिक महत्व दूसरो की, पडौसी की, स्वतन्त्रता को देना होगा। ऐसा प्रयत्न करने पर ही वह अपनी स्वतन्त्रता के वरावर उनकी स्वतन्त्रता का ध्यान रख सकेगा। क्योकि अधिकाश मनुष्य स्वार्थ की ओर अधिक और पहले झुकते है। इसलिए जरूरी है कि मनुष्य दूसरे का खयाल करने की आदत डाले। इतिहास में अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए लडने के सैकडो उदाहरण मिलते है। किन्तु ऐसे कितने सत्पुरुष हुए है जिन्होने महज दूसरो को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए वडी-वडी लडाइया लडी है ? मनुष्य-जाति अभीतक विकास-मार्ग मे जिस मजिल तक पहुँच चुकी है उसमे अभी इस विचार को पूरा महत्व नही मिला है इसलिए मेरी राय मे हमारी स्वतन्त्रता की भावना अधूरी वनी हुई है। इस अधूरी भावना ने ही साम्राज्यवाद को जन्म दिया है। यही स्वेच्छाचार और अत्याचार की जननी है। कपट-नीति को भी पोषण वहुत-कुछ इसीसे मिलता है। यदि मनुष्य अपने से अधिक दूसरो का खयाल रखने लगे तो ये महादोष समाज से अपने-आप मिटने लगे। फिर इस भावना की वृद्धि से मनुष्य न केवल स्वय उन्नति-पथ मे अग्रसर होता जायगा, वल्कि समाज को भी आगे वढाता जायगा। न केवल उनके वरन् सामूहिक हित के लिए भी इस भावना की पुष्टि आवश्यक है।

---

[३]

शासन की आदर्श कल्पना

स्वातत्रता का या समाज-व्यवस्था का सबसे बडा और प्रवल साधन शासन रहा है। अतएव पहले उसीका विचार करे। मनुष्य-जाति के विकास और इतिहास पर दृष्टि डाले तो यह पता चलता है कि आरम्भ मे मनुष्य का मानसिक और बौद्धिक विकास चाहे अधिक न था, पर वह स्वतत्र आज से निश्चित रूप मे अधिक था। ज्ञान साधन और सस्कृति मे चाहे वह पिछडा हुआ था, पर आज की तरह अपने भाइयो का ही, अपना ही इतना अधिक गुलाम न था! जव तक वह अकेला रहा, अपनी हर वात मे स्वतत्र था। जव उसने कुटुम्व बनाया और जाति या समाज की नीव पडी, तव वह अनेक व्यक्तियो के सम्पर्क और असर मे आने लगा। पर ज्ञान और सस्कृति की कमी से आपस मे झगडे और बुराइया पैदा होने लगी एव एक-दूसरे पर असर डालने लगी। तव उसने इनके निपटारे के लिए एक मुखिया वना लिया और उसे कुछ सत्ता दे दी। यही आगे चलकर राजा वन गया। इसने भरसक समाज के रक्षण और पोषण का प्रयत्न किया, पर बुद्धि के साथ साथ मनुष्य मे स्वार्थ-साधन और दुरुपयोग-वृत्ति भी खिलने लगी, जिस से राजा स्वेच्छाचारी, स्वर्थ-साधु और मदान्ध होने लगे। शास्त्र और सेना-वल का उपयोग जनता को ऊँचा उठाने के वदले उसे गुलाम बनाये रखने मे होने लगा। तव मनुष्य मे राजसंस्था के प्रति ग्लानि उत्पन्न हुई और उसने राजसत्ता के बजाय प्रजासत्ता कायम की। वशपरम्परागत राजा मानने की प्रथा को मिटाकर उसने अपना प्रतिनिधि-मण्डल बनाकर

उसके निर्वाचित मुखिया को वह सत्ता दी। पर मनुष्य के स्वार्थ-भाव ने इसे भी असफल कर डाला। एक राजा की जगह मनुष्य के भाग्य के ये अनेक विधाता वन गये। इन्होने अपना एक गुट्ट वना लिया और लगे जनता को उसके भले के नाम पर लूटने और धोखा देने। तव मनुष्य फिर चौका, अवकी उसने विचार किया कि समाज के इस ढाचे को ही वदल दो। ऐसा उपाय करो, जिससे मुट्ठी भर लोगो की ही नही वल्कि वहु-जन-समाज की वात सुनी जाय और उनका अधिकार समाज मे तथा राज-काज मे रहे। एक मुट्ठीभर लोगो के हाथो मे अपनी भाग्य-डोर छोडकर जिस तरह अव तक वह राजकाज मे वेफिक्र रहता था उसमे भी उसे दोष दिखाई दिया और अवकी वह खुद समाज रचना और राज-सचालन मे दिलचस्पी लेने लगा। पहले जहा वह स्वभावत स्वतत्र और स्वतत्र-वृत्ति था, वहा वह अव ज्ञान-पूर्वक स्वतत्र होने की धुन मे लगा है। पहले जहा वह 'व्यक्ति' रहकर स्वतत्र था, तहा अव 'समाज' वनाकर स्वतत्र रहना चाहता है। पहली वात वहुत आसान थी दूसरी वडी कठिन है। किन्तु उसका ज्ञान और सस्कृति उसको राह दिखा रहे है और साधन एव पौरुप उत्साहित कर रहे है। उसने देख लिया कि कुटुम्व मे जो सुख, सुविधा और स्वतत्रता है वह अव तक की इन भिन्न-भिन्न शासन-प्रणालियो ने समाज को नही दी। इसलिए क्यो न सारा समाज भी कौटुम्बिक तत्वो पर ही चलाया जाय? यदि कुटुम्व मे चार या दस आदमी एक साथ सहयोग से रह सकते है, तो फिर सारा समाज अपने को एक वडा कुटुम्व मानकर क्यो नही रह सकता? इस तरह 'वसुधैव कुटुम्वकम्' की जो कल्पना अव तक मनुष्य के दिमाग और जीवन मे एक व्यक्ति के लिए थी उसे समाज-गत वनाने का ज्ञान उदय हुआ और उसके प्रयोग होने लगे। आजकल रूस मे यह प्रयोग, कहते

है, सफलता के साथ हो रहा है। सारा रूस एक कुटुम्ब मान लिया गया है और उसका शासन-सूत्र जनता के हाथो मे है। अभी तो उन्हे कौटुम्बिक सिद्धान्त के विपरीत एक शासन-मण्डल—सरकार—और रक्षा के लिए शस्त्र तथा सेना रखनी पडी है, पर यह तो इसलिए और तभी तक जबतक कि सारे रूस मे सामाजिकता के सच्चे भाव और पूरे गुण लोगो मे न आजावे। इस प्रकार होते-होते समाज के शासन का आदर्श यह माना जाने लगा है कि समाज मे किसी शासक-मण्डल की कोई जरूरत न रहनी चाहिए, बल्कि बहुत-से-बहुत हो तो व्यवस्थापक-समिति रहे। वह जनता पर शासन न करे बल्कि उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति भर करती रहे, उसे आवश्यक साधन-सामग्री पहुँचाती रहे। अर्थात् समाज मे कोई एक या मुट्ठी भर व्यक्ति नही, बल्कि सारा समाज अपना राज या शासन आप रहे—सब घर-घर के राजा हो जायँ। अभी कल्पना मे तो यह शासनादर्श बहुत रम्य और सुखदायी मालूम होता है, और असम्भव तो प्रयत्न करने पर ससार मे हुई क्या ? किन्तु इस स्थिति को पाना, सो भी सामूहिक और सामाजिक रूप मे, है बरसो के लगातार सम्मिलित, सुसगठित और हार्दिक प्रयत्नो की बात।

× × × ×

समाज को सुव्यवस्थित और प्रगतिशील बनाने के लिए हिन्दुओ ने एक जुदा ही तरीका ढूढ निकाला था। उन्होने देखा कि सत्ता, धन, मान और सख्या ये चारो बल एक जगह रहेगे तो उस अवस्था मे मनुष्य की शक्ति और उसके दुरुपयोग का भय बहुत अधिक है। इसलिए इन चारो को अलग-अलग बाट देना चाहिए। फिर जैसी मनुष्य की खासियत हो वैसा ही काम उसे समाज मे दे देना चाहिए, जिससे किसी एक पर सारा बोझ न पडे और समाज का काम बड़े मजे मे चल

जाय । उसनें विचारशील, क्रियाशील, सग्रहशील और श्रम तथा सगठन-शील इन चार विभागो में समाज के लोगो को वाट दिया और उनके कार्यो के लिए आवश्यक तथा मनोवृत्तियो के अनुकूल क्रमश मान, सत्ता, धन और सख्या तथा आमोदप्रमोद ये पुरस्कार अथवा उसकी सेवा के प्रतिफल उसे देने की व्यवस्था कर दी । हम हिन्दू इन्हे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के नाम से पहचानते हैं और इनके भिन्न-भिन्न कर्त्तव्यो का ज्ञान भी आम तौर पर सबको है। बुद्धि और विचार-प्रधान होने के कारण ब्राह्मण सहज ही समाज का नेता बना, क्रिया और सत्ता, प्रधान होने से क्षत्रिय शासक और रक्षक बना, सग्रह और धन प्रधान होने के बदौलत वैश्य समाज का दाता और पोषक, तथा सख्या और सगठन-प्रधान होने के कारण शूद्र समाज का सहायक ओर सेवक बन गया । इससे समाज मे स्वार्थं साधने के चारो साधन और बल अलग-अलग बँट तो गये, एक जगह एकत्र होकर या रहकर समाज को अव्यवस्थित करने या अपने पद और पुरस्कार का दुरुपयोग करने की सभावना जाती तो रही, एक बडी विपत्ति का रास्ता तो रुक गया। यह प्रणाली बरसो तक हिन्दुस्तान मे चली भी—अब भी टुटे-फूटे रूप मे नाम-मात्र के लिए कायम है—किन्तु इससे एक बडा दोष भी पैदा हो गया। एक तो मनुष्य के उसी स्वार्थं और कुबुद्धि ने उसपर अपना असर जमाया और चारो अपने-अपने क्षेत्रो मे समय पाकर अपने-अपने पदो से समाज की सेवा करने के बदले खुद ही लाभ उठाने लगे और दूसरे को अपने से नीचा मानकर उन्हे पीछे रखने—दबाने लगे, दूसरे एक ही वर्ग मे एक गुण की इतनी प्रधानता होगई कि दूसरे, अपने तथा कुटुम्ब के पालन-पोषण एव स्वातत्र्यरक्षण के लिए आवश्यक गुण नष्ट होते चले गये, जिससे चारो दल परस्पर सहायक और पोषक होने के

वदले स्वय अलग तथा ऐकान्तिक और दूसरे के अन्यन्त अधीन या उसकी शक्ति तोडनेवाले वन गये। इससे न केवल समाज का ढाचा ही विगड गया, बल्कि उसे गहरी हानि भी उठानी पडी, एव आज अपने तमाम ज्ञान और सस्कृति के रहते हुए, भारत, सदियो से गुलामी की वेडिया पहने हुए है। ज्ञान और मान-प्रधान होने के कारण—नेता समझे जाने के कारण—मै इस सारी दु स्थिति का असली जिम्मेवार ब्राह्मण ही को मानता हूँ। अस्तु।

इस समय भी ऐसे विचारको और विचारवालो की कमी देश मे नही है, जो इस चतुर्वर्णव्यवस्था को फिर ठीक करके चलाना चाहते है। पर मेरी समझ मे अव पृथिवी और समाज इतना वडा हो गया है, यह व्यवस्था इतनी वदनाम हो चुकी है, दूसरी ऐसी नयी और लुभावनी योजनाये सामने है और तरह-तरह के प्रयोग हो रहे हैं, जिससे उसका पुनर्जीवित होना न तो सभव ही और न उपयोगी ही प्रतीत होता है। उसके लिए अव तो इतना ही कहा जा सकता है कि समाज-व्यवस्थापको की यह कल्पना अनोखी थी जरूर और उसने हजारो वर्षो तक हिन्दू-समाज को स्थिर भी रक्खा, पर मनुष्य की स्वार्थ और लूट-वृत्ति ने उसे सुस्थित न रहने दिया। सम्भव है, आगे चलकर किसी दूसरे, या यो कहे कि शुद्ध रूप मे फिर यह समाज मे प्रतिष्ठित हो, किन्तु अभी तो असली रूप से सब एक ही वर्ण हो रहे है।

क्या कारण है कि ससार के भिन्न-भिन्न देशो और जातियो मे अव तक समाजव्यवस्था के कई ढाचे खडे हो गये, शासन की कई प्रणालिया चल गई, पर उनसे समाज अपने गन्तव्य स्थान को अभीतक नही पहुँचा? इन तमाम प्रयोगो का इतिहास और फल एक ही उत्तर देता है—मनुष्य का स्वार्थ और लुटेरापन। आखिर मनुष्य ही तो प्रणालियो को बनाने,

दुरुपयोग करने और विगाडनेवाला है न ? इसलिए जवतक हम खुद उसे सुधारने, उसे ज्यादा अच्छा बनाने पर अधिक जोर न देगे तवतक केवल प्रणालियो के परिवर्त्तन, प्रयोग और उपयोग से विशेष लाभ न होगा। जो हो। इस समय तो मनुष्य-समाज की आखे दो महान् प्रयोगो की ओर चकित और उत्सुक दृष्टि से देख रही है—एक तो रूस की सोवियट प्रणाली और दूसरी भारत की अहिंसात्मक क्रान्ति और उसके दूरगामी परिणाम। मेरा यह विश्वास है कि भारत इस क्रान्ति के द्वारा ससार को वह चीज देगा, जो रूस का आगे का कदम होगा। पर इसके अधिक विचार के लिए यह स्थान मौजू नही है। यहा तो हमारे लिए इतना ही जान लेना काफी है कि मनुष्य किस तरह अपनी उन्नति के लिए समाज और शासन के भिन्न-भिन्न ढाचो को बनाता और बिगाडता गया और अव उसकी कल्पना किस आदर्श तक जा पहुची है।

[४]

हमारा आदर्श

यह एक निर्विवाद वात है कि मनुष्य ने अपने विकास-क्रम में कुटुम्ब और समाज बनाया है। फिर भी अभी वह अपनी पूरी परिणति पर नही पहुँचा है। व्यक्ति से कुटुम्ब और समाज का अग बनते ही उसके कर्त्तव्य उसी तक सीमित न रहे और न वह ऐकान्तिक रूप से स्वतत्र ही रहा। कुछ व्यक्ति चाहे स्वतन्त्रता की साधना करते-करते खुद उसकी चरम सीमातक पहुँच गये हो, केवल भौतिक ही नही बल्कि आध्यात्मिक अर्थ मे भी पूर्ण स्वतत्र हो गये हो, पर कुटम्ब और समाज को तो वह अभी भौतिक अर्थ मे भी पूर्ण और सच्ची स्वतन्त्रता

तक नही लेजा सका है। यदि हम स्वतन्त्रता के पूर्ण चित्र की कल्पना पर, जो पिछले अध्यायो मे दी गई है, विचार करेगे और उससे आज के जगत् की अवस्था का मुकावला करेंगे, तो यह वात स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जायगी। घर-घर के राजा हो जाना तो अभी वडी दूर की वात है, अभीतक तो दुनिया सव जगह एकतन्त्री शासन-प्रणाली से वहुमत-प्रणाली तक भी नही पहुँच पाई है। हम भारतवासी तो अभी अपने भाग्य-विधाता वनने के अधिकार की ही लडाई लड रहे है। हा, यह लडाई लडी इस ढग और तरीके से जा रही है कि जिसके परिणाम वडे दूरवर्ती होगे और जो भारत को ही नही, सारे मनुष्य-समाज को सच्ची स्वतन्त्रता का पथ प्रत्यक्ष दिखा देगे। अतएव इतनी वात हमे पहले ही से अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि हम व्यक्ति और समाज के रूप मे कहा पहुँचना चाहते है और उसकी पहली सीढी क्या होगी ? दूसरे शब्दो मे यह कहे कि हम मनुष्य और समाज के आदर्श तथा लक्ष्य का विचार कर रक्खे।*

'मनुष्य' का उच्चारण करते ही उसका सव से वडा गुण तेज—स्वाधीन-वृत्ति—सामने आता है। जिस मनुष्य मे भारी मनोवल है, जो किसी से डरता और दवता नही है, उसे हम आम तौर पर तेजस्वी पुरुष कहते है। यदि यह गुण मनुष्य मे से निकल जाय तो फिर उसके दूसरे गुण खोखले और वेकार से मालूम होते है। इसी तेज या स्वाधीन-वृत्ति ने उसे तमाम भौतिक और सासारिक वन्धनो को ही नही, वल्कि मानसिक और आत्मिक वन्धनो को भी तोडने और पूर्ण स्वाधीन वनने के लिए उत्सुक ओर समर्थ वनाया है। सच्चा और तेजस्वी पुरुष वह है, जो न किसी का गुलाम रहता है, न किसी को अपना गुलाम वनाता है,

---

*'मनुष्य' और 'समाज' तथा दोनों के सम्बन्ध मे हमारे कर्त्तव्य के विषय में परिशिष्ट (१) पढ़ना बहुत उपयोगी होगा।

न किसी से डरता और दवता है, न किसीको डराता और दवाता है। अतएव यह भलीभाति सिद्ध होता है कि इस तेज के पूर्ण विकास को ही मनुष्य का लक्ष्य कहना चाहिए। मनुष्यो से ही समाज वनता है, इसलिए मनुष्य के लक्ष्य से उसका लक्ष्य जुदा कैसे हो सकता है? फर्क सिर्फ इतना ही है कि मनुष्य व्यक्ति-रूप मे अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जितना स्वावलम्वी और स्वतत्र है उतना समाज-रूप मे नही। इसका असर दोनो की अवधि और सुविधा पर तो पड सकता है, किन्तु लक्ष्य पर नही। समाज-रूप मे वह अपने लक्ष्य पर तभी पहुँच सकता है, जव वह व्यक्ति-रूप मे आदर्श बनने का प्रयत्न करे। आदर्श व्यक्तियो से पूर्ण समाज अवश्य ही अपने लक्ष्य के, अपनी पूर्णता के निकट होगा। अतएव व्यक्ति-रूप मे मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपनेको आदर्श वनाने का प्रयत्न करे, समाज-रूप मे उसका यह धर्म है कि दूसरो को आदर्श वनने मे सहायता करे। यह विवेचन हमे इस नतीजे पर पहुँचाता है कि तेजोविकास की पूर्णता या स्वाधीन भावो का पूर्ण विकास व्यक्ति और समाज का समान-लक्ष्य है एव उस तक पहुँचने के लिए सतत उद्योग करना दोनो का परम-कर्त्तव्य है।

मनुष्य मे दो प्रकार के गुण पाये जाते है—एक कठोर और दूसरे कोमल। वीरता, निडरता, साहस, पौरुष, कष्ट-कहन, आत्म-वलिदान, आदि कठोर गुणो के नमूने है और नम्रता, क्षमा, सहानुभूति, करुणा, सेवा, उदारता, सहिष्णुता, सरसता आदि कोमल गुणो के। प्रथम पक्ति के गुण उसको अदम्य और दूसरी पक्ति के सेवा-परायण वनाते है। अदम्य बनकर वह अपनी स्वाधीनता की रक्षा एव वृद्धि करता है, सेवा-परायण वनकर वह दूसरो को स्वतत्र और सुखी वनाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कठोर गुणो की मात्रा पुरुषो मे अधिक और

मृदुल गुणो की मात्रा स्त्रियो मे अधिक पाई जाती है। यदि मनुष्य सच्चा स्वतन्त्रता-प्रेमी है, तो पहले गुणो की पुष्टि और वृद्धि उसका जितना कर्तव्य है उतना ही दूसरे गुणो की पुष्टि और वृद्धि भी परम कर्त्तव्य है। बल्कि, मनुष्य के स्वाभाविक-से बनजानेवाले स्वार्थ-भाव को ध्यान मे रखते हुए तो उसके लिए यही ज्यादा जरूरी है कि वह अपनी अपेक्षा दूसरो के प्रति अपने कर्तव्य-पालन पर विशेष ध्यान रक्खे। अनुभव बताता है कि सेवा-परायण बनने मे अपने आप प्रथम पक्ति के गुणो का विकास हुए बिना नही रहता। इसीलिए सेवा—समाज-सेवा, देश-सेवा, मानव-सेवा—की इतनी महिमा है। यदि मनुष्य एकाकी हो, अकेला ही रहे, तो उसे दूसरी जाति के गुणो की उतनी आवश्यकता भी नही है और न वे उसमे सहसा विकसित ही होगे, पर चूकि वह समाजशील है, समाजशील बना रहना चाहता है और सामाजिक रूप मे भी अपना विकास करना चाहता है, इसलिए दूसरी जाति के गुणो का वैयक्तिक और सामाजिक महत्व बहुत बढ जाता है और यही कारण है जो सेवा-परायण व्यक्तियो मे दूसरी जाति के गुणो का विकास अधिक पाया जाता है। सच्चा तेजस्वी पुरुष स्वाधीनता के भाव रखनेवाला सच्चा पुरुष, या यो कहे कि सच्चा मनुष्य, अपने प्रति कठोर और दूसरो के प्रति मृदुल या सरस होता है। यही नियम एक कुटुम्ब, समाज या राष्ट्र पर भी, दूसरे कुटुम्ब, समाज या राष्ट्र की अपेक्षा से, घटता है। यदि हम इस मर्म और सच्चाई को समझ ले और उसपर दृढता से आरूढ हो जायँ, तो सारे विश्व को एक सच्चे कुटुम्ब के रूप मे देखने की आशा हम अवश्य रख सकते है।

परिशिष्ट (१)

मनुष्य, समाज और हमारा कर्तव्य

हम मनुष्य हैं। क्या आपको इससे इन्कार है? नहीं। तो मैं पूछता हूँ कि आप अपनेको मनुष्य किस कारण से कहते हैं? क्या इसलिए कि आपका शरीर मनुष्यों जैसा है? या इसलिए कि आपके अन्दर मनुष्योचित गुण हैं? यदि केवल शरीर के कारण हम अपनेको मनुष्य मानें तो वैसा ही निरर्थक है जैसा कि ईश्वर-विहीन देवालय। यदि मानवी गुणों के कारण मनुष्य मानते हों, तो हमारे मन में यह सवाल उठना चाहिए कि क्या हम सचमुच मनुष्य हैं? क्या मानवी गुणों का विकास हमें अपने अन्दर दिखाई देता है?

'मनुष्य' का धात्वर्थ है मनन करनेवाला अर्थात् बुद्धियुक्त। मनुष्य और पशु के शारीरिक अवयवों में, 'आहार, निद्रा, भय, मैथुन' मे, समानता होते हुए भी 'ज्ञान हि तेषामधिको विशेषः' राज-संन्यासी भर्तृहरि ने कहा है और अन्त मे यह फैसला दिया है 'ज्ञानेन हीना' पशुभि' समाना।' इसका भी अर्थ यही है। अर्थात् जिसे बुद्धि या ज्ञान, दूसरे शब्दों में चिन्तन-मनन और सारासार विचार करने की शक्ति हो, वह मनुष्य है। परन्तु यदि मनुष्य के उद्गम को दृष्टि से विचार करते है तो उसका धागा ठेठ परमात्मा या परब्रह्म तक पहुँचता है। मनुष्य उस चैतन्य-सागर का एक विशिष्ट कण है। वह उससे बिछुडा हुआ है और अपनी मातृ-भूमि की ओर स्वभावत ही झपटा जा रहा है। सारे समुद्र के जल मे जो गुणधर्म होगे, वही उसके एक बूद मे होने चाहिएँ। दोनों मे भेद सिर्फ परिमाण का हो सकता है। तत्व दोनों मे एक ही होगा। मनुष्य में भी वही गुणधर्म, वही तत्व होने चाहिए—हाँ छोटे रूप मे अलबत्ता—जो परमात्मा में हो सकते हैं। यदि मनुष्य अपने अन्दर उन गुणों को उसी हद तक विकसित करले, जिस हद तक वे परमात्मा मे मिलते है, तो वह परमात्मा-रूप हो सकता है। इसी अवस्था मे वह 'सोऽहम्' या 'अहं ब्रह्मास्मि' 'एकमेवाद्वितीयम्' का अनुभव करता है। परमात्मा चैतन्य स्वरूप है, सत्‌चित् आनन्द—सच्चिदानन्द—रूप है, 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' है। यही गुण मनुष्य की प्रकृति में भी स्वभावज होने चाहिएँ। परमात्मा के इन भिन्न-भिन्न शब्दों मे वर्णित गुणों का यदि महत्तम-समापवर्तक निकालें तो वह मेरी समझ में एक—तेजस्—निकलता है। इस अर्थ की श्रुति भी तो है—तेजोऽसि तेजोमयिधेहि—जहाँ तेज है, वही सत्ता है, वही चैतन्य है, वही आनन्द है, वही असत्य का अभाव और सत्य की स्थिति सभवनीय है, वही कल्याण है वही सौन्दर्य है। जो तेजोहीन है, न उसकी सत्ता

रह सकती है, न उसकी चेतनता उपयोगी हो सकती है, वह धामन की तरह है, और आनन्द तो वहाँ से इस तरह भाग जाता है जिस तरह फूल के सूख जाने पर उसकी खुशबू। जो तेजोहीन है उसके पास सत्य का अभाव होता है। या यों कहे कि सत्य तेज-रूप है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' इसका अर्थ यही है कि जहाँ तेज नही, वहाँ आत्मा नही। इसी तरह जहाँ सत्य नही वहाँ तेजबल भी कैसे हो सकता है ? इसी तरह जो स्वय तेजस्वी नही है वह कल्याण-साधक, मगलमय कैसे हो सकता है ? तेज ही श्रेयस्साधिका शक्ति है। और तेजोहीन को सुन्दर भी कौन कहेगा और कौन मानेगा ? 'तेजस्' की यह व्याप्ति बिलकुल सरल, सीधी, और सुबोध है। इसीलिए मै कहता हूँ कि परमात्मा तेजोमय है, तेज-स्वरूप है, स्वय तेज है। और मनुष्य, उसका अश, भी तभी मनुष्य-नाम को सार्थक कर सकता है जब उसमे तेज हो, जब वह तेजस्वी हो। तेज ही मनुष्य की मनुष्यता है, तेज ही मनुष्यता का लक्षण है—परिभाषा है, तेज ही मनुष्यता की कसौटी है। तेजोहीन मनुष्य मनुष्य नही है।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि शब्दार्थ और गुण-विवेचन की दृष्टि से मनुष्य मे दो बाते प्रधान और अवश्य होनी चाहिए—सारासार-विचारशक्ति और तेज। यदि हम और सूक्ष्म विचार करेगे तो हमे तुरन्त मालूम हो जायगा कि विचार-शक्ति भी तेज का ही एक अग है। तेज शक्ति-रूप है, बल-रूप है, पुरुषार्थ-रूप है। तो अब मै आपसे पूछता हूँ कि क्या आप अपने अन्दर मनुष्यता का अस्तित्व स्वीकार करते है ? क्या आप यह कहने के लिए तैयार है कि हम मनुष्य है, हम तेजोमय है, हम तेजस्वी है, हम शक्तिमान् है, बलवान् है, पुरुपार्थी है ? यदि हम इसके जवाब मे 'हाँ' कह सके, तभी हमें मानना चाहिए कि हम अपनेको

मनुष्य कहलाने के और कहने के अधिकारी है, वरना हमे अपनेको मनुष्यता-हीन मनुष्य—प्राण-हीन शरीर—कहना चाहिए।

मनुष्य और मनुष्यता का इतना विवेचन करने के बाद अब हम 'समाज' शब्द का उच्चारण करने के अधिकारी हो सकते हैं। 'समाज' का अर्थ है समूह। पर जाति, दल, मनुष्य-समाज और समष्टि इतने अर्थों मे आजकल समाज शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ 'समाज' से मेरा अभिप्राय मनुष्य-समाज या मनुष्य-जाति से है। जब कि हम मनुष्य-समाज की ही उन्नति मे अग्रसर नही हो रहे हैं, तब हमारे लिए समष्टि की अर्थात् प्राणिमात्र की उन्नति और सुख की बाते करना धृष्टता-मात्र होगी। मनुष्य के अन्दर अपना गोल बाँधकर रहने अर्थात् समाजशील होने की इच्छा बहुत हद तक स्वभाविक हो गई है। हिन्दूधर्म के अनुसार, अब, मनुष्य प्राय उसी अवस्था मे ऐकान्तिक जीवन व्यतीत करने का अधिकारी माना जाता है जब कि वह अपने सामाजिक कर्त्तव्यों के भार से मुक्त हो चुका हो। जब से मनुष्य समाजशील हुआ तब से उसका कर्तव्य दुहरा हो गया। जब तक वह अकेला था तब तक उसके विचारों और कार्यों की सीमा अपने अकेले तक ही परिमित थी। उसके कुटुम्बी और समाजी होते ही उसके दो कर्त्तव्य हो गये—एक स्वय अपने प्रति और दूसरा औरों के प्रति अर्थात् कुटुम्ब या समाज के प्रति। इसी कर्त्तव्यशास्त्र की परिणति हिन्दुओं की वर्णाश्रम-व्यवस्था थी। वर्ण-व्यवस्था प्रधानत सामाजिक कर्त्तव्यों से सबध रखती है, आश्रम-व्यवस्था प्रधानत व्यक्तिगत कर्तव्यों से। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो व्यक्तिगत और समाज-गत कर्त्तव्य इतने परस्पर-आश्रित और परस्पर-सबद्ध है कि एक के पालन में दूसरे का पालन अपने आप हो जाता है। व्यक्तिगत कर्त्तव्य मनुष्य के लिए निकटवर्ती है। जो निकटवर्ती कर्त्तव्य का पालन

यथावत् नहीं कर पाता उससे दूरवर्ती अर्थात् सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन की क्या आशा की जा सकती है। जिसे अपने शरीर की,मन की, आत्मा की उन्नति की फिक्र नहो, वह बेचारा समाज की उन्नति क्या करेगा ? इसी तरह जो अकेले अपने ही सुख-आनन्द मे मग्न है—समाज का कुछ खयाल नही करता, उसका सुख-आनन्द भी वृथा है। अनुभव तो यह कहता है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति होती जाती है, त्यों-त्यों उसकी दृष्टि विशाल, सूक्ष्म और कोमल होती जाती है, त्यों त्यों उसे अपने कुटुम्ब, जाति, समाज और देश का सुख दु ख अपना ही सुख–दु ख मालूम होने लगता है। यदि कोई व्यक्ति यह दावा करे कि मै उन्नत हूँ, पर यदि उसकी दृष्टि हमे उस तक ही मर्यादित दिखाई दे, कुटुम्ब, जाति, समाज या देश के दु ख-सुखों से वह विरक्त, उदासीन या लापरवाह नजर आवे, तो समझना चाहिए कि या तो उसे अपनी उन्नति हो जाने का भ्रम हो गया है या वह उन्नत होने का स्वाँग बनाता है। अनुभव डके की चोट कहता है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य की मनुष्यता का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों उसे क्रमश अपनी जाति, समाज, देश, और मनुष्य-जाति और अन्त को भूत-मात्र अपने ही स्वरूप देख पडते है, वह उनके दु ख-सुख को उसी तरह अनुभव करता है जिस तरह स्वय अपने सुख-दु ख को। यह दु ख की अनुभूति ही समाज-सेवा की प्रेरक है। जबतक मनुष्य का हृदय अपने कुटुम्ब, जाति, समाज, या देश के दु खों को देखकर दुखित नही होता, तब तक उसे उनकी सेवा करने की सच्ची इच्छा नही हो सकती। यों तो दुनिया मे ऐसे लोगों का टोटा नही है जो मान, बडाई, प्रशसा, धन आदि के लोभ से समाज-सेवा करने में प्रवृत्त होते है, पर उनकी यह सेवा सच्ची सेवा नही होती। इससे न उस समाज को ही सच्चा लाभ पहुँचता है, न स्वय उसे ही सेवा का श्रेय मिल पाता है। सच्ची सेवा का

मूल है दया-भाव। दया मनुष्यत्व के विकास की अन्तिम सीढी है। दया-भाव निर्बलता का चिह्न नहीं, असीम स्वार्थ-त्याग और घोर कष्ट सहन की तैयारी का प्रतीक है।

इस विवेचन से हम इन नतीजों पर पहुँचे कि समाज-सेवा मनुष्य का कर्त्तव्य है—सामाजिक ही नही व्यक्तिगत भी। समाज-सेवा की प्रेरणा के लिए समाज के दु खों की अनुभूति होनी चाहिए। जिस मनुष्य के अन्दर मनुष्यता नाम की कोई वस्तु किसी भी अश मे विद्यमान है, वह समाज के दु खों को जरूर अनुभव करेगा। मनुष्य का दया-भाव जितना ही जाग्रत होगा, उतना ही अधिक वह समाज की सेवा कर पावेगा।

अब हम इस बात का विचार करे कि समाज-सेवा का अर्थ क्या है? समाज-सेवा का अभिप्राय यह है कि उन लोगों की सेवा जिन्हे सेवा की अर्थात् सहायता की जरूरत हो, उन बातों की सेवा—उन बातों मे सहायता करना जिनकी कमी समाज मे हो, जिनके अभाव से समाज दुख पाता हो, अपनी उन्नति करने मे असमर्थ रहता हो। जिस समाज के किसी व्यक्ति को किसी बात का दु ख नही है, जिस समाज मे किसी बात की कमी या रुकावट नही है, उसकी सेवा कोई क्या करेगा? उसकी सेवा के कुछ मानी ही नही हो सकते। हाँ, यह दूसरी बात है कि आज भारतवर्ष ही नही, तमाम दुनिया मे कोई भी ऐसा समाज नही है, जो सब तरह से भरा-पूरा हो और इसलिए प्रत्येक समाज की सेवा करने की बुरी तरह आवश्यकता इन दिनों है और शायद सृष्टि के अन्ततक कुछ-न-कुछ बनी ही रहेगी। सो समाज-सेवा का असली अर्थ यही हो सकता है कि दलित, पीडित, पतित, पंगु, दुखी, निराधार, रोगी, दुर्व्यसनी, दुराचारी, और ऐसे ही लोगों की सेवा। सेवा का अर्थ है जिस बात की कमी उन्हे है, उसकी पूर्ति कर देना। दूसरे शब्दों मे कहे तो समाज में ऐसे कामों की नीव

डालना जिन्हें हम आम तौर पर कुरीति-निवारण, पतित-पावन, परोपकार, और दयाधर्म के काम कहा करते हैं।

इस देश की प्राकृतिक सुन्दरता, इसकी शस्यश्यामला भूमि, प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाले षड्ऋतुओं के आवागमन और वैभव, उसकी ऐतिहासिक उज्वलता, उसकी धार्मिक महत्ता, उसकी विद्याव्यसन-पराकाष्ठा, उसकी शूर-वीरता आदि की विरुदावली गाने का यह स्थान नहीं है। पर उसके इन्हीं गुणों ने उसे विविध भाषा, वेश-भूषा, और विशेषता रखनेवाली जातियों की एक नुमाइश बना रक्खा है। इसका उसे अभिमान होना चाहिए। उसका जनसमाज विविध है। उनसे वह उसी तरह शोभित होता है जिस तरह बहु-रंगी फूलों से कोई उद्यान सुसज्जित और सुगंधित होता है। पर आज यह फुलवारी मुरझाई हुई दिखाई देती है। जीवन–पानी–न मिलने से जिस तरह फूलों के पत्ते और पखुंरिया नीचा सिर करके झुक जाती है उसी तरह जीवन के अभाव में इसका जन-समाज नतशिर होकर अपना अभागा मुख दुनिया को न दिखाने की चेष्टा करता हुआ मालूम होता है। अपने अ-कर्म या कुकर्म से प्राप्त परिस्थिति-रूपी राक्षसी के भीमकाय जबड़े में वह असहाय-सा छटपटाता हुआ देख पड़ता है। तेज की जगह सेज, ज्ञान की जगह मौखिक भान, धर्म की जगह भ्रम, समाजसेवा की जगह व्यक्ति-सेवा—गुलामी—की उपासना में वह लीन दिखाई देता है। वह रोगी है, उसका शरीर, मन आत्मा तीनों रोग-ग्रस्त हैं—विजातीय वस्तुओं से भ्रष्ट होते जा रहे हैं। वह पंगु है, उसके पांव लड़खड़ाते हैं—खड़ा होने की कोशिश करते हुए पैर थर-थर कांपने लगते हैं। वह पतित है—पिछड़ा हुआ है—उसमें दुर्व्यसन, दुराचार, अन्याय कुरीतियों का अड्डा है। अतएव वह सेव्य है। उसके विद्वान् और शिक्षित लोग अपनी विद्या और शिक्षा का उपयोग व्यक्ति-सेवा, धनोपार्जन या अपने क्षुद्र

सुख-साधनों की वृद्धि के लिए करते है। उसके धनवान् सट्टेबाज़ी, कल-कारखाने-बाजी और सूदखोरी के द्वारा जान में और अनजान में गरीबों का धन अपने घर में लाते हैं—गरीबों को अधिक गरीब बनाते है, खुद अधिकाधिक धनी बनते जाते है और फिर उस धन का उपयोग 'दान' की अपेक्षा 'भोग' मे अधिक होता है। 'दान' भी वे धर्म की वृद्धि के लिए, धर्म की स्थिति के लिए नही, बल्कि धर्म के 'उन्माद' के लिए, धर्मभाव से, पर धर्म-ज्ञान के अभाव पूर्वक देते है। उसके सत्ताधीश समाज-सेवक बनने और कहलाने में अपनी मानहानि समझते हैं—'विष्णु-पद' के भ्रम को दूर करना उन्हे अप्रिय, शायद असह्य भी मालूम होता है। 'प्रभु' शब्द से संबोधित होने मे वे अपना गौरव मानते है—इसमें परमेश्वर का अपमान उन्हे नही दिखाई देता। उसके किसान, उसके अन्नदाता, उसके तात, उसके भोले-भाले पापभीरु सपूत, बैलों को गोद गोद कर—उनके साथ ज्यादती कर करके, खुद सारे समाज के बैल बन रहे है। क्षत्रिय तो समाज में रहे ही नही। उनकी मूँछ कट गई। उनकी तलवारे देवी के सामने गरीब मेमने पर उठकर अपना जन्म सार्थक करती हैं। उनको बन्दूके निर्दोष हिरन, कौवे, बटेर, बहुत हुआ तो सूअर या कही-कही चीते के शिकार के लिए उठती है। आर्त्त के 'रक्षण' की जगह 'भक्षण' उन्हे सुविधाजनक धर्म मालूम होता है। मारने मे छिपी हुई 'मरने की तैयारी' को फिजूल समझकर, शत्रु पर प्रहार करने के आपत्तिमय मार्ग को छोड, उन्होने बकरों और हिरनों के मारने का राजमार्ग स्वीकार कर लिया है। नवीन युग का नव सन्देश—'मारना नही, पर मरना' उनके कानों तक कभी पहुँचा ही नही है। यदि पहुँचा भी हो तो उनकी स्थूल बुद्धि उसके सूक्ष्म पर शुद्ध शौर्य्य को ग्रहण करने की तैयारी नही दिखाती। उनका एक भाग डाके डालने और

लूटने को ही क्षात्र-धर्म समझ रहा है, जो कि वास्तव में कापुरुष का धर्म है। उसका मुन्शी-मण्डल—राजकाजी लोग—सरस्वती के प्रतीक, कलम का उपयोग सरस्वती की सेवा में नही, बल्कि भोले-भाले, अनजान लोगों की गर्दन पर छुरी फेरने मे करके 'कलम-कसाई' के पद पर प्रतिष्ठित होने की प्रसिद्धि पा चुका है। उसका ब्राह्मण वर्ग 'शिक्षक' की जगह 'भिक्षुक' और 'उपदेशक' की जगह 'सेवक'—गुलाम—बनकर 'ब्रह्म जानातीति ब्राह्मण' 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन' पर शोकमय और करुणामय भाष्य लिख रहा है। 'ज्ञान' की जगह 'खान-पान' और 'त्याग को जगह 'भोग' ने ले ली है। पूर्वजों की पूजी के वे दिवालिये वशज हो गये है। बुजुर्गों की विरासत के वे कपूत वारिस अपनेको साबित कर रहे है। जन-तिरस्कार और निरादर के भागी होकर अपने मिथ्याभिमान-रूपी पाप का फल भुगतते हुए दिखाई देते हैं। 'नेता' के पद से भ्रष्ट हो-कर वे 'धर्म-विक्रेता' की पक्ति मे जा बैठे है। इस प्रकार आज इस देश का जनसमाज 'विवेक-भ्रष्ट' अतएव 'शत–मुख पतित' दिखाई देता है। यह है इस समाज का नग्न—भयानक चित्र। जब उसका यह कृष्ण-चित्र आँखों के सामने खडा होता है, तो क्षण भर के लिए मेरी आशावादिता और आस्तिकता डगमगाने लगती है। पर, मै देखता हूँ कि इस भयानकता के अन्दर भी आशा की, प्रकाश की सुहावनी किरणे है।

यह चित्र मैने इसलिए नही खींचा कि इससे यहाँ की दबी हुई, पर आशा की उत्सुक आत्मा, भयभीत अतएव निराश हो जाय। यह तो इसलिए खीचा है कि हमारी मोह-माया, हमारी भ्रम-निद्रा दूर हो जाय, हम अपनी सच्ची स्थिति को उसके नग्न, अकृत्रिम और भीषण रूप मे देख ले, जिससे उसके प्रति हमारे हृदय मे ग्लानि उत्पन्न हो। यह ग्लानि हमे दु स्थिति को दूर करने की, दूसरे शब्दों में समाज-सेवा करने की, प्रेरणा करेगी।

अब हमारे सामने यह सवाल रह जाता है कि अपने इस सेव्य समाज की सेवा किस प्रकार करें ? सेवा का प्रकार जानने के पहले हमें यह देखना होगा कि इस देश को किस सेवा की जरूरत है। दूसरे शब्दों मे हमारे समाज मे इस समय क्या दोष है, या खामियाँ है, जिनके दूर होने से समाज उन्नति की ओर अग्रसर हो सकता है। मै जहाँ तक इस पर विचार करता हूँ मुझे सबसे बड़ी कमी यहाँ 'तेज' की दिखाई देती है, जो कि मेरी समझ मे सब त्रुटियों की जननी है। पुरुषार्थ तेज का दूसरा नाम या खास अ ग है। जबसे हम पुरुषार्थ से नाता तोडने लगे, तव से हमारी विपत्तियाँ और हमारे दु.ख वढने लगे। किसी समाज के सर्वा ग-सुदर और सर्वा ग-पुर्ण होने के लिए इतनी बातों की परम आवश्यकता है—(१) भिन्न-भिन्न जातियों में ऐक्यभाव हो, अर्थात् सब एक-दूसरे के हित मे सहयोग और अहित मे असहयोग करते हों, (२) कोई कुरीति न हो, (३) अनाथ और निर्धन तथा पतित और पिछड़े हुए लोग न हों,(४) अन्याय, दुर्व्यसन और दुराचार न हो। यदि किसी समाज में इनमें से एक भी त्रुटि हो तो मानना होगा कि वह उन्नत नही है और सेवा के योग्य है।

यदि हम अपने समाज की कमियों पर विचार करे तो कम से कम इतनी बातों पर हमारा ध्यान गये विना न रहेगा—(१) हिन्दू-मुसलमानों का मनमुटाव। (२) अछूत मानी जानेवाली जातियों—भगी, चमार, आदि के साथ दुर्व्यवहार, छूने, आम कूओं से पानी भरने, मन्दिरों मे उन्हे आने देने आदि मनुष्योचित सामान्य अधि-कारों से उन्हे वचित रखना (३) किसान, मजदूर के नाम से परिचित तथा कुछ अन्य जातियों और वर्गों का पिछड़ा हुआ रहना। (४) अनाथ और निर्धन विधवाओं और विद्यार्थियों की शिक्षा-रक्षा, और भरण-पोषण का प्रबन्ध न होना। (५) नशेवाजी खास कर शराबखोरी और

वेश्या-वृत्ति का प्रचलित रहना (६) असत्य-भाषण, दम्भ, दगा बाजी, बेईमानी, व्यभिचार, अन्याय, आदि दुर्गुणों और दुराचारों का अस्तित्व (७) बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विधुर-विवाह, विवाह में गालियाँ गाना, दहेज देना तथा कन्या-विक्रय आदि अनेक अशास्त्रीय रूढ़ियों का प्रचलित रहना, मृत्यु के बाद जाति-भोजन-सम्बन्धी अनेक कुरीतियाँ। (८) सट्टे-बाजी, रिश्वतखोरी, नजराना, बेगार, साहूकारों की किसानों पर ज्यादती, कल-कारखानेवालों की मजदूरों पर ज्यादती, सत्ताधारियों की प्रजा पर ज्यादती, चोरी, डकैती, खून आदि जुर्मों का होना। (९) मन्दिरों, मसजिदों उपासकों की दुर्व्यवस्था और अव्यवस्था, पुजारियों, महन्तों, आचार्यों की अनीति, अविनय, भिक्षुकों, भिखारियों और पुरोहितों का अज्ञान और ज्यादती। (१०) रोग, मृत्यु, आपत्ति के समय कष्ट-निवारण का समुचित प्रबन्ध समाज की ओर से न होना। (११) सत्-शिक्षा, सत्साहित्य, सद्धर्म और स्वच्छता, आरोग्य के प्रचार की व्यवस्था न होना आदि आदि। अब आप देखेंगे कि समाज-सेवा की कितनी आवश्यकता है और समाज-सेवा का कितना भारी क्षेत्र हमारे सामने पड़ा है।

अब हमें इस बात पर विचार करना है कि यह सेवा किस प्रकार की जाय? इसमें सबसे पहली बात तो यह है कि जहाँ सेवा करने की इच्छा होती है, वहाँ रास्ता अपने आप सूझ जाता है। फिर भी सेवा के दो ही तरीके मुझे दिखाई देते हैं—व्यक्तिगत और समाजगत। जहाँ समाज-सेवा की व्याकुलता रखनेवाले व्यक्ति इने-गिने हों, वहाँ व्यक्तिगत रूप से सेवा आरंभ करनी चाहिए। जहाँ सेवा की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति अधिक हों, वहाँ संगठित-रूप से अर्थात् सामाजिक-रूप से सेवा का प्रयत्न करना चाहिए। यह समझना भूल है कि एक आदमी के किये कुछ नहीं

हो सकता। एक ही व्यक्ति यदि चाहे तो सारे ससार को हिला सकता है। सामाजिक प्रयत्न के लिए सगठन की आवश्यकता है। सगठन के दो तरीके है—एक तो ऊपर से नीचे और दूसरा नीचे से ऊपर। पर सगठन ऊपर से नीचे करने का मार्ग, मेरी समझ मे, सदोष है। इमारत पहले बुनियाद से शुरू होती है, शिखर से नही। शुद्ध और पुख्ता सगठन नीचे से—जनता से शुरू होना चाहिए। यहाँ यह सवाल उठता है कि सगठन ग्रामानुसार करे या जात्यानुसार। एक विचार यह है कि ग्रामानुसार सगठन करने से उसकी सीमा बहुत सकीर्ण हो जायगी, जाति के अनुसार सगठन करना अधिक उपयोगी, अधिक आसान, अधिक स्वाभाविक और अधिक स्थायी होगा। भाषा, सस्कार, रस्म-रिवाज, नाता-रिश्ता, आदि की एकता के कारण जातीय सगठन अधिक ठोस और स्थायी होगा। और सच पूछिए तो प्राय हर जाति में अपना कुछ न कुछ सगठन पहले से मौजूद हुई है। हमे सिर्फ उसमे अधिक प्राण डाल देना है और जहाँ कही आवश्यक हो कुछ सुधार कर देना होगा। बहुत छोटी उपजातियाँ मिलकर अपनी एक बहुत बडी जाति बना ले। भिन्न भिन्न उपजातियों के सगठन के बाद सारी जाति का एक महान् सगठन होना चाहिए। ब्राह्मणों, वैश्यों, क्षत्रियों, मुसलमानों आदि की उपजातियों का सगठन होने के बाद सारी ब्राह्मण, या क्षत्रिय, या वैश्य, या मुसलमान जाति का एक-एक सगठन होना चाहिए। फिर हिन्दुओं के चारों वर्णों का एक सम्मिलित सगठन और मुसलमानों, ईसाइयों, पारसियों आदि का एक-एक सगठन हो और सबके ऊपर सब धर्मों और समस्त जातियों का एक वृहत् भारतव्यापी सगठन हो। हर छोटा सगठन अपनी सीमा में यथासम्भव स्वतन्त्र हो और हर क्रमश· बडे सगठन मे उन्ही बातों और कामों का समावेश हो जो उसके अन्दर आनेवाली जातियों के लिए सर्व-सामान्य हों। एसे

अपने-अपने हितों में परस्पर-सहयोगी, संगठन से भिन्न-भिन्न जातियों मे सकुचितता या स्वार्थ भाव की वृद्धि न होगी और दो जातियों मे परस्पर वैमनस्य और कटुता के लिए तो जगह ही नही रह सकती। पहले उपजातियों का संगठन उन-उन जातियों के सेवेच्छु जन शुरू करे, या मौजूदा संगठन को ठीक-ठीक करे। कुछ उपजातियों का संगठन होने के बाद प्रधान जाति के संगठन का प्रयत्न करने के योग्य स्थिति उत्पन्न हो सकती है। किन्तु छोटे संगठन को महान् संगठन में मिला देने की भावना रहनी चाहिए, अपनी सीमा मे संकीर्ण बना देन की नही।

संगठन के लिए न भारी ढकोसले की जरूरत है न उछल-कूद की। हर उपजाति मे अपनी जाति-पचायत होती है। जहां न हो वहां वह कायम की जाय। जहां हो वहां उसके काम की जांच करके जो त्रुटियाँ हों वे सुधार दी जायँ। पचायत का मुखिया चुना हुआ हो और चुनाव की योग्यता धन, सत्ता या वैभव नही, बल्कि सेवा और सेवा-क्षमता हो। कागजी कार्रवाई कम-से-कम हो, विश्वास, प्रेम और सहयोग के भाव उसकी कार्रवाई मे प्रधान हों। पचायत की बहुमति के फैसलों या नियमों को सब लोग माने और उन पर अमल करें। जो विना उचित कारण के न माने, न अमल करे, वे समाज के अपराधी समझे जायँ और पंचायत उन्हे यथायोग्य दण्ड दे। पर, हर बात मे औचित्य का ख़याल रहे, न्याय-अन्याय का पूर्ण विचार रहे। अर्थ-दण्ड से लेकर जाति-च्युत करने तक का अधिकार पचायतों का आजतक सुरक्षित है पर इसका दुरुपयोग न हो। ऊपर जिन सेवा-क्षेत्रों या त्रुटियों का जिक्र किया गया है उनमे एक भी ऐसी नही है जिसका समुचित प्रबध ये पचायते न कर सकती हों। बात यह है कि हमारे पास सेवा के सब साधन मौजूद है, धन है, शक्ति है, सस्था भी है, नहीं है वे आँखें जिन्हे यह दिखाई दे सके। यदि हमारे

मन मे समाज-सेवा की जरा भी इच्छा पैदा हो जाय तो हमारी इन्ही आँखों से हमे ये सब बाते करतलामलकवत् दिखाई देने लगे।

पचायतों का सब से पहला काम यह हो कि वे अपनी जाति की कमियों, अभावों की जांच करे और उनमे जिस बात से जिस दल या वर्ग को सब से ज्यादा तकलीफ होती हो उसके प्रवन्ध को सबसे पहले अपने हाथ मे ले और उस काम के लिए जाति मे जो सबसे योग्य पुरुष हो उसके जिम्मे वह काम कर दे। वह अपनी पचायत की, और जरूरत हो तो दूसरी जाति की पचायत या किसी सुयोग्य सज्जन की, सलाह से उसका प्रवन्ध करे। पचायत का एक कोष हो। हर कुटुम्ब को शक्ति देखकर उसके लिए चदा लिया जाय। पूर्वोक्त बातों मे मुझे किसानों की दरिद्रता, अछूतों की दयाजनक स्थिति, अनाथ और निर्धन विधवाओं और विद्यार्थियों की दुरवस्था, और हिन्दू-मुसलमानों का मनमुटाव ये सवाल सबसे ज्यादा जरूरी मालूम होते है। पचायतों को चाहिए कि पहले इन पर ध्यान दे।

किसानों की दरिद्रता मिटाने के लिए तीन काम प्रधानत करने होगे। साहूकारों और राज-कर्मचारियों की लूट से उनकी रक्षा और चरखे के द्वारा अर्थात् मौसम पर कपास इकट्ठा कर उसे खुद ही लोढ, धुनक और सूत कातकर तथा अपने गांव के जुलाहे से कपडा बुनवाकर पहनने को प्रेरणा के द्वारा उनको फुरसत के समय मे कुछ आमदनी का साधन देना, और बेगार-नजराना की प्रथा मिटवाने का उद्योग करना। अछूतोद्धार के लिए छुआ-छूत का परहेज न रखना, कुवों से उन्हे पानी भरने देना, मन्दिरों मे जाने देना और मदरसों मे पढने देना, इतनी सहूलियत करनी होगी। अनाथ और निर्धन विधवाओं और विद्यार्थियों मे धार्मिक और औद्योगिक तथा चरखा आदि की शिक्षा का प्रवन्ध करना होगा और जब तक वे

स्वावलम्बी न हों तब तक उनके भरण-पोषण की व्यवस्था पचायती फड से करना। हिन्दू-मुसल्मान आदि भिन्न-भिन्न धर्म की अनुयायी जातियों मे मेल-मिलाप रखने के लिए एक दूसरे के धर्म और धार्मिक रिवाजों के प्रति आदर और सहिष्णुता रखने के भावों का प्रचार करना और अपने अपने धर्म के शुद्ध, उच्च, उदार सिद्धान्तों के प्रेमपूर्वक ज्ञान-दान का प्रवध करना—ये काम करने होंगे।

अब सवाल यह रह जाता है कि इस काम को कौन उठावे ? इसका सीधा जवाब है वह जिसके मन मे सेवा करने की प्रेरणा होती हो। समाज के दु खों को देखकर जिसका हृदय छट-पटाता हो वही सेवा करने के योग्य है, वही सेवा करने का अधिकारी है, वह किसी के रोके नही रुक सकता। जो औरों के दु ख से दु खी होता है, उनके दु ख दूर करने के लिए त्याग करने और कष्ट उठाने के लिए तैयार रहता है, समझना चाहिए कि उसकी आत्मा उन्नत है, और मानना चाहिए कि वही समाज-सेवा का अधिकारी है। ये लोग समाज के लिए आदरणीय, पूज्य, समाज के सहयोग के सर्वथा योग्य होते हैं। ऐसे सज्जन सब समाज मे थोड़े-बहुत हुआ करते है। हमारे समाज मे भी ऐसे महानुभाव है, उन्हीको मैने ऊपर "इस भयानकता के अन्दर भी आशा की, प्रकाश की सुहावनी किरणें" कहा है। उन्हीके प्रयत्न पर हमारे समाज का कल्याण अवलम्बित है। वे यदि इने-गिने हों तो चिन्ता नही। एक दीपक अनेक घरों के दीपकों को प्रज्वलित कर सकता है—नही, सारे भूमण्डल को प्रकाश और दीप्तिमय कर सकता है। एक कर्वे ने भारत मे अपूर्व स्त्री-सस्थाये खोल दी; एक बुकरटी वाशिंगटन ने सारी निग्रो जाति का सिर ससार में ऊँचा कर दिया, एक मालवीयजी ने एक बडा हिन्दू-विश्वविद्यालय खडा कर दिया, एक दयानन्द ने हिन्दू-जाति में अद्भुत चेतना उत्पन्न कर दी, एक

तिलक ने भारतीय राजनीति में खलबली मचा दी, एक गाँधी ने संसार को नवीन प्रकाश से आलोकित कर दिया, एक विवेकानन्द और एक रामतीर्थ ने योरप और अमेरिका में हिन्दू-धर्म की कीर्ति अमर कर दी। यह न सोचिए कि जब तक आपके पास बड़ी भारी संस्था न हो, दफ्तर न हो, अमला न हो, फण्ड न हो, तब तक आप कुछ सेवा नहीं कर सकते। कार्यारम्भ के लिए इन ढकोसलों की बिल्कुल जरूरत नहीं होती। यदि आप में से एक भी व्यक्ति अपनी शक्ति और प्रेरणा के अनुसार छोटा भी कार्य चुपचाप करने लगेगा तो उसकी ठोस और बुनियादी सेवा के आगे बीसों व्याख्यानों, लेखों और प्रस्तावों का कुछ भी मूल्य नहीं है। एक सिस्टर निवेदिता ने कलकत्ते की गन्दी गलियों को सुबह किसी को न मालूम होने देते हुए साफ़ करके जो सेवा की है, सत्याग्रहाश्रम के कितने ही लोग पाख़ाना साफ करके अछूतों की और समाज की जो सेवा कर रहे है, गांधीजी रोज़ चरखा कात कर निरन्न किसानों की, और लगोट लगा कर वस्त्र-हीन भिखारियों की जो सेवा कर रहे है, उसके अभाव में रामकृष्ण मिशन, सत्याग्रहाश्रम और राष्ट्रीय महासभा की सेवाये फीकी और निस्सार मालूम होती हैं। सवाल इच्छा का है, कसक का है। जहाँ दर्द है, वहाँ दवा है। सिपाही न तो अभावों की शिकायत करता है, न बाधाओं की परवाह। वह तो तीर की तरह सीधा लक्ष्य की ओर दौड़ता चला जाता है—न इधर देखता है, न उधर। वह 'हवाई जहाज' मे सैर नही करता, वह तो जहाँ जरूरत हो, वहाँ 'दफ्न हो जाने' के लिए एक पाँव पर तैयार रहता है। अतएव यदि हम मानते है कि हम मनुष्य है, तो जिस रूप में हम से हो सके उसी रूप मे समाज के दु खों को दूर करने के उपाय मे अर्थात् समाज-सेवा मे अपना तन, या मन, या धन, या तीनों, लगाये बिना हमारे दिल को चैन नही पड़ने की। और जिन

लोगों का पुण्य इतना प्रबल न हो, जिनकी मनुष्यता जाग्रत न हुई है, उनमे समाज-सेवा के लिए आवश्यक तेज-पुरुषार्थ का अभाव हो, वे परमात्मा से प्रार्थना करे कि हे प्रभो, हमारी बुद्धि को विमल और हृदय को कोमल कर, जिससे हम अपनी जाति, समाज, देश और अन्त को सारी मनुष्य-जाति के दुःख को अनुभव कर सकें और—

तेजस्विनावधीतमस्तु

जिससे हम उनको दूर करने में समर्थ हों।

स्वतंत्रता के मूल

[३]

[१]
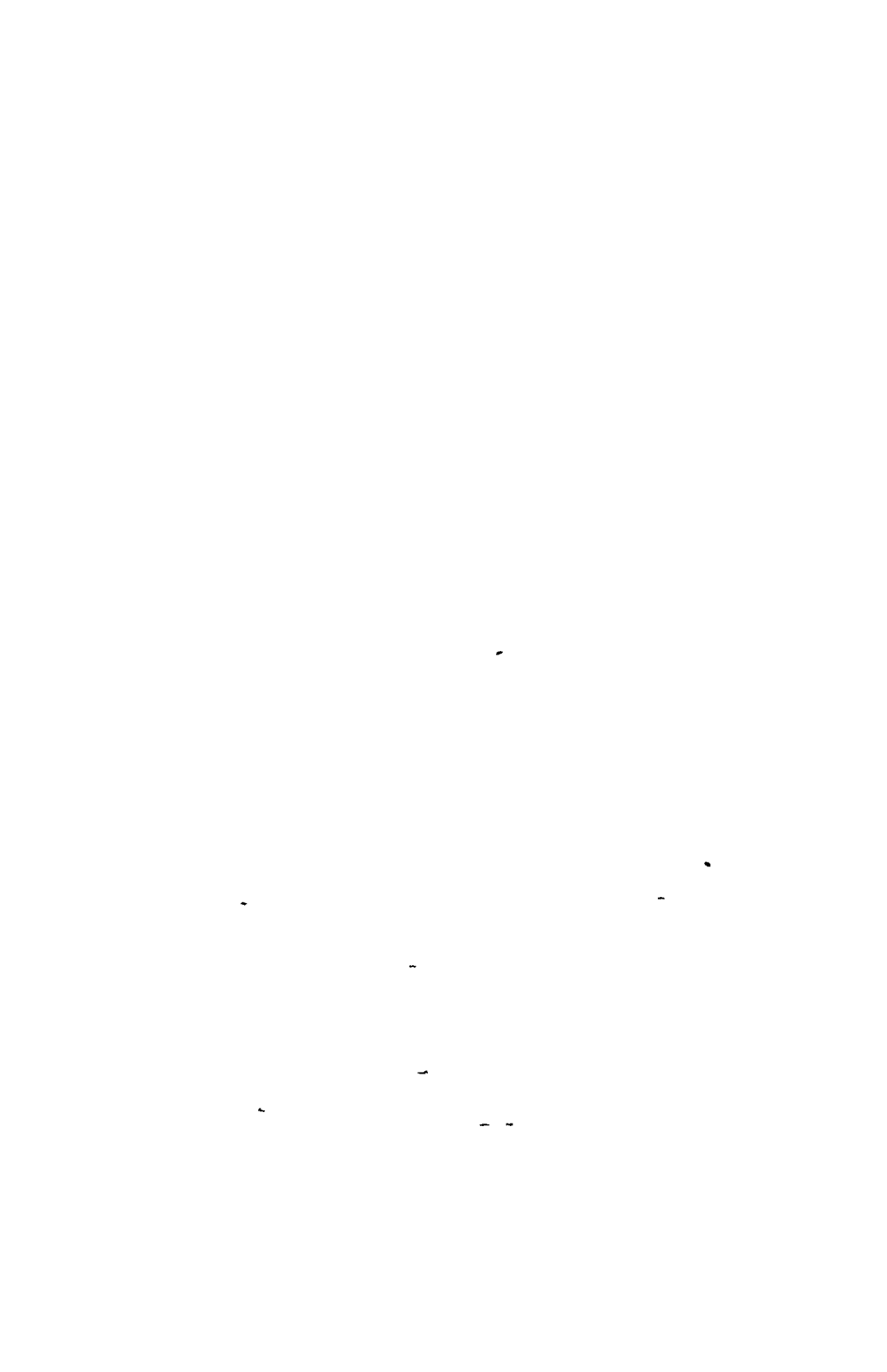
स्वतन्त्रता के साधन

स्वतन्त्रता का पूरा अर्थ और सच्चा रूप मालूम हो जाने के बाद यह प्रश्न सहज ही उठता है कि समाज मे मनुष्य इस तरह स्वतन्त्र किन नियमो के अधीन होकर रह सकता है ? यदि मुझे अपनी स्वतन्त्रता उतनी ही प्यारी है जितनी कि औरो की तो दूसरो के प्रति मेरा व्यवहार कैसा होना चाहिए ? सच्चाई का या झुठाई का ? सहिष्णुता का या असहिष्णुता का ? न्याय का या अन्याय का ? सयम का या असयम का ? उत्तर स्पष्ट है—सहिष्णुता का, न्याय का और सयम का। इसी तरह यह भी निर्विवाद है कि मनुष्य-मनुष्य मे जबतक प्रेम और सहयोग का अटल नियम न माना जागया तबतक उभयपक्षी स्वतन्त्रता नही रह सकती। सच्चाई हमारे पारस्परिक व्यवहार को सरल और

निर्मल बनाती है। न्याय हमे एक-दूसरे के अधिकारो की सीमा को न लाघने के लिए विवश करता है। सहिष्णुता, ऐसे किसी उल्लघन की अवस्था मे, परस्पर विद्वेप, कलह और सघर्ष को रोकती है। सयम दूसरे को उसकी स्वतन्त्रता, अधिकार और सुख-सामग्री की सुरक्षितता की गैरण्टी देता है। प्रेम परस्पर के सम्वन्ध को सरस, उत्साह और जीवनप्रद बनाता है; कठिनाइयो, कष्टो, रोगो और विपत्तियो के समय मनुष्य को सेवा-परायण और सहयोगी बनाता है एव सहयोग उन्नति और सुख के मार्ग मे आगे बढने का मार्ग सुगम बनाता है। इन सब भावो और गुणो के लिए हमारे पास दो सुन्दर और व्यापक शब्द है सत्य और अहिसा।

पहले यहा अहिसा का विचार कर ले। जो भाव या नियम हमे अपने स्वार्थ के लिए दूसरो की हानि चाहने, उसे दु ख पहुँचने के लिए प्रेरित करता है उसे हिसा कहते है। उसके विपरीत जो भाव या नियम हमे परस्पर प्रेम और सहयोग सिखाता है वह है अहिंसा। सयम जिस प्रकार अहिसा का कर्त्तरि (Subjective) और निष्क्रिय (Passive) रूप है और प्रेम सक्रिय तथा कर्मणि (Objective), उसी प्रकार सयम स्वतन्त्रता का निष्क्रिय और कर्त्तरि साधन एव प्रेम सक्रिय तथा कर्मणि साधन है। इस तरह स्वतन्त्रता और अहिसा साध्य और साधन बन जाते है। हम यह चाहते है कि समाज का बच्चा-बच्चा आजाद रहे, कोई एक दूसरे को न दबावे, न सतावे। तो क्या व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो प्रकार की स्वतन्त्रता के लिए अहिसा का पालन परम अनिवार्य है ? अहिंसा यद्यपि स्वतन्त्रता की आन्तरिक साधन-सी प्रतीत होती है तथापि वह बाह्य-साधन भी है। यह सुनकर पाठक जरा चौकेगे तो, पर यदि वे भारत के अहिंसात्मक स्वातन्त्र्य-सग्राम पर दृष्टि डालेगे, ससार के नि शस्त्री-करण-आन्दोलन का स्मरण करेगे और विख्यात-विख्यात साम्यवादियो के

आदर्श समाज मे हिसा के पूर्ण त्याग पर विचार करेगे तो उन्हे इसमें कोई बात आश्चर्यजनक और असम्भव न प्रतीत होगी। यह ठीक है कि आजतक मनुष्य जाति के इतिहास मे ऐसा उदाहरण नही मिलता है कि किसी एक बडी जाति, समूह या देश ने अहिसात्मक रहकर अपनी स्वतन्त्रता पाली हो या रखली हो, इसके विपरीत शस्त्र-बल या हिंसा-प्रयोग के द्वारा स्वतन्त्रता लेने, छीनने और रखने के उदाहरणो से इतिहास का प्रत्येक पन्ना भरा मिलेगा, पर यह इस बात के लिए काफी नही है कि इस समय या आगे भी अहिसात्मक साधन बेकार साबित होगे, या न मिलेगे, न रहेगे, न सफल होगे। भारत मे इस समय जो सफलता अहिसा को मिल रही है उसे देखते हुए तो किसीको इस विषय मे निराश या हतोत्साह होने का कारण नही है। फिर भी अभी यह प्रयोगावस्था मे है। जबतक इसमे पूर्ण सफलता न मिल जायगी, इसी साधन के द्वारा भारत मे सफल क्रान्ति न हो जायगी, तबतक बाह्य साधन रूप मे इसका मूल्य लोग पूरा-पूरा न आक सकेगे। पर बुद्धि जहातक जाती है अहिसा किसी प्रकार हिसा से कम नही प्रतीत होती। बल, प्रभाव, मत-परिवर्तन, हृदयाकर्षण, सगठन, एकता, सामाजिक-जीवन, युद्ध-साधन, शान्ति, आदि सब बातो मे अहिसा हिंसा से कही आगे और बढकर ही है। हमारा जीवन सच पूछिए तो अहिसा के बल पर जितना चल रहा है उसका शताश भी हिसा के बल पर नही। क्या कुटुम्ब, क्या जाति और क्या समाज मे अहिसा का ही—प्रेम और सहयोग का ही—बोलबाला देखा जाता है। यदि आप गौर से देखे तो इसीकी भित्ति पर मनुष्य का व्यक्तिगत, कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन रचा हुआ दीख पडेगा। मनुष्य ही क्यो, पशु-पक्षी समाज मे भी आपको हिंसा की अर्थात् द्वेष, कलह और मारकाट की अपेक्षा प्रेम और सहयोग ही अधिक मिलेगा।

जो शस्त्र-वल या सेना-वल समाज को अपने पास रखना पडता है वह भी वहु-जन-समाज के कारण नही, कुछ उपद्रवियो, दुर्जनो और दुष्टो के कारण ही। किसी भी समाज को आप ले लीजिए उसमे आपको सज्जनो की अपेक्षा दुर्जन वहुत ही कम मिलेगे। जिस प्रकार एक मनुष्य मे हिंसा की अपेक्षा अहिंसा के भाव वहुत अधिक पाये जायँगे, उसी प्रकार एक समाज मे भी आप सज्जन, शान्ति-प्रिय मनुष्यो की अपेक्षा कलह-प्रिय और दुष्ट मनुष्यो की सख्या कम ही देखेगे। अर्थात् जो सेना या शस्त्र आज रक्खा जाता है वह दरअसल तो थोडे से वुरे अपवादस्वरूप लोगो के लिए है। यह दूसरी वात है कि मनुष्य या शासक सज्जनो को दुःख देने मे भी उसका दुरुपयोग करते रहते हैं। पर ससार ऐसे कुकृत्यो की निन्दा और प्रतिकार ही करता रहा है। फिर यह शस्त्र-वल या सेना-सगठन रोज ही काम मे नही आता। इससे भी इसका महत्व और आवश्यकता स्पष्ट ही कम हो जाती है। मुख्य उद्देश्य इसका है मनुष्य और समाज का दुष्टो से रक्षण। पर यदि हम समाज की रचना ही ऐसे पाये पर करे कि जिस मे दुष्ट लोग या दुष्टता का मुकावला प्रतिहिंसा एव दमन के द्वारा करने के वजाय, सयम, कष्ट सहन और क्षमाशीलता के द्वारा करने की प्रथा डाली जाय—महज उनके शरीर को वधन मे न डालकर, उन्हे त्रास न देकर, उनके हृदय पर अधिकार करने की, उसे वदल देने की प्रणाली डाली जाय तो समाज का रक्षण ही न हो, वल्कि सम्मिलित और सुसगठित प्रगति भी तेजी से हो। रक्षक की आवश्यकता वही हो सकती है, जहा कोई भक्षक हो, पर यदि हम भक्षक को ही मिटाने की तरकीव निकाल ले, 'मूले कुठार' करे तो फिर रक्षण और उसके लिए सहारक शस्त्रास्त्र, सेना की एव उनके अस्तित्व तथा प्रयोग के लिए अगणित धन-जन की आवश्यकता ही क्यो रहे? हा, यह अलवत्ता निर्विवाद है

कि जवतक समाज से भक्षक मिट नही जायगा, तवतक फौज, पुलिस और हथियार भी समाज से पूर्णत जा नही सकते। किन्तु एक ओर यदि हम शिक्षा, सस्कार और नैतिक आवश्यकताओ की पूर्ति द्वारा दुष्टो, दुर्जनो पापियो और भक्षको की जड काटने का, दूसरी ओर समाज को सहनशील, न्याय-प्रिय, और सहयोगवृत्तिवाला वनाने का सच्चे दिल से यत्न करे तो यह असम्भव नही है—हा, कष्ट और समय-साध्य जरूर है।

इतने विवेचन से यह भलिभाति स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो प्रकार की स्वतन्त्रता के लिए अहिंसा, अपने तमाम फलितार्थो और तात्पर्यो सहित, आन्तरिक साधन तो निर्विवाद रूप से है, पर प्रयत्न करने से वाह्य साधन भी हो सकता है। वल्कि सच्ची और पूर्ण स्वतन्त्रता की जो कल्पना हम पहले अध्यायो मे कर चुके है, उसकी ष्टि से तो जव तक हम दोनो कामो के लिए अहिंसा को पूरा स्थान न ंगे तवतक मनुष्य पूर्ण अर्थ मे न स्वतन्त्र हो सकता है न रह सकता है।

[२]

सत्य का व्यापक स्वरूप

पिछले प्रकण मे यह वताया गया है कि सच्चाई के द्वारा मनुष्य का पारस्परिक जीवन सरल और निर्मल वनता है। यह निश्चित वात है कि समाज मे जव तक असत्य, पाखण्ड, अन्याय, द्वेष, डाह, चोरी, अनीति आदि दुर्गुण रहेगे और इनको कब्जे मे रखनेवाले या इनकी जड काटनेवाले सत्य और अहिंसा सागोपाग इतने प्रवल न होगे कि इन दुर्गुणो को दवाये या निर्वल वनाये रक्खे तव तक उसमे पुलिस, अदालत, फौज, शस्त्रास्त्र, जेल और इन सव की माता सरकार किसी-न-किसी

रूप मे अवश्य रखनी पडेगी। और जब तक समाज मे सरकार की अर्थात् शासक-मण्डल की जरूरत रहेगी तव तक उसे आदर्श या स्वतत्र समाज नही कह सकते। जव तक समाज अपने आन्तरिक सगठन के वल पर नही, वल्कि किसी वाह्य नियत्रण—सरकार—के सहारे कायम रहता है तव तक वह कमजोर और अधीन ही कहा जायगा। भले ही सरकार या शासक-मण्डल जनता के बनाये हो, समाज ने ही अपनी सत्ता का एक अश देकर उनको काम किया हो, किन्तु उनका अस्तित्व और उसकी आवश्यकता ही समाज की दुर्बलता, कमी और सगठन-हीनता का परिचय देती है, अतएव यदि हम चाहते हो कि ऐसा समय जल्दी आ जाय जब समाज मे कोई सरकार या शासक-मण्डल जैसी चीज न रहे, सब घर-घर के राजा हो जायँ, तो यह स्पष्ट है कि पहले समाज को सत्य और अहिसा की दीक्षा देनी होगी—इन्हे समाज के वुनियादी पत्थर समझना होगा। प्रत्येक मनुष्य को सत्याग्रही बनना होगा। सत्य मनुष्य को सरल, न्यायी, निर्मल, दूसरो को हानि न पहुँचानेवाला, सदाचारी बनायेगा, और अहिसा दूसरो की ओर से होनेवाले दोषो, बुराइयो और ज्यादतियो को रोकने और सहन करने का वल देगी। मनुष्य जब तक एक ओर खुद कोई बुराई न करेगा, और दूसरी ओर बुराई करनेवाले से बदला लेने का भाव नही रक्खेगा तब तक समाज सरकार-हीन किसी तरह नही हो सकता। पहली बात समाज मे सत्याचरण से और दूसरी अहिसा के अवलम्बन द्वारा ही सिद्ध हो सकती है। सत्य और अहिसा के मेल का दूसरा नाम सत्याग्रह है। अतएव इन दोनो महान् नियमो का मूल्य केवल व्यक्तिगत जीवन के लिए ही नही, वल्कि सामाजिक जीवन के लिए भी है और उससे वढकर है। ये नियम केवल दूर से पूजा करने योग्य, 'आदर्श' कहकर टालने योग्य, या 'साधू-सन्तो के लिए कहकर मखौल

उडाने लायक नही हैं। यदि हमने मनुष्य के सच्चे लक्ष्य को, समाज के आदर्श को, और सरकार तथा शासक-मण्डल नामक सस्था की हानियो को अच्छी तरह समझ लिया है, यदि हम उन हानियो से बचने और समाज को जल्दी-से-जल्दी अपने आदर्श तक पहुँचाने के लिए लालायित हो, तो हम इन दोनो नियमो को अटल सिद्धान्त माने और सच्चाई के साथ अन्त करण-पूर्वक इनका पालन किये बिना रह ही नही सकते। इनके महत्व की ओर से आखे मूदना, इन्हे महज एक आध्यात्मिक चीज बनाकर व्यवहार के लिए अनावश्यक या निरुपयोगी मानना, समाज के आदर्श को या उसके उपयों और पहली शर्तो को ही न समझना है।

तो प्रश्न यह है कि सत्य और अहिंसा का मर्म आखिर क्या है ?

सत्य शब्द का प्रयोग तीन अर्थो मे होता है—तत्त्व, तथ्य और वृत्ति। सत्य 'सत्' शब्द का भाववाचक है। सत् का अर्थ है सदा कायम रहने वाला, जिसका कभी नाश न हो। ससार के बडे-बडे दार्शनिको और अनुभवी ज्ञानियो ने कहा है कि इस जगत् के सब पदार्थ नाशमान हैं, सिर्फ एक वस्तु ऐसी है जिसकी सत्ता सदा—सर्वकाल रहती है—वह है आत्मा। इसलिए आत्मा जगत् का परम सत्य अथवा तत्त्व हुआ। जब हम यह विचारते हैं कि इसमे सत्य क्या है, तब हमारा यही भाव होता है कि इसमे कौनसी बात ऐसी है जो स्थायी है, पक्की है। अतएव सत्य एक तथ्य हुआ। हम सच्चा उस मनुष्य को कहते हैं जो भीतर-बाहर एक-सा हो। इसलिए, सत्य वह हुआ जो सदा एक-सा रहता है। इस प्रकार सत्य एक तत्त्व, तथ्य और वृत्ति तीनो अर्थो मे प्रयुक्त होता है। तत्त्व-रूप मे वह आत्मा है, तथ्य-रूप मे वह सर्वोच्च जीवन-सिद्धान्त है, और वृत्ति-रूप मे महान् गुण है। तीनो अर्थो मे सत्य वाछनीय, आदरणीय और पालनीय है। आत्मा के रूप मे वह अनुभव करने की वस्तु है;

सिद्धान्त के रूप मे वह पालन करने की और वृत्ति या गुण के रूप मे ग्रहण करने और वढाने की वस्तु है। जव हम यह अनुभव करने लगे कि मेरी और दूसरे की आत्मा एक है—शरीर-भेद से दोनो मे भिन्नता आ गई है, तव हम तत्त्व के रूप मे सत्य को मानते हैं। जव हम यह निश्चय करते हैं कि मै तो सत्य पर ही अटल रहूँगा, जो मुझे सच दिखाई देगा उसीको मानूगा, तव मैं सिद्धान्त के रूप मे सत्य को मानता हूँ। और जव मै यह कहता हूँ कि मै अपने जीवन को छल-कपट और स्वार्थ से रहित वनाऊँगा, तव मै एक गुण या वृत्ति के रूप से सत्य को मानता हूँ। इन भिन्न-भिन्न अर्थो मे एक ही 'सत्य' शव्द से प्रयुक्त होने के कारण कई वार भ्रम उन्पन्न हो जाता है। कभी गुण के अर्थ मे उसका प्रयोग किया जाता है और वह तथ्य या तत्त्व के रूप मे ग्रहण किया जाने लगता है, तव विवाद और कठिनाई पैदा होजाती है।

यो तो 'सत्य' का आग्रह रखना, सत्य पर डटे रहना 'सत्याग्रह' है। किन्तु 'सत्याग्रह' मे सत्य तीनो अर्थो मे ग्रहण किया गया है। सवसे पहले सत्याग्रही को यह जानना पडता है कि इस वात मे सत्य क्या है ? अर्थात् तथ्य, न्याय, औचित्य क्या है ? यह जानने के वाद वह उस पर दृढ रहने का सकल्प करता है। इस सकल्प मे या व्यवहार मे उसे सच्चा शुद्ध रहने की परम आवश्यकता है। ये दोनो आरभिक क्रियाये उसे इसलिए करनी पडती है कि अन्तिम सत्य—आत्मत्व—को अनुभव करना चाहता है—सारे जगत् से अपना तादात्म्य करना चाहता है। इस प्रकार एक सत्याग्रही का ध्येय हुआ जगत् के साथ अपने को मिला देना—उसकी प्रथम सीढी हुई सत्य का निर्णय करना, दूसरी सीढी हुई उस पर दृढ रहना, और तीसरी सीढी हुई अपने व्यवहार मे सच्चा और शुद्ध रहना। इस आखिरी वात मे वह जितना ही दृढ रहेगा उतनी ही सत्य-निर्णय मे

उसे सुगमता होगी और उतना ही उसका निर्णय अधिक शुद्ध होने की सभावना रहेगी। सत्य पर दृढ रहने से उसकी तेजस्विता वढेगी, शुद्धता होने से लोकप्रियता वढेगी और जगत् के साथ अपनेको मिलाने के प्रयत्न से उसकी आत्मा का विकास होगा। उसकी सहानुभूति व्यापक होगी, उसका क्षेत्र विशाल होगा, वह क्षुद्रताओ और सकीर्णताओ से ऊपर उठेगा। तीनो के सगम के द्वारा उसे पूर्ण, सच्चा या स्वाधीन मनुष्य वनने मे सहायता मिलेगी।

सत्याग्रह मनुष्य-मात्र के लिए उपयोगी है। यह समझना कि यह तो साधुओ और वैरागियो के ही काम का है, भूल है। सत्य पर डटे रहना, सच्चाई का व्यवहार करना, प्रत्येक दुनियादार आदमी के लिए भी उतना ही जरूरी है जितना कि साधू या वैरागी के लिए है। यदि सत्य पर भरोसा न रक्खा जाय, सच्चाई का व्यवहार न किया जाय, तो दुनिया के वहुतेरे कारोवार वन्द कर देना पडेगे, वल्कि सासारिक जीवन का निर्वाह ही असभव हो जायगा। ससार मे यद्यपि सत्य और झूठ का मिश्रण है तथापि ससार-चक्र जिस किसी तरह चल रहा है उसका आधार असत्य नही, सत्य है। जितना सत्य है उतनी सुव्यवस्था और सुख है, जितना असत्य है उतनी ही अव्यवस्था और दुख है। कुछ लोग छोटे स्वार्थो, थोडे लाभो, और जल्दी सफलता के लोभ मे झूठ से काम ले लेते है—इसीलिए दूसरे लोगो को असुविधा और कष्ट उठाना पडता है। यह कितने आश्चर्य की वात है कि दुनिया मे सत्य सरल व्यवहार तो कठिन माना जाता है और झूठ मे सुविधा और लाभ दिखाई पडता है। यदि प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभव से लाभ उठाना चाहे तो वह तुरत देख सकता है कि झूठ मे कितनी अशान्ति, कितनी दुविधा, कितनी कठिनाइया, कितनी उलझने है और सरल सत्य मे मनुष्य कितनी झझटो से वच जाता

है। यदि सत्य का आदर न हो तो परस्पर विश्वास रखना ही कठिन हो जाय और यदि परस्पर विश्वास न हो, वचन-पालन की महत्ता न हो, तो जरा सोचिए ससार-व्यवहार कितने दिन तक चल सकता है ? इसके विपरीत सत्य का व्यवहार करने से न केवल अपनी साख, प्रतिष्ठा और प्रभाव ही बढता है, बल्कि शान्ति, तेजस्विता और दृढता भी बढती है, जो कि सासारिक और सफल जीवन के लिए बहुत आवश्यक है।

परन्तु इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि व्यापारिक, आर्थिक और राजनैतिक मामलो मे तो झूठ का सहारा लिये विना किसी तरह काम नही चल सकता। यह वात इस अर्थ मे तो ठीक है कि कुछ लोग जीवन मे झूठ का आश्रय लेकर अपना उल्लू सीधा करते रहते है, परन्तु इस अर्थ मे नही कि यदि कोई यह निश्चय ही करले कि मै तो किसी तरह सत्य से विचलित न होऊँगा तो उसका काम न चल सके या उसे हानि उठाना पडे। यदि वह छोटे और नजदीकी लाभो को ही लाभ न समझेगा, आर्थिक कठिनाइयो से ही न घवरा जायगा, तो झूठ का आश्रय लेनेवाले की अपेक्षा वह अधिक सफल होगा, हा, उसे धीरज रखना होगा। सत्य का पालन करनेवाले को जो कष्ट और कठिनाइयो का सामना करना पडता है उसका कारण तो यह है कि अभी समाज की व्यवस्था बिगडी हुई है—शिक्षा और सुसस्कार की कमी है। यह कल्पना करना चाहे हवाई किले वनाना हो कि सारा मनुष्य-समाज किसी दिन सत्यमय हो जायगा, परन्तु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि जितना ही वह सत्य की ओर अधिक वढेगा उतना ही वह सुख, सुविधा और सफलता मे उन्नति करेगा।

सृष्टि मे अकेलेपन के लिए जगह नही है। सृष्टि शब्द ही अकेलेपन का विरोधी है। यदि वेदान्तियो की भाषा का आश्रय लिया जाय

तो ईश्वर ने एक से अनेक—'एकोऽह बहुस्याम'—होने के लिए सृष्टि-रचना की है। इसलिए सच्चे अर्थ मे यहा कोई बात, कोई वस्तु 'व्यक्तिगत' नही हो सकती। जितने नियम, सिद्धान्त, आदर्श और व्यवहार बने हैं वे सब न बने होते यदि सृष्टि मे 'अकेलापन' या 'व्यक्तिगत' कुछ होता। इनकी उत्पत्ति व्यक्ति के जगत् के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही हुई है। अर्थात् इनका मूल्य सामाजिक है। समाज मे रहते हुए भी मनुष्य ने कुछ बाते अपने लिए ऐसी रख ली है जिनका समाज से बहुत सम्बन्ध नही है और इसलिए वे व्यक्तिगत कही जाती है। सत्य तत्व के अर्थ में तो सष्टि का आधार है, परन्तु सिद्धान्त और गुण के अर्थ मे सामाजिक नियम है। इस प्रकार सत्य के दो भाग हो जाते है—एक स्वतत्र सत्य और दूसरा सामाजिक सत्य। सामाजिक सत्य स्वतत्र सत्य का साधक है। स्वतत्र सत्य मनुष्य का ध्येय और सामाजिक सत्य उस तक पहुँचने की सडक है। स्वतत्र सत्य तो मनुष्य की एक कल्पित या अनुभूत स्थिति (Fact) है, जिसके आगे उसने कुछ नही पाया है - परन्तु सबकी दृष्टि वहा तक नही जाती, न वह उन्हे आकर्षित ही करता है, न उन्हे उसमे विशेष दिलचस्पी ही मालूम होती है। ज्यो-ज्यो मनुष्य सामाजिक सत्य की मजिले तय करता जाता है त्यो-त्यो स्वतत्र सत्य उसे लुभावना और गृहणीय मालूम होने लगता है और उसके गौरव, स्वाद या सौन्दर्य मे उसकी रुचि होने लगती है। इसलिए जब तक बुद्धि मे उसके स्वरूप को समझने की रुचि और हृदय मे उसे अनुभव करने की उत्सुकता नही जाग्रत हुई है तब तक सामाजिक सत्य से ही मनुष्य को आरम्भ करना चाहिए। वह सत्य पर अटल रहने की और जीवन को भीतर बाहर शुद्ध बनाने की प्रतिज्ञा करे। यह सत्याग्रही के लिए पहली बात हुई।

दूसरे को कष्ट न देने की वृत्ति का नाम ही अहिंसा है। यह सत्य से उत्पन्न होती है और सत्य की सहायक या पूरक है। सामाजिक सत्य का जितना महत्व है उतना ही अहिंसा का भी महत्व है। परन्तु हम सत्य और अहिसा को एक तुला पर नही रख सकते। सामाजिक गुण के अतिरिक्त सत्य का स्वतत्र अस्तित्व और महत्व भी है। परन्तु अहिंसा ऐसी कोई स्वतत्र वस्तु नही है। फिर भी वह सत्य के ज्ञान और उसकी रक्षा के लिए अनिवार्य है। हालाकि उसका जन्म समाज की अपेक्षा से ही हुआ है। यदि ससार मे कोई दूसरा व्यक्ति या जीव न हो तो किसीको कष्ट पहुँचाने का सवाल ही नही पैदा हो सकता।

सत्य जबतक स्वतत्र है तवतक 'सत्य' है—परन्तु जब वह सामाजिक बनने लगता है तब अहिसा का रूप धारण करने लगता है। सत्य का प्रयोग जब दूसरे पर किया जाता है तो वह वहा जाकर अहिसा बन जाता है। हमसे सत्य के रूप मे निकला और दूसरे तक पहुँचते हुए अहिसा मे बदल गया। हमसे उस तक पहुँचते हुए कुछ भावनाओ की रासायनिक क्रिया उसपर होती है जिससे वह अहिंसा बन जाता है। चूकि मुझे यह मजूर है कि जिस तक मै अपना सत्य पहुँचाना चाहता हूँ वह उसे सत्य ही समझे, उसमे अपना लाभ ही समझे, इसलिए मै उसमे मिठास और प्रेम की पुट लगा देता हूँ—यही अहिसा का आरम्भ है। यदि मै अपने ही मान्य सत्य की रक्षा कर लेता हूँ—दूसरे को अपने बराबर सुविधा और अधिकार नही देना चाहता—तो मै सत्य का एकागी और स्वार्थी पुजारी हुआ। पर तु सत्याग्रही पूरे और सच्चे अर्थ मे सत्य का भक्त होता है, इसलिए अज्ञानी के प्रति उसके मन मे दया, प्रेम और सहानुभूति का ही भाव ''दा होता है। इन्ही भावनाओ की पुट सत्य को अहिसक बना देती है। सत्य जब मधुर और स्निग्ध होकर दूसरे तक

पहुँचता है तो उसे स्वादु और स्वागत-योग्य मालूम होता है। सत्य मूलत भी कटु नही हो सकता। वह तीखा हो सकता है, पर कटु नही। यदि सत्य ही सबमे फैला हुआ है तो फिर सत्य एक में से दूसरे मे पहुँचते हुए, कही तीखा, और कही कड़ुआ क्यो मालूम होता है ? क्योकि सत्य जिनसाधनो, जिन उपकरणोसे एक केअन्दर से निकलकर दूसरे के अन्दर पहुँचता है वे कु-सस्कारो और दोषो से लिप्त रहते हैं। उन कुसस्कारो को पोछने के लिए ही, या यो कहे कि उनके दोप से सत्य को बचाने के लिए ही प्रेम और मिठास की पुट जरूरी हो जाती है। कप्ट सहन प्रेम,मिठास तथा सहानुभूति की स्थूल अभिव्यक्ति है। जो व्यक्ति अज्ञानी है,स्वार्थ ने जिसे अन्याय और अत्याचार के गडहे मे गिरा रक्खा है,जो इस तरह अपने आप ही पतित हो चुका है, उसके प्रति एक मनुष्य के मन मे तो सहानुभूति और दया ही उत्पन्न हो सकती है। यह सहानुभूति और दया ही उसे कप्ट देने के बदले कष्ट सहने के लिए प्रेरित करती है। और कप्ट-सहन के द्वारा सत्याग्रही दोनो हेतु सिद्ध कर लेता है—उस व्यक्ति का सुधार और अपने प्रति उसका मित्र भाव। सत्य के इतने विवेचन के बाद अब हम यह देखे कि सत्य की साधना से मनुष्य मे कौन-कौन से गुण उदय होते हैं और वे किस प्रकार उसे पूर्ण स्वाधीन बनाने मे सहायक होते है।

[२]

सत्य से उत्पन्न गुण

सत्य वह तत्व है जिसके बल पर सारा ससार-चक्र चल रहा है। उसको जानना,' उसके लिए प्रयत्न करना, उसका अपने मे अनुभव करना मनुष्य का स्वभाव-धर्म है। अनुभवियो ने कहा है कि

आत्मा, परमात्मा सत्य से भिन्न नही—सृष्टि मे सत्य जो कुछ है वह यही कि घट-घट मे, अणु-अणु मे एक ही आत्म-तत्व समाया हुआ है। कई मनुष्य ऐसे मिलेगे जो बुद्धि से इस ज्ञान को जानते हैं, किन्तु सत्य जिनके हृदय का धर्म नही बन गया है। वास्तव मे आत्मा, जो जगत् का परम सत्य है, वुद्धि द्वारा जानने की वस्तु नही है। जिनका हृदय शुद्ध है उन्हे सत्य का स्फुरण अपने आप हुआ करता है। सत्य सीधा उनके दिल मे जाकर बैठ जाता है। परन्तु कुसस्कारो से जिनका हृदय दूषित और मलिन है उन्हे उसकी प्रतीति एकाएक नही होती। वुद्धि के द्वारा जिन्होने सत्य को जानने का यत्न किया है उन्होने बडे-बडे दर्शन-शास्त्र रच डाले हैं किन्तु वे इने-गिने विद्वानो के ही काम के हो गये हैं। वे वुद्धि की जिज्ञासा को तृप्त चाहे कर दे, किन्तु सत्य का साक्षात्कार तो, अनुभव करने से ही होता है। इसलिए सत्य को जीवन का धर्म वनाने—आचरण मे उतारने का ही यत्न सवसे सीधा और अच्छा मार्ग है। जो वात आपको सच प्रतीत हो, उसी पर डँटे रहिए, किन्तु यह न समझ लीजिए कि आपने उसमे जो कुछ सत्य जाना है वही अन्तिम सत्य है। सम्भव है, आपकी धारणा मे गलती हुई हो। इसलिए आप आगे के लिए आखे खोलकर रखिए—देखते जाइए, अपने माने हुए सत्य के आगे भी कुछ दिखाई देता है या नही—किन्तु जव तक आगे निश्चत रूप से कुछ न दिखाई दे तव तक अपने माने सत्य पर ही अडे रहिए। सत्य तो दुनिया मे एक है। इसलिए यदि आपकी लगन सच्ची है तो आप उसे—असली सत्य को—किसी दिन अवश्य पाजायँगे। किन्तु आपकी वृत्ति हर वात मे सत्य को देखने, सत्य को खोजने की ओर रहे। जिस वात मे जो सत्य प्रतीत हो उसे अपनाते जाइए, जो असत्य मालूम उसे छोडते जाइए। असत्य कई वार वडा लुभावना होता है, शीघ्र

सफलता का प्रलोभन दिखाता है—किन्तु आप उसके फन्दे मे न फँसिए। यह अनुभव सिद्ध है कि यदि आप उसके लालच मे आते रहेगे तो सम्भव है कि कुछ वार थोडे परिश्रम मे और जल्दी सफलता मिल जाय, किन्तु आप विश्वास रखिए कि यह लाभ आगे के वडे लाभ को दूर फेक देता है और इसलिए असल मे हानि ही हो जाता है। वार-वार झूठका आश्रय लेते रहने से तो मित्रो और समाज मे पैठ उठ जाती है और इससे होनेवाली हमारी भौतिक और नैतिक हानि का अन्दाज पाठक सहज ही लगा सकते है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखेगे तो हमे यह अनुभव होगा कि झूठ को अपनाकर यदि आप कोई तात्कालिक लाभ कर रहे हैं तो उसी समय आप दूसरी वात मे अपनी हानि करते हुए पाये जावेगे। चूकि आपका ध्यान लाभ की तरफ है, आपको जल्दी है, इसलिए आप अपने कार्य के समस्त परिणामो को शान्ति के साथ नही देख रहे हैं—इसलिए वह हानि अभी आपको दिखाई नही देती, किन्तु यदि आप झूठ का आश्रय लेते हुए इस वात पर ध्यान रक्खेगे कि देखे इससे कौन-सी हानि हो रही है तो आपको उसे देखने मे देर न लगेगी। फिर तो आपको असत्य से स्वाभावत अरुचि और अन्त मे घृणा होने लगेगी और उसकी हानि इतनी प्रत्यक्ष हो जायगी कि आप असत्य के विरोध मे प्रचार करने लगेगे।

इस प्रकार अपने प्रत्येक कार्य और प्रत्येक व्यवहार मे सत्य और असत्य की वार-वार छान-बीन करते रहने से आपको सवसे पहला लाभ तो यह होगा कि आपकी विचार-शक्ति वढेगी। इससे आपको सारासार का, कर्तव्य-अकर्तव्य का, हानि-लाभ का, अच्छे-बुरे का, विचार करने की आदत पडेगी और आपमे विवेक जाग्रत होगा। जब आप सत्य ग्रहण करने की ओर ही दृष्टि रक्खेगे तो आपका मन एकाग्र होने

लगेगा, और-और बातो को छोडकर एक सत्य की ही ओर मन को बार-बार आना पडेगा, इससे उसे सयम का अभ्यास अपने आप होगा। जब हम केवल सत्य पर ही दृढ रहेगे तो हमे अपने बडे-बूढो प्रिय जनो और कुटुम्बियो के भी विरोध का सामना करना पडेगा। राज्य, समाज और धर्म के नाम पर स्थापित सत्ता का भी विरोध सहना पडेगा और करना पडेगा। इससे हमारे अन्दर साहस पैदा होगा। इन विरोधियो के विरोध और कष्टो को आनन्द के साथ सहने से कष्ट-सहन की शक्ति बढेगी। सत्य-भक्त के लिए यह जरूरी होगा कि वह दूसरे के माने हुए सत्य का भी आदर करे। वह उसे अपने लिए सत्य तब तक न मानेगा जब तक कि स्वय उसे उसकी प्रतीति न हो जाय, परन्तु उसे अपने सत्य पर कायम रहने का अधिकार जरूर देगा। ऐसा करने मे उसे अहिसा का पालन करना होगा। यदि वह अपना सत्य उस पर जबरदस्ती लादने लगेगा, दण्डबल, भय अथवा शस्त्र-बल से उसे अपना सत्य मानने पर मजबूर करेगा तो वह सत्य-भक्त नही रहेगा—अपने मान्य सत्य पर चलने का अधिकार सबको है—इस महान् सत्य की वह अवहेलना करेगा। इस प्रकार अहिसा का पालना उसके लिए अनिवार्य हो गया। सत्य का निर्णय करने मे भी अहिंसा उसकी सहायक होती है बल्कि अनिवार्य शर्त है। द्वेष हिंसा का एक रूप है। जब तक हमारा मन द्वेष से कलुषित होगा तब तक हमारे हृदय मे सत्य की पूरी अनुभूति न होगी—हमारा निर्णय शुद्ध न होगा। द्वेष से प्रभावित मन हमे स्वार्थ की ओर ले जायगा—हमारे द्वेष-पात्र के हित की रक्षा का उचित भाव हमारे मन मे न रहेगा—इसलिए हमारा निर्णय न्याय या सत्य-मूलक न होगा। इसी तरह शुद्ध निर्णय या सत्य-शोधन के लिए हमारा अत-करण राग से भी दूषित न होना चाहिए। क्योकि जब एक के प्रति

राग यानी मोह, असक्ति अथवा स्वार्थ-मूलक स्नेह होगा तो हमारा मन उसके सुख, लाभ या हित की तरफ अधिक झुकेगा और हम दूसरे के स्वार्थ की उपेक्षा कर जायँगे। यह राग जन्म के समय चाहे हिंसा के रूप मे न आता हो, परन्तु परिणाम के रूप मे अवश्य हिंसा हो जाता है। जिसके प्रति हमारे मन मे राग होता है उसका अहित हम अक्सर ही कर डालते हैं—अलबत्ता उसका हित-साधन करने की चेप्टा करते हुए ही। क्योंकि उसके प्रति अत्यधिक स्नेह हमे उसके सच्चे हित की ओर से अन्धा बना देता है—हम उसके श्रेय की अपेक्षा उसके प्रेम की अधिक चिंता करने लगते है—और उसे गलत रास्ते ले जाते है। राग को अपनाकर स्वय अपनी भी हानि करते हैं—हम भी पथ-भ्रष्ट होते हैं। अपने कर्तव्य का निर्णय करने मे भी हम राग के वशीभूत हो सत्य का मार्ग छोड देते हैं—उसकी नाराजगी के अन्देशे या खुश करने की चिन्ता से सत्य की उपेक्षा होने लगती है। और हित तो अन्तत सत्य की प्रतीति, पालन और रक्षण से ही हो सकता है। इस तरह सत्य का पालन हमे राग-द्वेष से ऊपर उठने की शिक्षा देगा इससे हमारे मन मे समता का और स्थिरता का गुण आने लगेगा। अधिक और बार-बार कष्ट सहन करने से धीरज का विकास होगा। कठिनाइयो, विघ्नो, कष्टो से लडते हुए, पुरुषार्थ, निर्भयता की वृद्धि होगी। 'यह सब मैं सत्य के लिए सह रहा हूँ,' यह भावना अपूर्व बल और उत्साह को बढावेगी। सत्य के पथ पर चलनेवाला अवश्य सफल होगा यह विचार आशा और उमग की वृद्धि करेगा। यो किसी भी उच्च ध्येय को ग्रहण करके उसकी सिद्धि मे तल्लीन रहने से इनमे से कई गुणो का विकास होगा, किन्तु अमर आशा और सफलता की अचल श्रद्धा सत्य के ध्येयवाले को ही प्राप्त होती है।

सत्य के साधक के लिए इतना ही काफी नही है कि वह स्वय ही

सत्य का अनुभव और पालन करता रहे बल्कि उसका यह भी कर्तव्य है कि अपने सत्य से दूसरे को भी लाभ पहुँचावे—दूसरे को भी उसका अनुभव करावे। यह वह दो तरह से कर सकता है—स्वय अपने सत्य पर दृढ रहकर—उसका आचरण करते हुए और दूसरे लोगो मे उसके लिए रुचि, प्रीति और लगन उत्पन्न करके। यह दूसरा काम उसे सत्य का प्रचारक भी बना देता है। प्रचारक बनने से उसमें सगठन की योग्यता आवेगी। उसे जनता की और भिन्न-भिन्न वर्णो की सस्कृति और मनोदशा का अध्ययन करना पडेगा जिससे विवेक बढ़ेगा और समय तथा स्थिति देखकर भिन्न-भिन्न उपायो का आवलवन करना पडेगा, भिन्न-भिन्न व्यक्तियो या व्यक्ति-समूहो से काम लेना पडेगा—इससे साधन-बहुलता और प्रसगावधान आवेगा। सत्य जैसे दूरवर्ती लक्ष्य को सामने रखने से और अपने वर्तमान कार्यक्रम को सदैव उसके अनुकूल बनाये रखने की चिन्ता से उसमें दूरदर्शिता का प्रादुर्भाव होगा। अहिंसा का मूल सत्य पर स्थित है, किन्तु उसका स्वरूप प्रेममय है। जब हम इतना ही कहते हैं कि 'दूसरे को कष्ट न पहुँचाओ' तो उसका नाम अहिंसा है। किन्तु जब कहते हैं कि 'दूसरे के दु ख को अपना दु ख समझो' तो उसका नाम सहानुभुति है और जब हम कहते है कि 'दूसरे को अपने समान चाहो' तो उसका नाम प्रेम है। अहिंसा तटस्थ है, प्रेम सक्रिय है। जहा प्रेम है, सहानुभूति है, वहा सभी मृदुल गुणो का अधिष्ठान हो गया समझिए। रस की उत्पत्ति प्रेम से ही है। रस समस्त ललित कलाओ का प्राण है। एक ओर से सत्य का तेज और दूसरी ओर से अहिंसा की शान्ति तथा प्रेम का जीवन-रस मनुष्य को समस्त तेजस्वी और रमणीय गुणो से—मस्तिष्क और हृदय के गुणो से आभूषित करके जीवन की सार्थकता के द्वार तक निश्चित रूप से पहुँचा देगा।

सत्य के इतने विस्तृत विवेचन के वाद अव हम अहिंसा को और अधिक गहराई के साथ समझने का प्रयत्न करे।

[४]

अहिंसा का मूल स्वरूप

सत्य जिस तरह स्वतत्र, निरपेक्ष और स्वय पूर्ण है उस तरह अहिसा नही। यह सृष्टि सत्य के विभिन्न रूपो के सिवा और कुछ नही है। यह सव सत्य का ही विकास है। यदि सत्य अपने मूल निराकाररूप और भावरूप मे रहता तो अहिसा की कोई आवश्यकता ही न रहती, उसका उदय ही न होता। सत्य तो उस तत्त्व या नियम का नाम है जो अपने आपमे परिपूर्ण है और जिसे रहने या फैलने के लिए किसी दूसरी वस्तु के सहारे की आवश्यकता नही। किन्तु अहिंसा निष्क्रिय पक्ष मे किसीको दु ख न पहुँचाने और सक्रिय पक्ष मे प्रत्येक के साथ प्रेम करने की भावना या वृत्ति का नाम है। कोई होगा तभी तो उसे दु ख न पहुँचाने का या उससे प्रेम करने का भाव पैदा होगा, जव कोई था ही नही, केवल सत्य ही अपने असली रूप मे स्थित था—एक रूप मे एकरस था—तव अहिंसा का उदय कैसे हो सकता था ? किन्तु सत्य के विकसित और प्रसरित होते ही, भिन्न-भिन्न नाम-रूप धारण करते ही, उनका पारस्परिक सम्वन्ध कैसा रहे, यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न हुआ और चूकि भिन्न-भिन्न नाम-रूप वास्तव मे एक ही सत्य का विकास है इसलिए उनमे सम्वन्ध प्रेम, सहयोग और सहिष्णुता का ही हो सकता था—इसी स्वाभाविक भावना का नाम अहिंसा रक्खा गया।

इस प्रकार सत्य यद्यपि निरपेक्ष है और अहिसा सापेक्ष—दूसरे की

अपेक्षा से स्थित—है तो भी जवतक सृष्टि है तवतक उसका अस्तित्व है। जवतक जगत् है और नाम-रूप है तवतक अहिंसा वनी ही हुई है। अर्थात् जवतक हम हैं तवतक अहिंसा है। हमारे अस्तित्व और पारस्परिक सम्वन्ध के साथ वह सदा मिली और लगी हुई है।

जव हम मूल पूर्ण और निरपेक्ष सत्य को समझने का यत्न करते हैं तव तो आगे चलकर यह भी मानना होगा कि अहिंसा-भाव सत्य का ही एक अग या अश है। वह सत्य से वढकर तो हो ही नही सकता, वरावर भी चाहे न हो, अशमात्र ही हो, किन्तु वह सत्य से पृथक नहीं है, न हो मकता है। यदि वस्तुमात्र और भावमात्र मत्य का ही विकास है तो अहिंसा को उससे पृथक् कैसे कर सकते है? फिर जगत् में हम देखते है कि और भावो की अपेक्षा प्रेमभाव मवसे प्रवल है। आमतौर पर प्रेम जितना आकर्षित और प्रभावित करता है उतना मत्य नही। तव यह क्यो न कहे कि सत्य का आकर्पक रमणीय रूप ही प्रेम या अहिंसा है। जो हो, इतना अवश्य मानना होगा कि मत्य और अहिंसा का नाता अमिट है और केवल सत्य को पाने के लिए ही नही वल्कि जगत् का अस्तित्व ठीक-ठीक रखने के लिए, समाज को सुख-शान्तियुक्त वनाने के लिए, वह अनिवार्य है।

यह तो हुई सत्य और अहिंसा के स्थान और परस्पर-सम्वन्ध तथा महत्व की वात। अहिसा का मूल तो हमने देख लिया, अव उसका स्वरूप देखने का यत्न करें। सत्य जिस प्रकार एक अनिर्वचनीय तत्त्व, सत्य, नियम या व्यवस्था है, उसी प्रकार अहिंसा भी वस्तुत अवर्णनीय भाव है, दोनो की प्रतीति और अनुभूति तो हो सकती है, किन्तु परिभाषा नही वनाई जा सकती। परिभाषा शब्दो और उसके वनानेवाले की योग्यता और विकास-स्थिति से मर्यादित रहती है। किसीने अपने

जीवन को पूर्ण अहिसा और सत्यमय बना भी लिया तो शब्दशक्ति की मर्यादा के बाहर वह नही जा सकता। अपने सम्पर्क से वह अहिंसा और सत्य का उदय आपमे कर सकता है, किन्तु वाणी या लेख द्वारा वह उतनी अच्छी तरह आपको नही समझा सकता। यह शब्दो द्वारा जानने की वस्तु है भी नही। किन्तु जहा तक शब्दो की पहुँच है वहा तक उसे समझाने का प्रयत्न भी अधिकारी पुरुषो ने किया है।

अहिसा की साधारण और आरम्भिक व्याख्या यह हो सकती है—'किसीको भी अपने मन, वचन, कर्म द्वारा दु ख न पहुँचाना।' यह साधक की आरम्भिक भावना है। इसके बाद की भावना या अवस्था है प्राणिमात्र के प्रति सक्रिय प्रेम की लहर मन मे दौडाना। इससे भी ऊपर की ओर अन्तिम अवस्था है जगत् के प्रति अभेद-भाव को अनुभव करना। यह सत्य के साक्षात्कार की स्थिति है। यहा अहिसा और सत्य एक हो जाते हैं। इसलिए कहते हैं कि अहिंसा सत्य के साक्षात्कार का साधन है। जबतक दो का भाव है तबतक अहिसा साधनरूप मे है, जब दो मिटकर एक हो गये तब अहिसा लोप हो गई और चारो ओर एक सत्य-ही-सत्य रह गया।

पहले कहा जा चुका है कि सृष्टि मे दो प्रकार के गुण-धर्म पाये जाते हैं—एक कठोर और दूसरे मृदुल। साहस, तेज, पराक्रम, शौर्य आदि कठोर और दया, क्षमा, सहनशीलता, उदारता आदि मृदुल गुणो के नमूने कहे जा सकते हैं। कठोर गुणो मे सत्य का और मृदुल मे अहिंसा का भाव अधिक समझना चाहिए। सत्य मे प्रखरता और अहिसा मे शीतलता स्वाभाविक है। ये दोनो एक ही सिक्के की दो बाजू की तरह, पुरुष और प्रकृति की जोडी की तरह, अभिन्न है। दुष्टता और क्रूरता जिस प्रकार सत्य की विकृति हैं, उसी प्रकार दब्बूपन, कायरता, अहिसा की विकृति है।

तब प्रश्न उठता है कि एक ओर दुष्टता और क्रूरता तथा दूसरी ओर दब्बूपन और डरपोकपन आया कहा से ? और ये भाव उदय भी क्यो हुए ? बुद्धि को तो यही उत्तर देना पडता है कि जब सत्य ने ही सारी सृष्टि के रूप मे विकास पाया है तब दुष्टता, कायरता आदि भी सत्य मे से ही पैदा हुए है और किसी-न-किसी रूप मे वे सत्य के ही साधक या पोपक होते होगे। यह मान भी ले कि इन दुर्गुणो से और दोषो से समष्टि या सृष्टि या सत्य का कोई हेतु सिद्ध होता होगा, तो भी उस व्यक्ति के लिए तो ये उस काल मे सुखकारी नही हो सकते। सत्य और समष्टि के राज्य मे, सम्भव है, गुण-दोप की भाषा ही न हो, वहा तो सब कार्य प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परस्पर पोषक ही होते हो, किन्तु साधारण मनुष्य और साधक के लिए तो गुण-गुण है और दोष-दोष है। सत्य स्वरूप हो जाने पर, सम्भव है, गुण दोषो की पहुँच के वह परे हो जाय, किन्तु तबतक तो गुण-दोष का विवेक रखकर ही उसे आगे बढना होगा। कहने का भाव यह है कि यदि किसीमे दुष्टता, क्रूरता और कायरता या दब्बूपन है तो उसे यह मानकर सन्तोष न करना चाहिए कि आखिर इनसे सृष्टि का कोई-न-कोई हित ही सिद्ध होता होगा—बल्कि यह मानना चाहिए कि मुझे ये सत्य और अहिसा की तरफ नही ले जायँगे। जहा दुष्टता और कायरता है वहा सत्य और अहिसा की शुद्ध वृत्ति का अभाव ही समझना श्रेयस्कर है। जो सत्यवादी उद्दण्ड हो और अहिसा-वादी डरपोक हो तो दोनो को पथभ्रष्ट ही समझना चाहिए। उद्दण्डता दूसरो को दबाती है और कायरता उद्दण्डता से डरती है। दूसरो से दबना और दूसरो को दबाना दोनो सत्य और अहिसा की मर्यादा को तोडते हैं। जो मनुष्य चाहते हैं कि हमारा जीवन पूर्ण, स्वतन्त्र और सुखी हो एव दूसरे के सुख, स्वाधीनता और विकास मे सहायक हो उन्हे सत्य

और अहिंसा की विकृति से बचकर उनकी शुद्ध साधना के सिवा दूसरा मार्ग ही नही है।

यह तो अहिंसा का तात्विक विवेचन हुआ। अब हमे उसके स्थूलरूप, उसके विकास और उसकी मर्यादाओ का भी विचार कर लेना उचित है।

[५]

अहिंसा का स्थूल स्वरूप

'हिंस' धातु से हिसा शब्द बना है। इसका अर्थ है—मारना, कष्ट पहुँचाना। कष्ट दो तरह से पहुँचाया जा सकता है—एक तो प्राण निकालकर और दूसरे घायल करके। यह तो हुई प्रत्यक्ष हिसा। अप्रत्यक्ष हिसा उसे कहते है जिससे शरीर को तो किसी प्रकार कष्ट या आघात न पहुँचे, किन्तु मन जख्मी हो जाय। इसे मानसिक हिसा भी कह सकते है। इसी तरह हिसक की दृष्टि से भी हिंसा दो प्रकार की हो सकती है—एक तो वह जब हिसक अपने शरीर या शस्त्र के द्वारा हिंसा करे और दूसरा वह जव अपने मन, बुद्धि के व्यापारो के द्वारा कष्ट पहुँचावे। अहिसा हिसा के विपरीत भाव और क्रिया को कहते है। अर्थात् किसीके शरीर और मन को अपने शरीर या मन बुद्धि के द्वारा किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना अहिसा है।

हिंसा और अहिसा मन की वृत्तिया है। जब तक कोई भाव मन मे ही रहता है तब तक उससे दूसरे को विशेष लाभ-हानि नही पहुँचती, सिर्फ अपनेको ही पहुँचती है। यदि मेरे मन मे किसीकी हत्या करने का विचार आया तो जब तक मै प्रत्यक्ष हत्या न कर डालूगा तव तक उसका भला-बुरा परिणाम मुझ तक ही मर्यादित रहेगा। इसीलिए समाज

या राज्य मे कोई अपराध तब माना जाता है जब वह काम या उसका प्रयत्न हो चुकता है। हा, जरूर अपराध मे अपराधी की भावना भी अवश्य देखी जाती है। यदि कार्य बुरा हो और भावना शुद्ध और ऊँची हो तो उसका दोष कम हो जाता है। अर्थात् एक दृष्टि से केवल भाव या विचार सामाजिक अपराध नही है तो दूसरी दृष्टि से भाव का महत्व क्रिया के परिणाम को न्यूनाधिक करने मे बहुत है। यद्यपि सामाजिक रूप में क्रिया और प्रयत्न ही अपराध माना गया है तथापि इससे दूषित विचार या भाव का दोष कम नही हो जाता है। सिर्फ अन्तर इतना ही है कि उस व्यक्ति पर ही उसका विशेष असर होता है, इसलिए समाज-व्यवस्थापको ने उसे सामाजिक दृष्टि से विशेष महत्व नही दिया है। परन्तु इससे भाव और विचार का असली महत्व कम नही हो जाता। भाव से विचार, विचार से प्रयत्न और प्रयत्न से काम बनता है। इसलिए किसी भी कार्य का बीज असल मे भाव ही है। यदि कार्य से बचना हो तो ठेठ भाव तक से बचने की चेष्टा करनी होगी। फिर यदि व्यक्ति के मन में दूषित भाव भरा हुआ है तो किसी-न-किसी दिन उससे दूषित कार्य अवश्य हो जायगा और समाज को नुकसान पहुँच जायगा। केवल दूषित भावो और विचारो का भी बुरा असर पडता है। वह दूसरो मे दूषित भाव और विचार उत्पन्न करता है। इसीलिए बुरे विचारो का समाज मे फैलाना भी बुरा समझा गया है। इसके अलावा समाज के व्यक्ति जितने ही निर्दोष, शुद्ध और उच्च विचार और भाव रखते होगे उतना ही समाज मे सुख, स्वातन्त्र्य, शान्ति अधिक होगी। स्वय व्यक्ति तो उससे बहुत ऊँचा हो ही जाता है। इसलिए बुरे भावो तक की रोक व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो दृष्टियो से आवश्यकीय है।

यहा तक तो हमने हिसा-अहिंसा के सूक्ष्म और स्थूल रूपो का विचार किया। अब यह प्रश्न उठता है कि हिंसा का निषेध क्यो किया जाता है ? हिंसा एक त्याज्य दोष क्यो माना गया है ? यह सिद्ध है कि सृष्टि अच्छे और बुरे भावो का मिश्रण है। सृष्टि मे जब मनुष्य विविध व्यापार करने लगा तो उसे अनुभव होने लगा कि कुछ बाते ऐसी हैं जिससे हानि और दुख होता है, कुछ ऐसी जिनसे लाभ एव सुख होता है। यह लाभ और सुख पहुँचानेवाली बातो को अच्छा और हानि तथा दुख पहुँचानेवाली बातो को बुरा ठहराता गया। आरभ मे उसकी दृष्टि अपने सुख-दुख और लाभ-हानि तक ही केन्द्रित रही होगी—फिर कुटुम्ब, समाज आदि तक उसकी परिधि बढी है। ज्यो-ज्यो यह परिधि बढती गई त्यो-त्यो अच्छी और बुरी समझी जानेवाली बातो मे भी भिन्नता होती गई। शुरू मे उसने दूसरो को मारकर या कष्ट पहुँचाकर अपना लाभ कर लेने मे बुराई न समझी। होगी उसे यह स्वाभाविक व्यापार मालूम हुआ होगा, पर ज्यो ज्यो उसकी भावनाओ का विकास हुआ और कुटुम्ब तथा समाज के सुख-दुख उसे अपने ही सुख-दुख से मालूम होने लगे, त्यो-त्यो उसे अपने सुख, स्वाद, लाभ के लिए दूसरे को कष्ट पहुँचाना अनुचित प्रतीत होने लगा। उसने यह भी देखा कि स्वेच्छाचार, अत्याचार को यदि बन्द करना है तो 'हिंसा' को बुराई मानना ही पडेगा। इस प्रकार व्यक्तिगत उन्नति और सामाजिक सुव्यवस्था के लिए अहिंसा की उत्पत्ति हुई, किन्तु आरभ मे यह मनुष्य तक ही सीमित रही होगी। फिर उन पशु-पक्षियो तक फैली जिनसे मनुष्य-समाज का लाभ होता था। सिर्फ उन्ही मनुष्यो या पशुओ की हिंसा क्षम्य या अपरिहार्य समझी गई जिनसे समाज को प्रत्यक्ष हानि पहुँचती है। इस तरह मूलत हिंसा अच्छी तो कही भी—किसी भी

समाज मे—नही मानी गई है सिर्फ अनिवार्य समझकर कही-कही उसे मर्यादित रूप मे क्षम्य मान लिया गया है।

परन्तु लाभ या हानि, सुख या दुख से अर्थात् स्वार्थ से वढकर भी एक उच्च भावना अहिंसा की जड मे समाई हुई मालूम होती है। मनुष्य ने देखा कि यदि मुझे कोई घायल करता है, मेरे किसी आत्मीय को कोई मार डालता है तो मुझे कितना दुख होता है। वह नही चाहता कि उसे ऐसा दुख कोई दे। तो उसने यह भी अनुभव किया कि दूसरे को भी—पशु-पक्षी कीट-पतग तक को भी—मारने या घायल करने से कष्ट पहुँचता है, तो उसकी स्वाभाविक सहानुभूति ने उसे अपने पर से यह लगाना उचित और आवश्यक समझा। इस सहानुभूति या दया की भावना ने उन मनुष्यो और पशु-पक्षियो को भी न मारना, न कष्ट देना उचित समझा, जो मनुष्य-समाज को हानि भी पहुँचाते हो। यदि कष्ट पहुँचाना अनिवार्य हो जाय तो ऐसा ध्यान रक्खा जाय कि वह कम-से-कम हो। यहा आकर अहिंसा एक त्रिकालावाधित धर्म हो गया। इस सहानुभूति ने ही मनुष्य को एक सत्यता के अनुभव पर पहुँचाया। या यो कहे कि सवमे एक ही आत्मा होने के कारण स्वभावत मनुष्य मे इस सहानुभूति का भी जन्म हुआ है। सवमे एक आत्मा, एक चेतन-प्रवाह है, यह जगत् का परम सत्य है और इसीके अनुसार जीवन वनाते समय अहिंसा की उत्पत्ति हुई। आगे चलकर यह भाव दृढ हुआ कि सवमे एक ही आत्म तत्व है तो फिर न कोई किसीका शत्रु है, न कोई किसीको हानि पहुँचाते हैं सब अपने-अपने कर्मों के अनुसार फल पाते हैं और अपनी वुद्धि के अनुसार कार्य करते हैं। जो हमे हानि पहुँचाता है, या हमारा शत्रु बनता है, यह उसकी कुवुद्धि या अज्ञान है, इसलिए वह तो और भी सहानुभूति या दया का पात्र है।

जिन महापुरुषो ने इस ऊँची अहिंसावृत्ति की साधना अपने अन्दर की है उनके सामने वडे-वड हिंस्र पशुओ ने हिंसा भाव छोड दिया है। इससे दो बाते सिद्ध हुई—एक तो एकात्मभाव और दूसरे उसकी साधना के लिए अहिंसा का प्रभाव।

इस प्रकार यद्यपि अहिंसा की उत्पत्ति स्वार्थ-भाव से हुई परन्तु वह चरम सीमा तक पहुँची दयाभाव के योग से। अव प्रश्न यह रहता है कि एक व्यक्ति तो अपने जीवन मे अहिंसा की चरम सीमा तक पहुँच सकता है, परन्तु सारा समाज कैसे पहुँच सकता है? और जबतक सारा समाज न पहुँचे तो किसी-न-किसी रूप मे हिंसा अनिवार्य हो जाती है। मामूली जीवन व्यापार मे भी कई प्रकार की अनिच्छित हिंसा हो जाती है। तव व्यवहार शास्त्रियो ने यह व्यवस्था वाधी कि अहिंसा है तो सर्वोच्चवृत्ति, हिंसा है तो सर्वथा त्याज्य, परन्तु यदि खास-खास स्थितियो मे वह अपरिहार्य ही हो जाय तो उसे क्षम्य समझना चाहिए—किन्तु उस दशा मे भी यह शर्त रखदी कि उस हिंसा मे हमारी भावना शुद्ध हो अर्थात् हमारा कोई स्वार्थ उसमे न हो। वल्कि यो कहे कि सकल्प करके यदि कोई हिंसा करनी पडे तो वह उस हिंसा-पात्र के सुख और हित के ही लिए होनी चाहिए। फिर भी यह दोष तो समझा ही जायगा—इसका दोषत्व हलका करने के लिए हमे उचित है कि हम दूसरी वातो मे उसकी विशेष सेवा-सहायता कर दे, जिससे उसको और समाज को हमारी भावना की शुद्धता का परिचय मिले।

इस विवेचन से हम इन परिणामो पर पहुँचे—

(१) किसीको किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है।

(२) यदि मन मे हिंसा की भावना न हो और मामूली जीवन-

व्यापार करते हुए किसीको कष्ट पहुँच जाय तो उस हिंसा मे कम दोष समझा जाय। जैसे भोजन करने, खेती करने आदि मे होनेवाली हिंसा।

(३) यदि किसी दशा मे सकल्प करके किसीको कष्ट पहुँचाना पडे तो यह केवल उसीके हित और सुख की भावना से करने पर क्षम्य समझा जा सकता है। जैसे डाक्टर द्वारा किया जानेवाला आपरेशन। पिछली दोनो अवस्थाओ मे दो शर्ते हैं—

(अ) हिंसा की भावना न हो, और

(ब) दूसरी बातो मे हिसा-पात्र की विशेष सेवा-सहायता की जाय।

[६]

शंका समाधान

परन्तु सत्य और अहिंसा के इन श्रेष्ठ सिद्धान्तो पर अनेक तर्क-वितर्क और शकाये की जाती है। उन पर भी यही विचार कर लेना उचित होगा। वे इस प्रकार हैं—(१) यदि समाज मे हम सत्यवादी और अहिसक बनकर रहे तो चोर-डाकू हमे लूट न ले जायेगे? (२) अत्याचारी हमे बरबाद न कर देगे? (३) दुराचारियो के हाथो समाज और व्यभिचारियो के हाथो बहन-बेटियो की रक्षा कैसे होगी? (४) दूसरे सशस्त्र समाज या देश हमे निगल न जायेगे? (५) फिर इनका पालन है भी कितना कठिन? यह तो योगी-यतियो और साधु-सन्तो के किये ही हो सकता है। झूठ बोले और डर बताये बिना तो समाज मे एक मिनट काम नही चल सकता। (६) फिर अबतक इतिहास मे किसी ऐसे समाज या देश का उदाहरण भी तो नही मिलता कि जहा सत्य और अहिंसा मनुष्य का दैनिक जीवन बन गया हो। (७) मनुष्य के

आदिम काल मे भी तो गण-तत्र और प्रजातत्र थे—पर क्या वहा सत्य और अहिसा का ही साम्राज्य था ? (८) जिन ऋषि-मुनियो ने या विचारको अथवा दार्शनिको ने इन तत्वो को खोज निकाला है उन्हीके जमाने मे ऐसे समाज के अस्तित्व का पता नही मिलता—फिर अव इस विज्ञान और बुद्धिवाद के युग मे, इन वातो का राग आलापने से क्या फायदा ? (९) बुद्ध, महावीर और ईसामसीह तो सत्य और अहिंसा के के महान् प्रचारक और हामी हुए न ? क्या वे ससार को सत्य और अहिंसामय वना गये ? वल्कि इसके विपरीत यह देखा जाता है कि वौद्ध और ईसाई आज सवसे बडे हिंसक साधनो को अपनाये हुए है और जैन वुजदिल बने बैठे है !! (१०) हिसा तो जब प्रकृति मे भरी हुई है, जव खुद ईश्वर का ही एक रूप हिंसा-प्रधान है, तव मनुष्य मे से उसे हटाने का प्रयत्न कैसे सफल हो सकता है और इस प्रकार प्रकृति और ईश्वर के विरुद्ध चलने की आवश्यकता भी क्या है ? (११) यदि लेनिन अहिसा का नाम जपता रहता तो क्या आज वोलशेविक क्रान्ति द्वारा वह ससार को चकित कर सकता था ? (१२) क्या अशोक ने अहिसा की दुहाइया देने और ढिढोरा पिटवाने का प्रयत्न नही किया ? तो क्या लोग अहिंसक और सज्जन बन गये ? दुर्जनो का अन्त आ गया और वे सुधर गये ? (१३) और यदि एक समाज अथवा राष्ट्र निशस्त्र रहने या नीतिमान् बनने का बीडा भी उठा ले तो जवतक दूसरे सभी समाज और राष्ट्र इन वातो को न अपनाये तवतक अकेले के वल पर काम कैसे चल सकता है ? उसकी सिधाई, भलमनसाहत और नि शस्त्रता का लाभ उठाकर दूसरे समाज और राष्ट्र उसे डकार न जायँगे ? (१४) क्या युधिष्ठिर तक को प्रसग पडने पर झूठ नही वोलना पडा ? राम और कृष्ण ने दुष्टो का दलन करने के लिए हथियार नही उठाये ? क्या

कृष्ण ने असत्य और कपट का आश्रय नही लिया ? गीता के रचयिता से वढकर तुम अपनेको ज्ञानी और होशियार समझते हो ? (१५) समाज का लाभ मुख्य है। जिस किसी साधन से वह सिद्ध हो वही हमारे अपनाने लायक है। हम साधन को उद्देश से वढकर नही मानना चाहते। उद्देश को भूलकर वा समाज-हित को वेचकर हम किसी तरह सत्य और अहिंसा पर चिपके रहना नहीं चाहते। यह अन्ध-श्रद्धा है और हम इसके कट्टर विरोधी है। (१६) हम बुद्धिवादी और विज्ञानवादी है, जव जैसा मौका देखते हैं काम करते है। उन्ही वातो को मानते है, जिनका कारण, हेतु और लाभ समझ मे आ जाय। अन्धे की तरह जिन्दगीभर एक ही दवा पीने के लिए, एक ही सडक पर चलने के लिए हम तैयार नही। (१७) कौन कह सकता है कि कपट का आश्रय लेने वाले या शस्त्र बाधनेवाले उपकारी, आदर्शवादी या देशभक्त नही थे ? शिवाजी, प्रताप, क्या देश-सेवक न थे ? लेनिन क्या रूस की जनता का महान् उद्धारक नही साबित हुआ है ? (१८) अत्यन्त सत्य का पालन करनेवाला व्यवहार मे भोंदू और बुद्धू ठहरता है और अत्यन्त अहिंसा का पालक कायर और निर्वीर्य। दूसरे उसे ठगकर ले जाते है, वेवकूफ वना जाते है, डरा-धमकाकर अपना मतलव साध लेते है और वह सत्य और अहिंसा का पल्ला पकडे रहकर रोता वैठता है। आदि आदि।

इनका समाधान इस प्रकार है—

(१) सत्यवादी और अहिंसक वनने का परिणाम तो उलटा यह होगा कि चोर-डाकू भले आदमी वनने की कोशिश करेगे। क्योकि सत्य और अहिंसा का प्रेमी इस वात की खोज करेगा और उसका असली उपाय ढूढ निकालेगा कि समाज मे चोर-डाकू पैदा ही क्यो होते है ? शारीरिक आवश्यकताओ की और मन के अच्छे सस्कारो की कमी ही

चोर-डाकुओ की जननी है। अतएव सत्यवादी और अहिंमक या यो कहे कि एक सत्याग्रही या सच्चा म्वतत्र मनुष्य समाज के उस ढाचे को ही, उस नियम को ही वदल देगा, जिससे आज, औरो के मुकावले मे, शारीरिक आवश्यकताये पूर्ण नही होती है। फिर वह सत्-शिक्षा और सत्-सस्कारो के प्रचार मे अपनी शक्ति लगावेगा, जिससे उनका विवेक-वल जाग्रत होगा और वे रफ्ता-रफ्ता हमारे ही सदृश भले आदमी वनकर चोर-डाकू वनना अपने लिए अपमान, शर्म और निन्दा की वात समझेगे। समाज मे आज भी यदि वहुताश लोग चोर-डाकू नही है तो इसका कारण यही है कि उनके लिए शारीरिक आवश्यकताओ और मानसिक विकास की पूर्ति के सव दरवाजे खुले है। इसी तरह इन दो वातो की सुविधा होने पर वे भी अपनी वुराई क्यो न छोड देगे ?

पर हा, जवतक उनका सुधार नही हो जाता तवतक उनके उपद्रवो का डर रह सकता है। हमारी अपनी सरकार होते ही ५ साल के अन्दर ऐसी स्थिति पैदा की जा सकती है कि सरकार के तथा खानगी प्रयत्नो से उनके खाने-पीने आदि का सुप्रवन्ध हो जाय और उनके मन पर भी इतने सस्कार डाले जा सकते हैं, जिससे वे इस वुराई को छोड दे। अपनी सरकार होते ही सत्याग्रही का यह कर्तव्य होगा कि एक ओर तो वह सरकार पर प्रभाव डाले कि वह समाज-रचना के विषयो मे आवश्यक सुधार करे और दूसरे स्वत भी अपनी शक्ति उनके मानसिक विकास और आचारिक सुधार मे लगावे। उनके सुधार होने तक यदि सशस्त्र पुलिस और जेल आदि रख भी लिए जावे तो हर्ज नही हैं। हा, ये होगी कम से कम वल-प्रयोग करनेवाली। पुलिस का काम रक्षा करना और जेल का काम सुधार करना होगा। फिर यदि समाज मे अधिकाश लोग सत्याग्रही-वृत्ति के होगे तो अव्वल तो उनके पास इतना धन-दौलत ही न होगा

जो चोर-डाकू उन्हे लूटने के लिए उत्साहित हो, दूसरे जिनके पास होगा भी और वे लूटे भी जायगे तो उनकी अहिंसा-वृत्ति उनसे बदला लेने की कोशिश न करेगी। या तो वे खुद ही आगे होकर, यह समझ कर कि ये पेट के लिए बुराई करते हैं, अपने पास से उन्हे आवश्यक सामग्री दे देंगे, या उनके बलपूर्वक ले जाने पर वे उन्हे सजा दिलाना न चाहेगे, उलटा उनके सुधार और सेवा का उद्योग करेगे, जिसका कुदरती असर यह होगा कि वे शर्मिन्दा होगे, अपनी बुराई पर पछतावेगे और उसे छोडने का उद्योग करेगे।

फिर अहिसको के मुकाबले मे हिंसको को ही उनसे तथा अत्याचारियो से हानि पहुँचने का अधिक डर रहेगा, क्योकि वे अपनी प्रतिहिसा के द्वारा उनके बुरे और हिंसक भावो को बढाते और दृढ करते रहते हैं। इसके विपरीत अहिंसक उनकी बुराई और हिंसा का बदला भलाई और प्रेम तथा सेवा के द्वारा चुकावेगा, जिससे वे उसके मित्र बनेगे और अपना सुधार करेगे। इसका एक यह भी सुफल होगा कि अहिसक लोगो की वृत्ति का सुफल देखकर हिंसक भी अहिसक बनने का प्रयत्न करेगे, जिससे चोर-डाकओ एव अत्याचारियो की जड और भी खोखली हो जायगी। जब हम जेल को सुधार-गृह बना कर, जगह-जगह और खासकर ऐसे ही उपद्रवी लोगो मे पाठशालाये खोलकर, मौखिक उपदेश, साहित्य और अखबार तथा अपने सदाचरण के उदाहरण के द्वारा एव समाज के ढाचे मे परिवर्तन करके सारा वातावरण ही बदल देगे तो फिर चोर-डाकूओ और अत्याचारियो के उपद्रवो की शका रह ही कैसे सकती है? आज तो हम उनके रोगो का असली इलाज कर नही रहे है—अपनी स्वार्थी और हिंसक प्रवृत्तियो द्वारा उलटा उनको बढावा ही दे रहे हैं और फिर उनका डर बताकर अपनेको सज्जन और सत्याग्रही बनाने से हिचकते हैं। यह उलटी गगा नही तो क्या है?

(२), (३), (४) चोर और डाकुओ के बाद अत्यचारियो मे उन्ही लोगो की गणना हो सकती है जो या तो समाज मे किसी तरह, जोरो-जब्र से, सत्ता को हथियाना चाहते हैं, या किसीकी बहन-बेटी पर बालत्कार करना चाहते हैं। सत्ताभिलाषी स्वदेश के कुछ व्यक्ति या समूह तथा पडौस के विदेशी लोग या राष्ट्र दोनो हो सकते हैं। स्वदेश के लोग दो प्रकार के होगे जो सत्ता को हथियाना चाहेगे—एक तो वे जो समाज और सरकार मे अपनी पूछ कम हो जाने के कारण या सत्ता छिन जाने के कारण उससे असन्तुष्ट होगे और दूसरे वे जो तत्कालीन सत्ता या सरकार को काफी अच्छा न समझते होगे। पहले प्रकार के लोग विदेशी राष्ट्रो से साठ-गाठ करके भी उपद्रव मचा सकते हैं और पडौसी राष्ट्रो को आक्रमण के लिए बुला सकते हैं। परन्तु अव्वल तो इतने बडे बलशाली और प्रभुताशाली ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लेनेवाले लोग और उनकी बनी सरकार* इतनी कमजोर, अ-कुशल और अप्रिय न होगी कि स्वदेश के उपद्रवी लोगो का इलाज शान्तिपूर्वक न कर सके और यदि थोडे समय के लिए उसे बल-प्रयोग की आवश्यकता हुई भी तो वह उससे पीछे न हटेगी। वह उन लोगो के भी सुख-सुविधा, सन्तोष आदि का इतना ध्यान रक्खेगी और उनके अन्दर ऐसा सस्कार डालने का प्रयत्न करेगी जिससे उनके असन्तोष की जड ही कट जाय। पडौसी राष्ट्रो से वह सन्धि कर लेगी, उन्हे निर्भयता का आश्वासन देकर उनसे मित्रभाव रक्खेगी और समय पडने पर बन्धुभाव से उनकी सहायता भी करेगी।

---

*सत्य और अहिंसा का प्रयोग चूंकि ससार के इतिहास मे सामाजिक और राष्ट्रीय रूप में पहली ही बार भारतवर्ष मे हो रहा है, इसलिए प्रधानतः उसीको ध्यान में रखकर इन अध्यायों की रचना की गई है।

—लेखक

उनकी विपत्तियो मे वह मित्र का काम देगी, तो फिर वे व्यथ ही क्यो हम पर आक्रमण करने लगेगे ? फिर आज-कल यो भी अपने-अपने देश मे स्वतत्र और सन्तुष्ट रहने की मनोवृत्ति प्रत्येक राष्ट्र मे प्रवल हो रही है। ऐसी दशा मे यह आशका रखना व्यर्थ है, और इतना करते हुए भी जवतक उनसे ऐसे किसी प्रकार के हमले की सभावना है तवतक राष्ट्रीय रक्षक सेना भी, अपवाद के तौर पर, रक्खी जा सकती है। सत्याग्रही सरकार तो एक विशेप लक्ष्य को लेकर, अपने आदर्शो की प्रचारिका वन कर स्थापित होगी, अतएव उसका प्रयत्न तो केवल पडोसी राष्ट्रो को ही नही, वल्कि सारे भू-मण्डल को अपने प्रचार के प्रभाव मे लाना होगा। और चूकि उसका मूलाधार हिंसा, प्रतिहिसा, लूट आदि न होगे, इसलिए दूसरे राष्ट्र उसके प्रति सिवा मित्रभाव के और भाव रख ही न सकेगे।

अव रह गई, दुराचारियो और वहन-वेटियो पर वलात्कार करनेवालो की वात। सो अव्वल तो सत्याग्रही अर्थात् सज्जन समाज मे यो ही नीति और सदाचार का वोलवाला होगा, जिससे ऐसे दुष्टो के दुराचार और वलात्कार का हौसला वहुत कम हो जायगा। ओर आज भी वलात्कार के उदाहरण तो इनेगिने ही होते हैं। छिपे या प्रकट दुराचार का कारण तो है गुलामी और सन्नीति-प्रचार की कमी। सो अपनी सरकार होते ही गुलामी तो चली ही जायगी और नीति तथा सदाचार के प्रचार और उदाहरण से इन वुराइयो को निर्मूल करना कठिन न होगा। यदि वातावरण और लोकमत इन वुराइयो के खिलाफ रहा और सरकार ने समाज मे सदाचार को सर्वप्रथम स्थान दिया तो कोई कारण नही कि ये वुराइया समाज मे रहने पावे।

अक्सर यह भी पूछा जाता है कि वलात्कारियो और अत्याचारियो से सावका पडने पर झूठ वोलकर या वल-प्रयोग करके काम चलाये

बिना कैसे रह सकते हैं ? यदि झूठ बोलने से किसीकी जान बचती हो, एक छोटी या थोडी हिसा करने से बडी और अधिक हिसा से समाज बच जाता हो, तो उनका अवलम्बन क्यो न किया जाय ? सो अव्वल तो ऐसे बलात्कारियो और अत्याचारियो के उदाहरण समाज मे इने-गिने होते है । मैने अपने कितने ही मित्रो से यह सवाल पूछा है कि आपके सारे जीवन मे कितने ऐसे प्रसग आये हैं, जब एक अत्याचारी तलवार या पिस्तौल लेकर आपके सामने खडा हो गया है और आपको झूठ बोलकर जान बचानी पडी हो, या कोई बलात्कारी आपकी आखो के सामने तलवार के बल किसी स्त्री पर बलात्कार करने पर उतारू हुआ हो और आपके सामने झूठ बोलने या उसे मार डालने की समस्या पैदा हुई हो ? प्रत्येक पाठक यदि इस प्रश्न का उत्तर दे तो वह सहज ही इस नतीजे पर पहुँच जायगा कि ऐसी दुर्घटनाये आज भी समाज मे इक्की-दुक्की, अपवाद-रूप ही, होती हैं । चोर-डाकू, दुराचारी और बलात्कारी का दिल खुद ही इतना कमजोर होता है कि किसीकी आहट पाते ही, जरा भी भय की आशका होते ही, उनके पैर छूटने लगते हैं । ऐसी दशा मे अपवाद-रूप उदाहरणो को इतना महत्व देकर समाज-व्यवस्था के मूल-भूत नियमो और सिद्धान्तो का महत्व कम करना, या उनको गौण-रूप देना किसी प्रकार उचित नही है । दूसरे यदि मनुष्य सचमुच सत्याग्रही, या पूरे अर्थ मे सज्जन है, तो उसकी उपस्थिति का नैतिक प्रभाव, जो भी उसके साथ या सामने हो, उस पर पडे बिना नही रह सकता । यदि कही इने-गिने अवसर जीवन मे ऐसे आते भी है कि मनुष्य सत्य और अहिसा का पालन करते हुए बडे धर्म सकट मे पडता है, तो उसे सजग और दृढ रहकर अपने नियम पर डटे रहना चाहिए । वास्तविक सत्य और अहिसा का प्रभाव तो कभी

विफल हो ही नही सकता, किन्तु, यदि मान भी ले कि इनका अवलवन करने से ऐसे समय मे कुछ हानि, किसीकी गिरफ्तारी, वध, सतीत्व-हरण, आदि न भी बच सके, तो वह उतना बुरा नही है, जितना झूठ या हिंसा का आश्रय लेकर ऐसे किसी प्रसग पर तात्कालिक लाभ या बचाव कर लेना। मनुष्य के किसी भी कार्य का असर अकेले उसीपर नही होता। उसकी जिम्मेवारी जितनी अधिक होती है उतना ही उसका असर बढता जाता है। उसे सदा इस बात का ध्यान रखना पडता है कि मुझसे कोई काम ऐसा न बन पडे, जिसकी मिसाल लेकर दूसरे भी वैसा ही करने लगे। यदि एक सत्य या अहिंसावादी, आनबान के और परीक्षा के ऐसे अवसरो पर ही, अपने नियम से डिगने लगे तो उसकी सच्चाई और दृढता ही क्या रही ? यो तो आम तौर पर हर आदमी, जबतक कोई भारी दिक्कत नही आती, या कोई धर्म-सकट नही उपस्थित होता, तबतक नियमो का पालन करता ही है, आजमाइश का मौका तो उसके लिए ऐसे अपवादो और असमजसताओ के समय ही होता है और उन्हीमे यदि वह कच्चा उतरा तो फिर वह बेपेदी का लोटा ही ठहरेगा। जहा खतरे का या दृढता का अवसर है वहा यदि वह दुम दबाने लगा, या डगमगाने लगा, तो फिर उसकी सच्चाई पर कौन विश्वास करेगा ? यदि वह सचमुच सत्य और अहिंसा का कायल है, तो ऐसे प्रसगो पर अव्वल तो आततायियो को समझाने और उनके दिल तथा धर्म को जाग्रत करने—अपील करने—का अवसर थोडा-बहुत जरूर रहता है। यदि इसमे वह विफल हुआ, या इसके लिए अवसर नही है, तो वह बजाय इसके कि खामोश देखता हुआ या भागकर अथवा छिपकर आततायी का मनोरथ पूरा होने दे, उसके और मजलूम के बीच मे पड जायगा और अपनी जान मे जान है तब

तक उसे अत्याचार या वलात्कार न करने देगा। एक बलात्कारी की क्या हिम्मत कि वह उसके प्राण लेकर भी वलात्कार पर आमादा रहे ? चोर-डाकुओ को उनकी इच्छित चीजे या तो खुद आगे होकर दी जा सकती हैं, या उनकी रक्षा मे अपने प्राणो की आहुति दी जा सकती है। यदि हम सचमुच प्राणो को हथेली पर लिये फिरते हैं तो हमारे इस वलिदान का नैतिक असर या तो उसी समय या कुछ समय वाद खुद उन्ही आततायियो पर और उनके दूसरे लोगो पर भी पडे विना न रहेगा। समाज के सामने भी हम नियम-पालन, निर्भयता और वलिदान की मिसाल पेश करेगे, जिसका नैतिक मूल्य उसके लिए भी वहुतेरा होगा। आततायियो की आत्मा जाग्रत होगी, समाज मे निर्भ-यता और वलिदान के लिए दृढता आवेगी। पर यदि झूठ वोलकर ऐसी अवस्था में काम चलाया जाय तो मेरी राय मे वह सिवा कायरता के और कुछ नही हैं। ऐसे अवसर पर भाग जाना और झूठ वोलना वरावर है। भाग जाना शारीरिक क्रिया है और झूठ वोलना मान-सिक—इसलिए वह अधिक बुरा है। भाग जाने, या झूठ वोलनेवाले की अपेक्षा तो आततायी को मार डालनेवाला ज्यादा वहादुर है—लेकिन विना हाथ उठाये, उनके अज्ञान और आवेग पर दया खाकर, अपनी आहुति दे देनेवाला सव तरह श्रेष्ठ, वीर, आदरणीय और अनुकरणीय होता है। अहिंसक मे एक नवर की वहादुरी होती है। वह खतरे से नही घवराता, दूसरे की रक्षा, सहायता के लिए जीवन का कुछ मूल्य नही समझता, मृत्यु उसके सामने एक भय नही वल्कि एक सखी होती है और जिसे मृत्यु का अथवा और सकटो एव आपत्तियो का भय नही है उसके सामने अत्याचारियो और वलात्कारियो के सामने कायरता दिखाने का मौका और प्रश्न ही क्या है ?

(५) यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जो बात बहुत सीधी, सरल, सुसाध्य और स्वाभाविक है वह कठिन समझी जाय। क्या सच बोलने और सच कहने से ज्यादा आसान झूठ बोलना और उसे निबाहना है ? एक झूठ को छिपाने या मजबूत बनाने के लिए आदमी को और कितना झूठ बोलना पडता है, कितनी उलझनो और परेशानियो मे पड़ना पडता है और अन्त को पोल खुलने पर उसे कितना बदनाम होना पडता है—अपनी सारी साख खो देनी पडती है। क्या इससे अधिक कठिन और हानिकर सच का बोलना और करना है ? क्या किसीके साथ प्रेम करना, दया दिखाना, माफ कर देना ज्यादा मुश्किल है, बनिस्बत उससे घृणा या द्वेष करने या मार-पीट करने और मार डालने के ? जरा दोनो क्रियाओ के परिणामो पर तो गौर कीजिए ! हमारे मन पर प्रेम, सचाई, क्षमा, सहयोग, उदारता, उपकार के सस्कार अधिक होते हैं या असत्य और हिसा, घृणा, द्वेष आदि दुर्विकारो के ? खुद अपने, कुटुम्ब के तथा समाज के और पशु-पक्षी के भी जीवन को बारीकी से हम देखेगे तो हमको पता चलेगा कि पहले प्रकार के सस्कार अधिक हैं और इसीलिए यह समाज एव ससार टिका हुआ है। तो फिर मनुष्य के लिए अधिक सरल, सुसाध्य और स्वाभाविक बात क्या होनी चाहिए—सत्य और अहिसा का पालन या असत्य और हिंसा का ? जिसके परिणामो का स्वागत करने के लिए लोग उत्सुक रहते है वह, या जिसका विरोध और प्रतिरोध करने पर तुले रहते हैं वह ?

भला कोई बतावे तो कि योगी-यति कहे जानेवालो और सासारिक पुरुष कहे जानेवालो के जीवन-नियमो मे फर्क क्या है ? क्या सासारिक मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्रता का उपासक नही है ? यदि है तो वह सत्य और अहिसा की अवहेलना कैसे कर सकता है ? योगी-यति या साधु-सन्त तो

हम उन लोगो को कहते हैं, जिनकी रग-रग मे ये दोनो बातें भर गई है। ऐसी दशा में तो जिन लोगो को सच्चा स्वतत्र, पूरा मनुष्य हमें कहना चाहिए और जिनके जीवित आदर्शो को देख-देख हमे अपना जीवन स्वतत्र और सुखी बनाना चाहिए, उनकी हम मखौल उडाकर स्वतत्रता के पाये को ही ढीला कर डालना चाहते हैं। जो मन, कर्म और वचन से जीवन के अच्छे नियमो का पालन करता है वही योगी-यति और साधु-सन्त है। किसी गृहस्थ या सासारिक समझे जानेवाले व्यक्ति के लिए मन-कर्म-वचन से सच्चा होना क्यो मुश्किल, मुजिर और बुरा होना चाहिए यह समझ मे नही आता। झूठ बोल देने, या मारपीट कर देने से थोडे समय के लिए काम बनता हुआ भले ही दिखाई दे, पर आगे चलकर और अन्त को उसकी साख उठे बिना एव उसपर प्रतिहिसा का आक्रमण हुए बिना न रहेगा, जिसकी हानि सत्य और अहिसा का पालन करने मे दिखाई देने वाली कठिनाइयो से कही बढकर होगी। सत्य और अहिसा का पालन करने के लिए तो सिर्फ स्वतत्रता के प्यार की, हृदय को सच्चा और सरस बनाने की आवश्यकता है। क्या यह बुरी और कठिन बात है? मनुष्य का यह सबसे बडा भ्रम है कि झूठ बोले बिना ससार मे एक मिनिट काम नही चलता। जैसे हम होगे वैसा ही समाज बनायेगे। यदि आज समाज गिरा हुआ है, पिछडा हुआ है, उसमे झूठ पाखण्ड और हिंसा का बोलबाला है और यदि हम सच्चे मनुष्य और स्वतत्रता के प्यासे है, तो हमारे लिए अधिक आवश्यक है कि हम दृढता और उत्साह से इन नियमो का पालन और प्रचार करके समाज को सुधारे। गदे, गिरे और पिछडे समाज मे यदि ये बाते कठिन, हानिकर और भयकर प्रतीत होती है तो स्वच्छ, उठे और आगे बढे समाज मे क्यो होने लगी? और यदि अच्छी, हितकर बाते कठिन हो, महँगी भी हो, तो भी वे प्राप्त करने

और रखने योग्य है, तथा बुरी बाते यदि आसान और सस्ती भी हो तो भी छोडने और फेक देने योग्य है। अच्छी बाते शुरू मे कठिन होनेपर भी आगे चलकर आसान हो जाती है और बुरी बाते शुरू मे आसान होने पर भी अन्त मे उलझन और परेशानी मे डाल देती है—यह किसे अनुभव नही होता है? ससार मे शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो, जिसने सत्य के बजाय झूठ को और प्रेम के बजाय द्वेष को अपने जीवन का धर्म माना हो और जो सदा-सर्वदा झूठ ही बोलकर, गालिया ही देकर या मारपीट कर ही जीवन-यापन करता हो। यदि यह ठीक है, और झूठ या भय-प्रयोग अर्थात हिंसा मनुष्य की कमजोरी के साथ थोडी रियायत-मात्र है, केवल अपवाद है, तो फिर यह कहना कहा तक ठीक है कि झूठ और धमकी के बिना ससार का काम चल ही नही सकता। आज जो झूठ और भय-प्रयोग दिखाई दे रहा है या उसकी आवश्यकता प्रतीत होती है उसका कारण यही है कि हम अपनी कमजोरियो से बिल्कुल ऊपर उठने का सतत प्रयत्न नही करते है, रियायतो से लाभ उठाने और सुविधाये भोगने का आदी हमने अपने को बना रक्खा है, अपनी वतमान नर-पशुता को ही हमने मनुष्यता समझ रक्खा है। मनुष्य ने अभी तक सामूहिक रूप से सच्ची मनुष्यता, या सामाजिकता के पूरे दर्शन नही किये है, और जिस हद तक किये है, उनका पालन करनें मे वह सदा ही एक-से उत्साह से अग्रसर नही रहा है। इसपर यह कहा जा सकता है कि यह सृष्टि तो ऐसी ही चली आ रही है, और चलती रहेगी—मनुष्य और समाज को पूर्ण और आदर्श बनाने की उछल-कूद चार दिन की चादनी मे अधिक नही रह सकती तो इसका उत्तर यह है कि फिर मनुष्य मे बुद्धि और पुरुषार्थ नामक जो महान् गुण और शक्तिया हम देखते है उनका क्या उपयोग? यह तो काहिली और अकर्मण्यता की दलील प्रतीत होती है।

(६) इतिहास मे ऐसे व्यक्तियो के तो उदाहरण जरूर मिलते है, जिनकी मानवी उच्चता, श्रेष्ठता और भव्यता को लोग मान रहे है। वहुत दूर के ऋषि-मुनियो को जाने दीजिए—ऐतिहासिक काल के वुद्ध, महावीर, ईसा, सेट फ्रासिस ऑफ एसिसि, तुकाराम, रूसो, टॉल्सटॉय, थोरो और वर्तमान काल के रोमारोला तथा महात्मा गाधी के ही नाम इसके लिए काफी है। इतिहास मे यदि किसी अहिसा और सत्य के पुजारी देश या समाज का उदाहरण नही मिलता तो क्या इससे यह सिद्ध हो सकता है कि इतिहास का वनना अव खतम हो चुका ? क्या हम आगे कोई नया इतिहास नही रच सकते ? मेरा तो खयाल है कि भारतवर्ष इस समय एक नये और भव्य इतिहास की नीव डाल रहा है। १० साल पहले जिस अहिसा का मजाक उडाया जाता था और अहिसा की दुहाई देनेवाला जो गाधी पागल और हवाई किले वनानेवाला समझा जाता था उसी अहिसा के वल और सगठन की प्रगसा आज सारे जगत् मे हो रही है और वही गाधी आज महान् जागृति का नेता वन रहा है—हालाकि अभी तो यह शुरुआत-मात्र है। जव हम अपनी आखो के सामने अहिसा और सत्य के वल को फैलते और अपना चमत्कार वताते हुए देख रहे है तव इतिहास के खण्डहरो को खोदने की क्या जरूरत है ?

(७) आदिम-कालीन गणतत्रो और प्रजातत्रो के टूटकर उनकी जगह वडे-वडे एकतत्री साम्राज्यो के वनने का कारण यह है कि उनमे अहिसा और सत्य का प्रचार नही था। जो-कुछ था वह यही कि छोटी-छोटी जातिया अपनी-अपनी पचायते वनाकर अपना मुखिया चुन लेती थी और अपना काम-काज चला लिया करती थी। अपने मुखिया के अतिरिक्त और किसीका शासन वे न मानती थी। उनकी स्वतत्रता का अर्थ था—पचायत के अधीन रहना। उनमे अपनी इच्छा के खिलाफ

दूसरे से न दबने का तो भाव था, पर जातीयता या सामाजिकता को अक्षुण्ण रखने के लिए परम आवश्यक सत्य और अहिसा की कमी थी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का न्याय प्रचलित था। लोग आपस मे लडते-झगडते थे, और न्याय के लिए पचायतो मे उन्हे आना पडता था। नीति और सभ्यता उनमे थी तो, पर वह ज्ञानपूर्वक उतनी नही थी, जितनी परम्परागत थी। फिर भी उस समय की ओर अब की नीति और सभ्यता की परिभाषा मे भी कितना अन्तर है! उन गणतन्त्रो का टूट जाना और उनकी जगह महान् साम्राज्यो का स्थापित होना उलटा इसी बात को सिद्ध करता है कि उनमे सत्य और अहिसा की कितनी आवश्यकता थी।

(८) भारतीय ऋषि-मुनियो के समय मे सत्य और अहिसा को सामाजिक रूप प्राप्त करने का अवसर इसलिए नही मिला कि उस समय मे समाज के पूर्ण परिणत रूप की कल्पना के इतने स्पष्ट दर्शन नही हुए थे। उनके काल मे यद्यपि नीति का प्रचार था, राजा या मुखिया लोग भी जनता का हित-साधन करते थे, फिर भी शस्त्र, सेना आदि सामाजिक आवश्यकताये समझी जाती थी। और यह निर्विवाद है कि जब तक समाज से झूठ और तलवार का पूर्ण बहिष्कार नही हो जाता, तब तक वह पूर्ण स्वाधीन किसी भी दशा मे नही हो सकता।

मेरी समझ मे नही आता कि विज्ञान और बुद्धिवाद सत्य और अहिसा के विरोधक कैसे हो सकते है? सत्य की शोध तो विज्ञान का और सत्य का निर्णय बुद्धि का मुख्य कार्य ही ठहरा। विज्ञान और बुद्धिवाद का अर्थ यदि उपयोगितावाद लिया जाय तो सत्य और अहिसा समाज के लिए महान् उपयोगी और कल्याणकारी साबित हुए बिना न रहेगे—और अपवादरूप परिस्थितियो को साधारण स्थिति से भी

अधिक महत्व देना न तो विज्ञान के अनुकूल होगा न बुद्धिवाद के। वैद्य रोगी की हालत देखकर दवा, पथ्य अनुपान वतलाता है, पर वुखार मे हैजे की दवा नही देता, और हृदयरोग को दूर कर देने के लिए धडकन वन्द कर देनेवाली दवा नही देता। सत्य और अहिसा सामाजिक रोगो की छोटी-वडी औषध नही है, वल्कि समाज की नीव है, जिनको हिलाकर समाज की रक्षा करना और उसे स्वाधीन वनाने का खयाल तक करना व्यर्थ है।

(९) वुद्ध, महावीर और ईसा ने जरूर सत्य और अहिसा के जवरदस्त उपदेशो द्वारा मनुष्यजाति को वहुत आगे वढाया है। इतिहास और मानव-विकास के अवलोकन कर्त्ता इस वात से किसी प्रकार इन्कार नही कर सकते। अपने पैदा होने के समय की अपेक्षा उन्होने मानव-समाज को उन्नति के पथ मे अग्रसर होने के लिए वहुत जोर का धक्का दिया है। पीछे उनके अनुयायियो ने यद्यपि उनकी शत्शिक्षाओ का दुरुपयोग किया है, जिसके फलस्वरूप वे नीचे गिर गये है, पर उनकी शिक्षाओ और प्रेणाओ से आज भी समाज लाभ उठा रहा है। वे साहित्य और समाज मे फैल गई है। यदि इतिहास मे से वुद्ध, महावीर, ईसा को और मानव-जीवन में से उनकी सत्शिक्षाओ को निकाल दीजिए तो तुरन्त मालूम हो जायगा कि जगत् और मानव-जीवन कितना दरिद्र और दु खी रह गया होगा। मनुष्य मे अभी तक जो कमजोरिया, फिसल पडने और दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति वची हुई है उनका यह परिणाम है। अतएव इससे यह नतीजा नही निकला कि वुद्ध आदि अपने कार्य में विफल हुए, वल्कि यह कि मनुष्य को अभी दृढता और नि स्वार्थता की साधना वहुत करना वाकी है। उसे इसमे सचेष्ट रहने की जरूरत है।

(१०) प्रकृति मे यदि हिंसा दीख पड़ती है और ईश्वर भी प्रसगोपात्त हिंसा करता है तो इससे यह नतीजा हर्गिज नही निकलता कि मनुष्य भी हिंसा अवश्य करे। देखना यह चाहिए कि प्रकृति और ईश्वर ने मनुष्य को किस उद्देश से बनया है। यदि उन्होने उसके अन्दर स्वाधीनता के भाव पैदा किये है, साथ ही सामाजिकता भी कूटकर भर दी है एव पुरुषार्थ और वुद्धि नामक दो शक्तिया उसे दी है, फिर सरसता और स्नेह से भी उसे परिप्लुत किया है, तो फिर वह इन गुणो और शक्तियो का उपयोग क्यो न करेगा ? प्रकृति और ईश्वर ने तो सृष्टि रच दी और उनके रहने और मिटने के नियम बना दिये। उनकी सृष्टि मे अवतक मनुष्य से बढकर किसी जीव का पता नही लगा है। अतएव वह अपने से हीन जीवो का अनुकरण नही कर सकता। वह प्रकृति और ईश्वर की रचना मे श्रेष्ठता, उच्चता, भव्यता का नमूना है और उसे यह सिद्ध करना होगा। फिर प्रकृति और ईश्वर मे बढकर या उनके समान तो मनुष्य है नही, जो हर बात मे इनकी बराबरी का दावा करे। यदि वह इनकी रचना है तो वह हर बात मे इनके समान हो भी कैसे सकता है ? यदि वह इनमे बडा और श्रेष्ठ है तो इनके हीन गुणो का अनुकरण उसे क्यो करना चाहिए ? इसके अलावा प्रकृति और ईश्वर की हिंसा मे कल्याण छिपा हुआ रहता है। मनुष्य की हिंसा मे स्वार्थ। इसलिए भी वह इनका अनुकरण नही कर सकता।

(११) लेनिन का उदाहरण यहा मौजू नही है। मेरा कहना यह नही है कि हिंसा 'शार्टकट' का काम नही देती है, या मनुष्य-समाज मे अबतक उसके उपयोग का आदर नही चला आ रहा है। मेरा मतलब तो यह है कि यदि हमे समाज-रचना मे पूर्ण स्वतन्त्रता का आदर्श प्रिय है, यदि हम मनुष्य-समाज को एक कुटुम्ब के रूप मे देखने के लिए उत्सुक

है और यदि हमे कीडो-मकोडो की तरह जीवन वितानेवाले अपने करोडों भाई-वहनो को मनुष्यता के सच्चे गुणो से लाभान्वित करना है, तो हमे सत्य और अहिंसा का अवलम्वन किये विना गुजर नही है। लेनिन ने जो क्रान्ति की है और जिस तरह की समाज-रचना करनी चाही है वह अभी पूर्णता को कहा पहुँची है ? पूर्ण समाज की कल्पना मे तो उसे भी अहिंस को अटल स्थान देना पडा है और प्रत्येक विचारशील मनुष्य इसी नतीजे पर पहुँचे विना न रहेगा। यदि रूस मे उसे हिंसा का अवलम्वन शुरुआत मे या थोडे समय के लिए करना पडा तो एक तो यह उसके स्वभाव के कारण था, और दूसरे वहावालो को अहिंसा के वल और परिणाम पर इतना भरोसा नही था, जितना अव हम भारत-वासियो को होता जा रहा है। फिर भी रूस मे यही प्रयत्न हो रहा है कि समाज मे हिंसा का स्थान दिन-दिन कम होता जाता रहे। पर भारत की स्थिति जुदा है। हमने वह चीज पहले ही पाली है, जिसके लिए रूस को अभी और ठहरना होगा। तो हम यहा क्यो अपनी स्थिति के प्रतिकूल हिंसा का नाम लेकर खुश हो और अपने उद्देश के प्रतिकूल चलने मे सुख और सन्तोप माने ?

(१२) इसका उत्तर न० ९ मे आजाता है। इतना और कह देने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि यदि बुद्ध, महावीर, ईसा-मसीह, अशोक आदि ने सत्य, प्रेम, दया, अहिंसा आदि का उपदेश और प्रचार जन-समाज मे न किया होता ओर उनका असर लोगो पर न हुआ होता या न रहा होता तो आज महात्माजी के वर्तमान अहिंसा-सग्राम को न भारत मे इतना सहयोग मिला होता और न संसार मे उसकी इतनी कदर हुई होती।

(१३) यह दलील तो वैसी ही है, जैसी यह कि जवतक सारा समाज ऐसा न करे तवतक मै अकेला क्यो करूँ ? इस दलील मे यदि

कुछ सार ही होता तो मनुष्य-समाज का अवतक इतना विकास ही न हुआ होता। एक आदमी उठकर पहले एक चीज करके दिखाता है तब दूसरे उसे अपनाते हैं। पहले आदमी को अवश्य जोखिम उठानी पडती है। भारत इसके लिए तैयार हो रहा है। फिर अहिंसा और सत्य अर्थात् प्रामाणिकता के पक्ष मे वह अकेला ही नही है। तमाम समाजवादी और कुटुम्बवादी समुदाय, तमाम आदर्शवादी लोग उसके साथ है। सचाई और अहिंसा का मतलब वेवकूफी नही है, न बुजदिली ही है। जो सदा सजग रहता है, वही सत्य और अहिंसा का प्रेमी वन सकता है। भारत गुलाम इसलिए नही वना कि वह सत्य और अहिंसा-परायण था, बल्कि इसलिए कि उसमे फूट और स्वार्थ-साधना प्रबल थी। इसलिए दूसरे राष्ट्रो के डकार जाने का भय व्यर्थ है।

(१४) युधिष्ठिर ने यदि सारे जीवन मे एक प्रसग पर 'नरो वा कुञ्जरो वा' अर्द्ध सत्य कहा तो उससे कम अनर्थ ससार मे नही हुआ है। उससे लाभ तो सिर्फ इतना ही हुआ कि अश्वत्थामा के पिता द्रोणाचार्य का वध हो गया, किन्तु हानि यह हुई कि आज लाखो लोग धमराज की इतनी-सी झूठ का सहारा लेकर वडे-बडे मिथ्याचार करते हैं और फिर भी अपनेको निर्दोष समझते है। खुद युधिष्ठिर को नरक मे से होकर स्वर्ग जाना पडा था और उनका एक अगूठा गल गया था। यद्यपि महाभारतकार ने इतनी-सी झूठ को भी क्षमा नही किया, तथापि जन-समाज मे वह आज भी बडी-बडी झूठो का आश्रय बनी हुई है। युधिष्ठिर की इस च्युति से सत्य की असभवता नही प्रतीत होती, बल्कि खद उनकी कमजोरी ही प्रकट होती है। इसी तरह कृष्ण ने यदि युद्धो मे कपट का आश्रय लिया है या राम आदि ने दुश्मनो का सहार किया है तो इससे कपट और हिंसा की अनिवार्यता नही सिद्ध

होती, बल्कि राम और कृष्ण-कालीन समाज की विकासावस्था पर प्रकाश पडता है। इससे तो एक ही नतीजा निकलता है कि उनके समय मे युद्ध या राजनीति मे थोडा-बहुत कपट शस्त्र-बल जायज समझा जाता था, जैसा कि आज भी प्राय सारे ससार मे समझा जाता है। पर आज दुनिया मे ऐसे विचारशील और क्रियाशील पुरुष भी पैदा हो गये है, जिन्होने सारे समाज और राष्ट्र के लिए कपट, झूठ और हिंसा के अनिवार्य न रहने की कल्पना करली है और जिन्होने इस दिशा मे थोडा-बहुत काम करके भी दिखाया है। इनके थोडे-से कार्य का भी फल ससार को आश्चर्य मे डाल रहा है। अतएव ठहर कर हमे इन प्रयोगो के पूर्ण फल की राह देखनी चाहिए। इतिहास या ऐतिहासिक पुरुष हमारा साथ न दे तो हमे घबराना न चाहिए, न निराश ही होना चाहिए।

(१५) यह दलील तो तब ठीक हो सकती है, जब सत्य और अहिंसा समाज या राष्ट्र-हित के विघातक हो। क्या कारण है कि प्रत्येक महा-पुरुष, प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय, प्रत्येक समाज-व्यवस्थापक ने सत्य और अहिसा—सचाई और प्रेम—को सर्वोपरि नियम माना है ? हा, राजनीति मे युद्ध के समय शत्रु के मुकाबले मे अपवाद-रूप कपट या हिंसा का मार्ग बहुतो ने खुला अवश्य रक्खा है, पर साथ ही उन्होने इस बात की भी चिन्ता रक्खी है कि—'सत्यान्नास्ति परो धर्म'। 'सत्यमेव जयते नानृतम्।' 'अहिसा परमो धर्म।' 'प्रेम एव परो धर्म'।' इन अटल और समाज के नीव-रूप नियमो का महत्व किसी तरह कम न होने पावे। जिन महान् पुरुषो और नेताओ ने सत्य और अहिसा की इतनी महिमा गाई है, या तो वे बेवकूफ थे, अन्धे थे, झूठे थे, या सासारिक और सामाजिक लाभा-लाभ के अनुभवी थे। यदि आज भी हम अपने गार्हस्थ्य और समाज-

संचालन की जडो को टटोले तो उनमे सत्य और अहिंसा ही अद्भुत और व्यापक रूप मे कार्य करते हुए दिखाई देंगे । अतएव जिन नियमो पर समाज का स्थायी कल्याण और अस्तित्व अवलबित है उन्हे यदि समाज के धुरीण लोग इतनी उच्चता और महत्ता दे तो इसमे कौन आश्चर्य है ? जरा कोई एक दिनभर तो झूठ-ही-झूठ बोलकर, दगा-फरेब ही करके, और मार-काट तथा गाली-गुफ्ता ही करके देखले । एक-ही दिन मे वह अनुभव कर लेगा कि उसकी जिन्दगी कितनी मुश्किल हो गई है । जो लोग व्यवहार मे झूठ और हिंसा का आश्रय लेकर थोडा-बहुत काम चला लेते है वे थोडे लाभो के लालच मे बडे लाभो को खो देते है, वे छोटे व्यापारी है, टुटपूजिये है । ससार मे साख और ईमानदारी की इतनी महिमा क्यो है ? और झूठे और प्रपची आदमियो से भले आदमी क्यो दूर रहना पसद करते है ? अतएव जो यह विचार रखते है कि सत्य और अहिंसा आदि सिद्धान्तो पर अटल रहने से समाज का घात होता होगा, या यह समझते है कि दीखनेवाले समाज के लाभ के लिए झूठ और हिंसा का सहारा बुरा नही है—वे भ्रम मे चक्कर काट रहे है । वे मुहरो को खोकर कोयलो को तिजोरियो मे बन्द रखने की चेष्टा करते है । मनुष्य और समाज का सारा व्यवहार चारित्र्य—शील--पर चलता है। जो मनुष्य हाथ का सच्चा, बात का सच्चा और लगोट का सच्चा होता है, वह समाज मे सच्चरित्र कहलाता है । इन सच्चाइयो को खोकर कोई अपना हित साधना चाहे तो उसे जिस डाल पर बैठे है उसीको काटनेवाला न कहे तो और क्या कहेगे ? और यही नियम एक कुटुम्ब तथा समाज या राष्ट्र पर भी भलीभाति घटित होता है । समाज का हित और उद्देश आखिर क्या है ? पूर्ण तेजस्विता, पूर्ण स्वाधीनता, यही न ? तो अब बताइए, कि ईमानदारी और स्नेह-सहानुभूति को खोकर कोई कैसे अपने

समाज को तेजस्वी और स्वाधीन-वृत्ति बनाये रखने की आशा कर सकता है ? यदि निमोनिया को जल्दी ठीक करने के लिए मैंने ऐसी दवा खाली, जिससे उलटा फेफडा ही बेकार हो गया, तो मुझे समदार और शरीर का हितचिन्तक कौन कहेगा ? कामेच्छा की तृप्ति के सीधे रास्तो को छोड कर कोई मनुष्य वेश्या-सस्था की उपयोगिता और आवश्यकता का प्रचार करने लगे तो उसे जितना अक्लमन्द कहा जायगा उससे कम अक्लमन्द वह शख्स न होगा, जो झूठ-कपट और मार-काट को समाज के लिए अनिवार्य बतावेगा। मनुष्य के समाज-सुधार के आज तक के प्रयत्नो के होते हुए भी यदि कुछ बुराइया उसमे शेष रह गई है तो उससे यह नतीजा नही निकलता कि अबतक के उसके प्रयत्न बेकार हुए है, बल्कि यह स्फूर्ति मिलनी चाहिए कि अभी ओर पूरे बल से उद्योग करने की आवश्यकता है।

(१६) समाज में दो प्रवृत्ति के लोग पाये जाते है। एक तो वे जो 'आज' पर ही दृष्टि रखते है, और दूसरे वे जो 'कल' पर भी नजर रखते है। पहले लोग अपनेको 'व्यावहारिक', बुद्धिवादी या विज्ञानवादी कह कर दूसरे को 'आदर्शवादी' या सिद्धान्तवादी कहते है। इधर दूसरे दल के लोग पहले वर्गवालो को अ-दूरदर्शी और घाटे का सौदा करनेवाले कहते है। जमीन पर खडे रहनेवाले की अपेक्षा चोटी पर खडे रहनेवाले को दूर-दूर की चीजे और दृश्य दिखाई पडते है। पर जमीन पर खडे रहनेवाले को उसकी बाते हवाई मालूम होती है। इधर चोटीवाला उसके अविश्वास पर झल्लाता है। दोनो की कठिनाइया वाजिब है। आदर्शवादी ओर सिद्धान्तवादी अपने आदर्श और सिद्धान्त पर इसलिए अटल बना रहना चाहता है कि उसे उनसे गिरने की हानिया स्पष्ट आती हुई दिखाई देती है। व्यवहारवादी, बद्धिवादी या विज्ञानवादी इसलिए चकराता है

कि उसे तात्कालिक लाभ जाता हुआ दिखाई देता है। वह उसे बटोर रखने के लिए उत्सुक होता है, तहा दूसरा वडे लाभ को खोकर उसे प्राप्त करने के लिए नही ललचाता। उसकी उदासीनता और अटलता पहले को मूर्खता मालूम होती है, और पहले की यह उत्सुकता दूसरे को खोखलापन दिखाई देता है। सिद्धान्तवादी और आदर्शवादी को दूर के परिणाम स्पष्ट देख पडते है, इसलिए वह राह के छोटे-वडे प्रलोभनो और कठिनाइयो से विचलित न होता हुआ तीर की तरह चला जाता है—इस दृढता, निश्चय, को पहले लोग भ्रम से 'अन्ध-श्रद्धा' कहते है और अपनी अदूरदर्शिता तथा अस्थिरता को 'वुद्धिमानी'। मेरी समझ मे यह वात वहुत परिश्रम करने पर भी नही आती कि वुद्धि और विज्ञान कैसे हमे समाज-कल्याण के लिए झूठ-कपट और मार-काट के नतीजे पर पहुँचा सकते है? हा, यह वात जरूर है कि नियम या सिद्धान्त महज दूर से पूजा करने या व्याख्यान देने की चीज नही है। वे जीवन मे उतारने, आचरण करने और मजा लेने की चीजे है। आप जीवन मे उनका आनन्द लूटिए और कठिनाइयो, विपत्तियो, विघ्न-वाधाओ, आधी-तूफानो के अवसर पर अलग रहिए, फिर देखिए आपकी वुद्धि को कितना भोजन, कितना उत्साह, कितना वल और कितना तेज एव उल्लास मिलता है! कठिनाइयो के अवसरो पर दुवक जानेवाली आपकी 'वुद्धिमत्ता' पर आपको अपने आप झेप आने लगेगी—'जैसी हवा देखो वैसा काम करो', इस नियम का खोखलापन और दिवालियापन आपको समझाने के लिए किसी दलील की जरूरत न रहेगी।

(१७) जव यह कहा जाता है कि झूठ वुरा है, कपट वुरा है, हिसा और शस्त्र-वल मनुष्य-जाति के लिए अपेक्षाकृत कल्याणकारी नही सावित हुआ है, यदि और सुधार तो कर दिये गये, पर झूठ, कपट या शस्त्र का

समाज मे स्थान रहने दिया गया तो मनुष्य लुटेरा और पशु ही बना रहेगा, तब यह अर्थ नही होता है कि जिन महान् पुरुषो ने अपने देश, जाति या धर्म की भलाई के लिए कभी-कभी झूठ-कपट का आश्रय लिया हो या शस्त्र-बल से काम लेना पडा हो तो वे देश-सेवक और उपकारक न थे। उनके लिए तो, आज के विचारो की रोशनी मे, अधिक-से-अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि यदि वे बिलकुल शुद्ध और निर्दोप साधनो से काम लेते तो और अधिक एव स्थायी उपकार कर पाते। किन्तु पूर्वोक्त कथन का यह अर्थ अवश्य है कि यदि महज प्रणाली को बदल कर मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाने का प्रयत्न नही किया, उसके हाथ मे एक ओर तलवार रहने दी गई और दूसरी ओर झूठ-कपट का रास्ता खुला रहा, तो तलवार और लुटेरेपन को अमर ही समझिए, और तबतक स्वतत्रता के नाम की कोरी माला जपते रहिए—स्वतत्रता के नाम पर स्वतत्रता का बिगडा हुआ कोई रूप आप पावेगे और फिर गुलामी के गड्ढे मे गिर पडेगे।

(१८) जहा सत्य और अहिसा मे सक्रिय प्रेम है वहा बुद्धूपन ठहर ही नही सकता। उसे धोखा देनेवाला खुद ही धोखे मे रहता है, और धोखा खाता है। सत्य और अहिसा के पालन करनेवाले को कदम-कदम पर विचार करना पडता है। सत्य का निर्णय करने के लिए उसे अपनी बुद्धि खूब दौडानी पडती है और उसे निष्पक्ष एव निर्मल रखना पडता है। सत्य के अनुयायी को यह ध्यान रखना पडता है कि मेरे कहने का भाव दूसरे ने गलत तो नही समझ लिया है। इसलिए उसे अपनी बात मे यथार्थता का पूरा ध्यान रखना पडता है। कितनी ही बाते न कहने लायक होती है—कितनी ही का कहना जरूरी हो जाता है। इसका उसे हमेशा विचार करना पडता है। अहिसावादी होने के कारण

उसे सदा अपनी बातो और व्यवहारो मे इस बात का ध्यान रखना पडता है कि दूसरे को अकारण ही दुख तो नही पहुँच गया। भरसक बिना किसीको दुख पहुँचाये वह अपने उद्देश्य मे सफलता पाना चाहता है—इससे उसे बात-बात मे विचार और विवेक से काम लेना पडता है। सत्य का प्रेमी होने के कारण वह सदा सजग रहने का प्रयत्न करता है। ऐसी दशा मे कोई कैसे मान सकता है कि सत्य और अहिंसा का अनुयायी बुद्धू होता है और लोग उसे ठग लेते हैं? हा, वह उच्च, उदार-हृदय, क्षमाशील, विश्वासशील होता है, इसलिए इससे भिन्न प्रकृति के लोग उसे बुद्धू भले ही समझ ले, पर जिन्हे सत्य और अहिंसा के महत्व का कुछ भी ज्ञान और अनुभव है, वे ऐसा कदापि नही कह सकते। जहा बुद्धूपन होगा, वहा सत्य और अहिंसा का अभाव ही होगा, अस्तित्व नही।

[७]

शस्त्र-बल के ऐवज़ में: सत्याग्रह

सत्याग्रह भारतवर्ष को और उसके निमित्त से सारे जगत् को महात्माजी की एक अपूर्व देन है। विचार-जगत् मे यद्यपि टालस्टाय ने इसको आधुनिक ससार मे फैलाने का थोडा यत्न किया है फिर भी व्यावहारिक जगत् मे तो गाधीजी को ही उसे प्रचलित करने का श्रेय प्राप्त है। इस अध्याय के आरम्भ मे हमने सत्याग्रह के मूल-तत्त्व रूप को समझने का यत्न किया है किन्तु यहा हम उसको एक बल, एक शस्त्र के रूप मे विचारने की कोशिश करेगे। महात्माजी का यह दावा है कि सत्याग्रह शस्त्र-युद्ध का स्थान सफलता पूर्वक ले सकता है। यहा हम इसी

विषय पर कुछ विचार कर लेना चाहते है। महात्माजी जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है, जिसके आधार पर उन्होने अपना जीवन बनाया है, जिसके बल पर उन्होने दक्षिण अफरीका और भारतवर्ष मे अपूर्व सफलतायें प्राप्त की है, एक-से-एक बढ कर चमत्कार दिखाये है, उसे उन्होने 'सत्याग्रह' नाम दिया है

सत्य+आग्रह इन दो शब्दो को मिलाकर 'सत्याग्रह' बनाया गया है। इसमे मूल और असली शब्द तो सत्य ही है। सत्य पर डटे रहने का नाम है सत्याग्रह। अब प्रश्न यह है कि 'सत्य' क्या है ? इसका निश्चयात्मक उत्तर वही दे सकता है, जिसने सत्य को पा लिया हो, जिसका जीवन सत्य मय हो गया हो, जो स्वय ही सत्य हो गया हो। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियो और दर्शनकारो ने इसे समझाने का यत्न किया है, पर वे इसकी महिमा का बखान करके या कुछ झलक दिखाकर ही रह गये है। मै समझता हूँ—इससे अधिक मनुष्य के बस मे है भी नही। सत्य की पूर्णता, व्यापकता और घनता न तो बुद्धिगम्य ही है और न वर्णन-साध्य ही है। उसकी व्यापकता पर विचार करने लगते है तो यह ब्रह्माण्ड भी छोटा मालूम होता है, घनता की तरफ बढते है तो कल्पित या मनोगत बिन्दु भी बडा दिखाई देता है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्म और विराट् से भी विराट् है। 'अणोरणीयात् महतो महीयात्' इससे अधिक वर्णन उसका नही हो सकता।

तब मनुष्य उसे समझे कैसे ! प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि और शक्ति के ही अनुसार उसे समझ या ग्रहण कर सकता है। तो प्रत्येक मनुष्य के लिए सत्य वही हुआ, जो उसे जच गया। तो क्या प्रत्येक जचने वाली बात को सत्य ही मान लेना चाहिए ? नही, निर्मल अन्त करण मे जो स्फुरित हो, सात्विक बुद्धि मे जो प्रवेश कर जाय, वही 'सत्य' शब्द से

परिचित कराया जा सकता है। वह वास्तविक सत्य चाहे न हो, किन्तु उस व्यक्ति के लिए तबतक तो वही सत्य रहेगा, जबतक उसे आगे सत्य का और या भिन्न प्रकार से, दर्शन न हो। इसको सापेक्ष्य या अर्ध या आशिक सत्य ही समझना चाहिए,—यह उस मनुष्य की असमर्थता, अपूर्णता अवश्य है, किन्तु अपने विकास की वर्तमान अवस्था मे इससे अधिक सत्य का दर्शन उसे हो ही नही रहा है, तो वह क्या करेगा ? वह उसी आशिक सत्य पर दृढ रहेगा और आगे सत्य-दर्शन की राह देखेगा, एव उसके लिए यत्न करेगा। सत्य-शोधन का, सत्य को पाने का यही मार्ग है। किन्तु इसमे यह बात न भूलनी चाहिए कि सत्य-शोधन मे प्रगति करने के लिए अन्त करण की निर्मलता और बुद्धि की सात्विकता को दिन-दिन बढना अनिवार्य है। ऐसा न करेंगे तो आपकी गति कुण्ठित हो जायगी, आप उसी अपने माने हुए अर्ध या आशिक सत्य पर ही—जो असत्य भी हो सकता है—चिपके रह जायेंगे और सम्भव है कि उससे आपकी अधोगति भी हो जाय।

अब इन आशिक सत्यो मे झगडा शुरू हो तो क्या किया जाय ? आप एक बात को सत्य माने हुए है, मै दूसरी बात को। और वे दोनो परस्पर विरुद्ध है तो आपका मेरा परस्पर व्यवहार और सघर्ष कैसा होना चाहिए ? सहिष्णुता का या जोर-जुल्म का ? यदि जोर-जुल्म का, तो फिर आप मुझ से मेरे सत्य पर डटे रहने का अधिकार छीनते है। यह तो सत्य की आराधना नही हुई। आपको अपना ही सत्य प्रिय है, उसी की आपको चिन्ता है, मेरे सत्य की आप बिल्कुल ही उपेक्षा करते है, तो आप जुल्मी, स्वार्थी, एकागी, पक्षपाती क्यो नही हुए ? यदि आपकी वृत्ति एसी है तो फिर क्या आप स्वय भी अपने सत्य-शोधन का रास्ता नही रोक रहे है ? इस दशा मे तो आप अपने और मेरे दोनो के सत्य के

बाधक हो गये । दूसरे शब्दो मे आप सत्य के द्रोही बन गये। पर यदि आप सहिष्णुता का व्यवहार रखते है तो अपने और मेरे दोनो के लिए सत्य-शोधन का मार्ग विस्तृत कर देते है। दोनो मे विग्रह और द्वेष की जगह प्रेम और मिठास का भाव एव सम्बन्ध बढाते है। इसी वृत्ति का नाम अहिंसा है।

सत्य के शोधन मे अहिंसा के बिना काम चल ही नही सकता । आप एक कदम भी आगे नही बढ सकते । यही नही, बल्कि अन्त करण की निर्मलता, बुद्धि की सात्विकता, जिनके बिना आपका अन्त करण सत्य स्फुरित होने के योग्य ही नही बन सकता, वास्तव मे देखा जाय तो इस अहिंसा-वृत्ति के ही फल हो सकते है । अन्त करण को निर्मल और बुद्धि को सात्विक आप तभी बना सकते हैं, जब आप अपने को राग-द्वेष से ऊपर उठाते रहेंगे । राग-द्वेष से ऊपर उठना अहिंसा का ही दूसरा नाम है।

इस तरह सत्य के साथ अहिंसा अपने आप जुडी हुई है । दोनो एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते । दोनो की एक-दूसरे से पृथक या भिन्न कल्पना करना अपने को सत्य से दूर हटाना है । फिर भी यह तो कहना ही पडेगा कि सत्य साध्य है और अहिंसा साधन । अहिंसा के बिना आप सत्य को पा नही सकते, इसलिए उसका महत्व सत्य के ही बराबर है, किन्तु उसका दरजा सत्य के बराबर नही हो सकता ।

सत्य यदि वास्तव मे सत्य है, सारा ब्रह्माण्ड यदि एक सत्य ही है, या सत्य नियम पर ही उसका आधार और अस्तित्व है, और यदि वही सत्य हममे ओत-प्रोत है तो फिर हमे अपनी छोटी-सी तलवार, पिस्तौल या मशीनगन अथवा अन्य भीषण भीमकाय शस्त्रास्त्रो से उसकी रक्षा करने की आवश्यकता ही क्या है ? क्या हमारे ये भयानक और मारक साधन उसकी रक्षा भी कर सकेगे ? यदि हम मानते है कि हा, तो फिर ये सत्य

से बढकर साबित हुए । तो फिर सत्य की अपेक्षा इन्ही की पूजा क्यो न होनी चाहिए ? 'सत्यमेव परो धर्म' की जगह 'शस्त्रमेव परो धर्म' का प्रचार होना ही उचित है । 'सत्यमेव जयते नाऽनृतम्' की जगह 'शस्त्रमेव जयते' की घोषणा होनी चाहिए । तो फिर अब तक जगत् मे किसी ने शस्त्र को सत्य से बढ कर क्यो नही बनाया ? इसीलिए कि सत्य और शस्त्र की कोई तुलना नही । शस्त्र यदि किसी बात का प्रतीक हो सकता है तो वह असत्य का । सत्य तो स्वय रक्षित है । सूर्य की कोई क्या रक्षा करेगा ? सत्य के तेज के मुकाबले मे हजारो सूर्य कुछ भी नही है । चूकि हममे सत्य कम होता है, इसीलिए हमे शस्त्र की सहायता की आवश्यकता प्रतीत होती है, क्योकि असत्य हममे अधिक होता है और वह अपने मित्र, साथी या प्रतीक की ही सहायता प्राप्त करने के लिए हमे प्रेरित करता है । अतएव सत्य का हिंसा या शस्त्र से कोई नाता नही । यह बात सूर्य के प्रकाश की तरह हमारे सामने स्पप्ट रहनी और हो जानी चाहिए ।

सत्य की शोध और सत्य पर डटे रहने की प्रवृत्ति से ही वह प्रतिकार-बल उत्पन्न होता है, जो सत्याग्रही का वास्तविक बल है । सत्य को शोधने की बुद्धि उसे नित्य नया प्रकाश देती है और जो सत्य स्फुरित हुआ है उस पर डटे रहने से उसमे दृढता, बल और असत्य से लडने की स्फूर्ति आती है । इस प्रकार सत्याग्रह मे ज्ञान और बल दोनो का समावेश अपने आप होता रहता है । जहा ये दोनो है वहा पराजय, असफलता, अशाति, दु ख और चिन्ता कैसे टिक सकते है ? सत्य के इसी अनन्त और नित्य-नवीन ज्ञान, एव अमोघ बल के आधार पर महात्माजी कहा करते है कि शुद्ध सत्याग्रही एक भी हो तो वह सारी दुनिया को हिला सकता है । कौन कह सकता है कि उनका यह दावा

बुद्धिगम्य नही है ? सत्य के त्रुटियुक्त, अपूर्ण और छोटे प्रयोगो से भी जव हमने जवरदस्त शक्ति उत्पन्न होती हुई देखी है तो इसमे क्या शक हो सकता है कि सत्याग्रही जितना ही अधिक शुद्धता और पूर्णता के निकट पहुँचेगा, उतनी ही उसकी गति, तेज, बल अपरिमित और दुर्दमनीय होगे ।

साराश यह कि एक ओर सत्य का अमित तेज, बल, पराक्रम, पौरुष, साहस और दूसरी ओर अहिसा की परम आर्द्रता, मृदुता, मधुरता विनयशीलता, स्निग्धता, सुजनता, इन दोनो के सम्मेलन का नाम है सत्याग्रह ।

सत्याग्रह एक गुण भी है और वल भी है । प्रत्येक गुण के दो कार्य होते है—एक तो हमारी अनुकूलताओ को वढाना और दूसरे प्रतिकूलताओ को रोकना । जव हमारा कोई गुण प्रतिकूलताओ को रोकता है, बाधाओ को हटाता है तव वह एक वल हो जाता है । जव हम किसी सामाजिक, व्यक्तिगत, राजनैतिक या किसी भी दोष, कुप्रथा, कु-नियम को मिटाने के लिए किसी न्याय, या सत्य वात पर अडे रहते है, सव प्रकार के कष्ट और कठिनाइयो को आनद और धीरज के साथ सहते है, किन्तु अपनी वात पर से नही डिगते तव हम सत्याग्रह को एक वल के रूप मे ससार के सामने पेश करते है । 'सत्याग्रह' वस्तु की उत्पत्ति वास्तव मे इसी वल के रूप मे हुई है, परन्तु 'सत्याग्रह' शब्द बनते समय उसमे सत्य के सभी सामाजिक गुणो का तथा स्वतत्र सत्य का भी समावेश कर दिया गया है जिससे 'सत्याग्रह' का भाव एकागी, या सकुचित या अपूर्ण न रहे ।

सत्याग्रह का एक रूप सविनय कानून भग है । यह एक वलवान अस्त्र है । जिस नियम को हम न्याय और नीति के विरुद्ध समझते हैं

उनको न मानने का हमे अधिकार है। यदि एक कु-नियम को हटाने के लिए दूसरे और समय पडने पर विरोध-स्वरूप सभी नियमो का अनादर करना पडे तो यह भी करने का हमे अधिकार है। परन्तु वुरे नियमो को हम सदा के लिए अमान्य कर सकते है और दूसरे नियमो को थोडे काल के लिए केवल विरोध-स्वरूप ही। दोनो अवस्थाओ मे अनादर का दण्ड भुगतना ही वह वल है जिससे समाज जाग्रत होता है और समाज-व्यवस्था विगडने नही पाती। यदि हमारा नियम-भग उचित होगा तो हमारा कष्ट-सहन समाज मे हलचल और जागृति उत्पन्न करेगा, यदि अनुचित होगा तो हम उसका फल अपने-आप भुगत के रह जायगे और आगे के लिए अपना रास्ता ठीक कर लेगे।

परन्तु नियम-भग का वास्तविक अधिकार उन्हींको प्राप्त होता है जो दूसरी सव परिस्थितियो मे नियमो का पालन चिन्ता के साथ करते रहते है। जो नियम-भग मे अच्छे वुरे नियमो का भेद नही करते अथवा जव चाहे तभी नियम-भग करते रहते है उनके नियम-भँग का कोई नैतिक मूल्य नही होता और इसलिए उनकी प्रतिष्ठा और प्रभाव चला जाता है और उनके नियम-भग से समाज का उपकार या सुधार भी नही होता। नियम-भग तभी प्रभावशाली होता है, तभी वह एक अमोघ अस्त्र का काम देता है जव वह वुरे नियम का हो और नियम-पालक व्यक्ति के द्वारा किया गया हो।

फिर नियम-भग सत्याग्रही का अन्तिम शस्त्र है। सत्याग्रही सवसे पहले तो उस नियम की वुराई समाज या राज्य के सूत्र-सचालको को वताता है, फिर लोकमत को तैयार करके उसके विरुद्ध शिकायत कराता है, इतने से यदि काम न चले तो आन्दोलन खडा करके उस नियम को भग करता है—और अन्त मे सारी व्यवस्था के ही खिलाफ

बगावत खडी कर देता है। इस क्रम से चलने से उसका बल दिन-दिन बढता जाता है, उसके पक्ष की न्यायता को लोग अधिकाधिक समझने लगते है और इसलिए उसके साथ सहानुभूति रखते है, उसे सहायता देते है एव अन्त मे उसका साथ भी देते है। इसके विपरीत एक बारगी नियम-भग करनेवाला अकेला रह जाता है और हतबल होजाता है।

इस प्रकार सत्याग्रही एक सुधारक होता है, जहा भी उसे असत्य, अन्याय, अनौचित्य मालूम होगा वही वह सुधार करने मे प्रवृत्त होगा। उसका सुधार करने के लिए यदि उसे विरोध करना पडेगा, लडाई लडनी पडेगी तो वह पीछे नही हटेगा, परन्तु वह लडाई मोल ले लेने के लिए किसी के घर नही जायगा। 'आ बैल सीग मार' यह उसकी रीति नही होगी। उसका पथ निश्चित है। वह चला जा रहा है। रास्ते मे कठिनाई, रुकावट, विघ्न आजाते है तो उन्हे हटाने लगता है। इसीके लिए उसे विरोध, आदोलन,लडाई करनी पडती है। जब विघ्न हटगया, रास्ता साफ होगया, वह फिर शान्ति और उत्साह के साथ आगे बढने लगता है। इस अर्थ मे वह योद्धा तो है, युद्ध उसे कदम-कदम पर करना पडता है—कभी अपने दुर्गुणो के साथ, कभी कुटुबियो के साथ, कभी समाज के नेताओ के साथ और कभी राज्य-कर्त्ताओ के साथ, किन्तु युद्ध उसके जीवन का लक्ष्य नही है।

सत्याग्रही व्यक्ति का सुधार चाहता है, उसका नाश नही। क्योकि वह मानता है कि कोई भी व्यक्ति दो कारणो से अन्याय, अत्याचार करता है या किसी दोष को अपनाता है। या तो स्वार्थ-वश या अज्ञान-वश। स्वार्थ-साधना की जड मे भी अन्तत अज्ञान ही है। अब अज्ञान को दूर करने के, मनुष्य को जाग्रत और न्यायी बनाने के दो ही साधन उसके पास है—एक तो युक्तियो के द्वारा उसके दिमाग को समझाना

और इतने से काम न चले तो स्वय कष्ट उठाकर उसके हृदय को जाग्रत करना। मारकर व्यक्ति को वह मिटा सकता है, पर उसका सुधार नही कर सकता। वह अन्यायी और अत्याचारी को सुधार करके अपना मित्र, साथी बनाना चाहता है। उसका नाश करने से यह उद्देश सिद्ध न होगा। फिर व्यक्ति का नाश करने से हम उसके गुणो का भी तो नाश कर देगे। बुरे से बुरे व्यक्ति के भी लिए हम यह नही कह सकते कि उसमे कोई गुण नही है। यदि उसमे गुण है तो उसकी रक्षा करना, उससे समाज को लाभ पहुँचाना हमारा धर्म है। हा, उसकी बुराई को हम नही चाहते— तो बुराई को मिटाने का उद्योग करे। किन्तु बुराई मिटाने के ऐवज मे हम उस व्यक्ति को ही मिटा दे तो क्या इसे हमारी उद्देश- सिद्धि कहेगे ?

सत्याग्रही व्यक्ति पर तलवार इसलिए भी नही उठाना चाहता कि वह मानता है कि अपने विचारो के अनुसार चलने का अधिकार सब को है। अधिकार के मानी है समाज द्वारा स्वीकृत नियम के अन्दर चलने की पूर्ण स्वाधीनता। यदि आपके और उसके विचार या निर्णय मे भेद है तो क्या एक के लिए यह उचित है कि इसी बात के लिए दूसरे का नाश कर दे ? सत्याग्रही, ऐसे प्रसगो पर, दूसरो पर बलात्कार करने की अपेक्षा स्वय कष्ट उठाता है। अपनी इस सहनशीलता के द्वारा एक तो वह दूसरे को अपने विचारो पर चलने की उतनी स्वाधीनता देता है जितनी कि वह खुद लेता है और दूसरे उसके मन मे एक हलचल पैदा करता है कि मै गलती पर तो नही हूँ। उसे वह आत्म-निरीक्षण मे प्रवृत्त करता है। यह आत्म-निरीक्षण उसे सुधार के पथ पर पहुँचाता है। बस सत्याग्रही का काम हो गया।

सत्याग्रही की अहिंसा का सम्बन्ध व्यक्तियो से है, प्रणालियो, नियमो और सगठनो से नही। आवश्यकता होजाने पर इन्हे मिटानें मे वह

बिलकुल हिचकिचाहट नही करता। वह मानता है कि प्रणालिया आखिर मनुष्य ही बनाता है इसलिए मनुष्य के सुधार के साथ प्रणालिया भी सुधरने लगेगी। यह सच है कि प्रणालिया भी मनुष्य के सुधार के ही लिए बनाई जाती है और यदि प्रणाली अच्छी हुई तो मनुष्य जल्दी सुधर सकेगा, परन्तु प्रणाली और मनुष्य की तुलना मे मनुष्य बडा है। इसलिए मनुष्य को नष्ट कर देने की कल्पना सत्याग्रही को अनुचित और हानिकर मालूम होती है। किसीको मारने की कल्पना हम तभी-तक कर सकते है जब तक हम अपने हित का विचार करते है—यदि उसके हित का विचार करने लगे तो तुरत समझ मे आ जायगा कि मारना हमारी स्वार्थ-साधुता है। जो मनुष्य सबके हित की भावना नही कर सकता तो वह सत्य का अनुयायी कैसे हो सकता है ? और यदि सत्य का अनुयायी नही है तो वह अपनी और समाज की प्रगति कैसे कर सकता है—यह समझ में आना कठिन है। अब तक का इतिहास और वर्तमान जगत् इसलिए हमारी विशेष सहायता नही कर सकता कि वह स्वय ही अपूर्ण और दुखी है। यदि हिसा और असत्य के मुकाबले मे अहिंसा और सत्य हमे व्यक्ति और समाज के लिए अधिक हितकर मालूम होते हो तो हमारा इतना ही कर्त्तव्य है कि हम उनका दृढता से पालन करते चले जायँ। यह सम्भव है या नही, ऐसी शका किसी पुरुषार्थी के मन मे तो नही उत्पन्न होनी चाहिए। जगत् के कई असम्भव समझे जानेवाले चमत्कार मनुष्य के ही प्रयत्न और पुरुषार्थ के फल है। यदि हम समाज मे सुव्यवस्था कर सके, शिक्षा और सस्कार फैलाने की अच्छी योजना कर सके तो यह ऐसी बात नही है जो मनुष्य की क्षमता के बाहर हो। सत्याग्रही मनुष्य के अपार बल को जानता है; इस लिए न तो असभावनाओ से हतोत्साह होता है, न विघ्नो से घबराता

है। सत्याग्रही निराशा, असफलता और थकान को जानता ही नही। यदि हमने सत्य को आशिक रूप मे भी अनुभव कर लिया है तो बिना किसी बाहरी प्रेरणा और प्रोत्साहन के भी हमारी प्रगति दिन-दिन होती ही चली जायगी और हमारे पथ की बाधाये हुकार-मात्र मे हटती चली जायगी।

सत्य मे यह बल और यह सामर्थ्य कहा से आ गया ? सत्य चूकि सारे जगत् मे फैला हुआ है इसलिए उसकी ओर सबका सहज आकर्षण है। जो व्यक्ति केवल सत्य की ही साधना करता है, सत्य के पीछे तमाम सुखो, वैभवो और प्रियजनो को भी छोडने के लिए तैयार रहता है उसके प्रति शत्रु-मित्र सब खिचते चले आते है। उनके अन्दर समाया हुआ सत्याश उन्हे बडे सत्याश की ओर खीचकर ले जाता है। फिर सत्याग्रही दूसरे को कष्ट देना नही चाहता—दूसरे का बुरा नही चाहता, तो ऐसा कौन होगा जो उसकी सहायता करना न चाहे ? वह तो शत्रु से भी प्रेम करना चाहता है, तो शत्रु उससे कितने दिन तक शत्रुता रख सकेगा ? शत्रु या प्रतिपक्षी तक जिसके सहायक होने लगते है उसे सफलता क्यो न मिलती जायगी ? सफलता मे उसे उतनी ही कमी रहेगी, या देरी लगेगी जितनी कि उसकी सत्य और अहिसा की साधना मे कसर रहेगी।

चूकि समाज व्यक्तियो से ही बना है, इसलिए व्यक्तियो के और व्यक्तियो पर किये गये प्रयत्नो से समाज प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। समाज मे कुछ ही व्यक्ति सूत्र-सचालक हुआ करते है। जन-समाज प्राय उन्हीका अनुसरण करता है। यदि हमने उन कुछ लोगो को अपने सत्य और अहिसा-बल से प्रभावित किया होगा तो उनके सारे समाज पर और उनकी बनाई प्रणालियो पर उसका असर हुए बिना कैसे रह सकता है ? सत्याग्रही जब यह कहता है कि मै तो हृदय-

परिवर्तन चाहता हूँ तव उसका यह भाव होता है कि प्रतिपक्षी हमारे सत्य और अहिंसा-बल को अनुभव करे—पहले उसके मन मे यह क्रिया होने लगती है कि 'अरे, इनका कहना ठीक है, इनकी बात वाजिब है, इनकी माग न्यायोचित है।' इसके वाद हमारे कष्ट-सहन और उसके आत्म-निरीक्षण से उसके हृदय-कपाट खुलने लगते है और हम पर अत्याचार करते हुए भी उसका दिल भीतर से कमजोर पडता चला जाता है। फिर एक दिन आता है जब वह थक जाता है और हमारा मतलब पूरा करने की तैयारी दिखाता है। यही हृदय-परिवर्तन की क्रिया के चिन्ह है। जब वह हमारा मतलब पूरा कर देता है तब हृदय-परिवर्तन पूर्ण हो जाता है। सत्य ओर अहिसा की यही विशेषता है कि वह प्रतिपक्षी की बुराई को मिटाकर उसे हमारा मित्र और साथी बनाता है एव दोनो ओर प्रेम, सद्भाव, एकता की वृद्धि करता है—जहा कि असत्य और अहिसा कभी एक को और कभी दूसरे को मिटाने का यत्न करते हुए द्वेष, मत्सर, कलह, वैर और इनके कितने ही बुरे साथियो का प्रावल्य समाज मे करता रहता है।

शत्रु का मरना हमे सहज और स्वाभाविक इसलिए प्रतीत होता है कि हमने अपने स्वार्थ पर ही प्रधान दृष्टि रक्खी है। हम यह भूल जाते है कि हमारा शत्रु भी आखिर मनुष्य है, उसे भी घर-वार, वाल-वच्चे है, उसका भी समाज मे कुछ स्थान है, उसमे भी आखिर कुछ गुण है और उनका भी समाज के लिए उपयोग है। कोई मनुष्य अपनी वुराई के ही वल पर समाज मे नही टिका रह सकता। हमे उसकी अच्छाई ढूढने का यत्न करना चाहिए। ऐसा करने पर हम अपनी इस भूल को तुरन्त समझ लेगे। यदि हम स्वार्थी होगे तो हम न्यायी नही हो सकते। यदि हम न्यायी नही है, तो हममे और हमारे शत्रु मे, जिसे कि हम

अन्यायी कहते है, अन्तर क्या रहा ? सिर्फ अशो का ही अन्तर हो सकता हो। पर इसका भी कारण यह क्यो न हो कि हमे अभी इतने अन्याय और अत्याचार की सुविधा नही मिली है। यदि मूल, बुराई हमारे अन्दर मौजूद है और हमे उसकी चिन्ता नही है तो सुविधा और अनुकूलता की देर है कि हम अन्यायी और अत्याचारी बनने लग जायँगे। यदि हम अपने स्वार्थ को उतना ही महत्व देगे जितना कि दूसरे के स्वार्थ को तो हमे किसी को मार-मिटाने की कल्पना अग्राह्य होने लगगी।

यहा हमे यह न भूलना चाहिए कि हिंसा का सम्बन्ध मनुष्य के मन और शरीर से है। किसी के शरीर और मन को कष्ट पहुँचाना ही हिसा है। आत्मा तो दोनो की उससे परे है। आत्मा को कष्ट नही पहुँचता, परन्तु शरीर और मन को अवश्य पहुँचता है। यदि आत्मा की एकता और अमरता पर ही हमारी मुख्य दृष्टि है—शरीर और मन के सुख-दु खो का विचार नही है तो फिर अत्याचार, पराधीनता आदि की भी शिकायत हमे क्यो करनी चाहिए? हमे यदि गोली मारी जाय तो बुरा कहा जाता है, पर यदि हम मार दे तो उसे हम जायज मानते है, यह न्याय समझ मे नही आता। यदि आप वास्तव मे न्याय-प्रिय है तो दोनो के हित, कार्य और स्वार्थ पर समान दृष्टि रखिए। यदि आप दोनो एक ही साधन को जायज मानते है तब तो फिर आपके और उसके बीच न्याय-अन्याय का प्रश्न नही है—सत्यासत्य का प्रश्न नही है बल्कि बलाबल और अनुकूलता-प्रतिकूलता का प्रश्न है। यदि आप सूक्ष्म रीति से विचार करेगे तो आप तब तक न्याय करने मे समर्थ न हो सकेगे जब तक आप हिंसा को अपने हृदय मे स्थान देते रहेगे। जब तक आपमे हिंसा भाव होगा तब तक आपकी वृत्ति अवश्य स्वार्थ की ओर अधिक झुकेगी और दूसरे का सुख, स्वार्थ, हित आपके हृदय में

सुरक्षित न रह सकेगा। यदि आप सच्ची समता, साम्य भाव चाहते है तो आपको शत्रु-मित्र के प्रति एक-सी न्याय-भावना रखनी होगी। जब तक शत्रु के प्रति मन मे द्वेष है तब तक उसे कष्ट पहुँचाने की भावना बनी ही रहेगी। और जब तक द्वेष है तब तक समता और न्याय की सम्भावना कैसे रहेगी?

सत्याग्रही सत्य और न्याय के लिए लडता है। वह दिन-दिन प्रबल इसीलिए होता चला जाता है कि वह शत्रु-मित्र सबके साथ न्याय करना चाहता है—न्याय से ही रहना चाहता है। वह शत्रु को मिटाना नही, सुधारना चाहता है। इसलिए शत्रु भी उसकी बडाई को मानता है। सत्याग्रही अपने शरीरबल के द्वारा नही, बल्कि आत्मिक गुणो और बलो के द्वारा शत्रु को प्रभावित करना चाहता है। वह अपने शत्रु के हृदय पर विजय प्राप्त करना चाहता है। शारीरिक विजय की परिणति प्रति हिंसा मे होती रहती है—जहा कि हार्दिक विजय की परिणति मैत्री मे होती है। बल्कि सत्याग्रह मे हार-जीत किसी एक पक्ष की नही होती—दोनो की विजय होती है—सत्याग्रही की उसके प्रतिपक्षी पर और प्रतिपक्षी की अपनी बुराइयो पर। इस तरह सत्य और अहिंसा अर्थात् सत्याग्रह उभय-कल्याणकारी है।

[८]

सत्याग्रह और आध्यात्मिकता

कितने ही स्थूल बुद्धि लोग आध्यात्मिक शब्द सुनते ही बिगड उठते है। जब यह कहा जाता है कि सत्याग्रह एक आध्यात्मिक बल है तब उनकी बुद्धि चक्कर खाने लगती है। वे महात्माजी को यह

कहकर कोसने लगते हैं कि इन्होने राजनीति मे धार्मिकता और आध्यात्मिकता घुसेडकर देश को पीछे हटा दिया है। अतएव इस बात की परम आवश्यकता है कि हम आध्यात्मिक शब्द का मर्म समझने का यत्न करे।

हर वस्तु के दो रूप होते हैं—एक सूक्ष्म और मूल तथा दूसरा स्थूल और विस्तृत। वस्तु के सूक्ष्म और मूल रूप को आध्यात्मिक एव स्थूल तथा विस्तृत रूप को व्यावहारिक कहते हैं। पहला अदृश्य और दूसरा दृश्य होता है। पहला वीज और दूसरा पेड है। इतना समझ लेने पर महात्माजी की धार्मिकता और आध्यात्मिकता का व्यावहारिक—राजनैतिक भाषा मे अर्थ किया जाय तो वह ईमानदारी, दयानतदारी, वफादारी, सच्चाई, यही हो सकती है। महात्माजी कहते हैं कि सत्याग्रह का पूरा चमत्कार देखना हो तो उसेठीक उसी तरह चलाओ,जिस तरह मै वताता हूँ। क्या उनका यह कहना अनुचित है? उन्होने वार-वार कहा है कि सत्याग्रह को वल मिलता है मनुष्य को अपनी सच्चाई से। क्या अपने तई सच्चा होना एक मनुष्य और स्वतत्रता के सिपाही के लिए लाजिमी नही है? सच्चाई के मानी भी आखिर क्या है? तन, मन और वचन की एकता। यह एकता तो किसी भी कार्य की सफलता के लिए अनिवार्य है, फिर ३५ करोड को आजाद बनाने के यत्न मे सफलता पाने के लिए इसकी उपेक्षा हम कैसे कर सकते है?

सत्याग्रह प्रेम का अस्त्र है। यदि हम शत्रु से वैसा ही प्रेम कर सके, जैसा कि हम अपने भाई से करते है, तो हम अकेले भी उसे जीतने के लिए काफी है। परन्तु जो इतने ऊँचे न उठ सके, वे यदि वदले की भावना भी निकाल दे तो सत्याग्रह के वल का अनुभव अपने अन्दर कर सकते है, और शत्रु भी उसे अनुभव किये विना न रहेगा। यदि शत्रु का हृदय स्वार्थ से इतना गन्दा और अन्धा हो गया है कि हमारा प्रेमास्त्र सीधे

उसके हृदय को नही जगा सका, तो हमारे और उसके मित्रो और हमदर्दो पर उसका असर इतना जरूर पडेगा कि उनकी सयुक्त शक्ति उसके हृदय को जगने पर मजबूर कर देगी । सत्याग्रह तो अमोघ और पावक बल है । ऐसा बल है कि वह उस शस्त्र के बाधनेवाले को भी मनुष्यत्व मे ऊँचा उठाता है, और जिस पर वह चलाया जाता है उसे भी ऊँचा उठने के लिए मजबूर करता है । दोनो का फल होता है आम तौर पर समाज मे मनुष्यता की वृद्धि । इस प्रकार सत्याग्रह की लडाई हमे पशु की भूमिका से उठाकर मनुष्य की भूमिका मे ले जाती है ।

यदि राजनैतिक आन्दोलन या युद्ध का अर्थ यह किया जाय कि उसका आधार तो प्रतिहिंसा ही है, शत्रु के प्रति घृणा और बदले की भावना ही वह बल है जिससे एक देशभक्त को बलिदान की प्रेरणा मिलती है, तब तो देशभक्ति, राष्ट्रीयता, राष्ट्र-प्रेम नाम की कोई स्वतत्र वस्तु नही रह जाती है । और यदि इसीका नाम देश-भक्ति या राष्ट्र-सेवा है, तो कहना होगा कि हमने मनुष्यता को पशुता के समकक्ष कर दिया है । प्रतिहिंसा पशु का धर्म है, मनुष्य मे वह पशुता के अवशिष्ट को सूचित करती है । मनुष्य के विकास की गति पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर है और मानवी गुणो का समुचित विकास किये बिना हम न तो ऐसी राज्य-व्यवस्था और न समाज-व्यवस्था कायम कर सकेगे, जिसमे बहुजन-समाज का अधिकाश हित सिद्ध हो सके । यदि घृणा, प्रतिहिंसा, बदला, इन भावनाओ की बुनियाद पर हम राज्य-व्यवस्था बनायेगे तो समाज मे इन्हीकी स्पर्धा मुख्य होगी और समाज के सूत्र उन्हीके हाथो मे रहेगे जो इन बलो में बढ-चढ कर हो । क्या उनसे हम जनता के स्वराज्य की आशा रख सकते है ? वर्तमान प्रजा-सत्ताओ मे यद्यपि स्वतत्र-देशभक्ति जैसी चीज भी है, तथापि मानना होगा कि उनके राष्ट्र-धर्म का आधार परस्पर का भय

अर्थात् हिसा प्रति-हिंसा का वल है। किन्तु यदि हमे उसीका अनुकरण करना हो, तो कहना होगा कि हम पश्चिमी राष्ट्रो के वर्तमान आन्दोलनो से, स्थान-स्थान पर फूटती हुई क्रान्ति-धाराओ से, कोई शिक्षा लेना नही चाहते।

यदि राष्ट्र-धर्म, स्वातन्त्र्य-प्रेम, स्वतन्त्र वस्तु है, हम अपने राष्ट्र और स्वातन्त्र्य के लिए सब कुछ स्वाहा कर दे सकते है, तो उसीकी साधना के लिए क्या हम अपने कुछ दोषो, कुछ भावनाओ को त्याग या वदल नही सकते ? मान लीजिए कि हमारे सामने प्रतिहिंसा का मार्ग वन्द हो—फिर वह हमको चाहे कितना ही प्रिय हो और हमारी दृष्टि मे कितना ही फलोत्पादक हो—और शत्रु से प्रेम किये विना, अथवा वदले का भाव हटाये विना, हम उस पर हावी न हो सकते हो, तो क्या हमारे राष्ट्र-धर्म और स्वातन्त्र्य-प्रेम का यह तकाजा नही है कि हम इतना-सा त्याग उसके लिए कर दे ? यदि हम इतना भी नही कर सकते, जो कि हमारे जीवन का एक अश-मात्र है, और सो भी अवाछनीय अश है, तो कैसे माना जा सकता है कि हम अपने-आपको उसके लिए सच्चे अर्थ मे मिटा दे सकते है ? यह कितने आश्चर्य की वात है कि देश-हित के लिए हम नीच कर्म तक करनेवाले की तो सराहना करे, किन्तु यदि हमसे उच्च कर्म करने के लिए कहा जाय, उच्च भावनाओ का पोषण करने के लिए कहा जाय, तो हम कहे—'हम देवता नही है, हमसे तो असम्भव शर्ते करायी जाती है!' यदि हम देवता नही है, तो मै कहता हूँ कि, हम पशु भी नही है। हम पशुता से मनुष्यता की ओर जा रहे है और देवता वनना पशु वनने से तो हरगिज वुरा नही है।

राजनीति क्या मनुष्य के समग्र जीवन और समाज के व्यापक जीवन से कोई भिन्न या वाहर की वस्तु है ? यदि नही, तो उसे मानव और

समाज-जीवन से मिलकर ही रहना पडेगा और उसकी पुष्टि ही उसे करनी पडेगी। यह कितनी अदूरदर्शिता है कि हम समस्त और सम्पूर्ण मानव-जीवन को भुलाकर राजनीति का विचार करे और फिर उन लोगो को वुरा कहे जो एक अश पर नही वल्कि सम्पूर्णता पर विचार किये हुए हैं और अश को अश के वरावर एव पूर्ण को पूर्ण के वरावर महत्व देते है।

सत्याग्रह के प्रयोगो के कुछ फल तो हमने देख लिये है। हमारी अधीरता यदि सत्याग्रह की पूरी कीमत चुकाने के लिए तैयार नही है, और जिस 'राजनीति के हम हिमायती वन रहे हैं उसमे से यदि ईमानदारी, सच्चाई, वफ़ादारी, दयानतदारी निकाल दी जाय, तो वह आजादी का परवाना वनने के वजाय गले की फासी सिद्ध होगी, इसमे जरा भी सन्देह नही है।

[९]

सत्याग्रह—व्यक्तिगत और सामूहिक

वहुतेरे लोग समझते है कि व्यक्तिगत और सामूहिक सत्याग्रह मे केवल मात्रा का ही भेद है—दिये अलग-अलग जलते है तव तक व्यक्तिगत है और हजारो दिये एक साथ जलने लग गये तो वही सामूहिक हो गया। पर केवल इतना ही समझ लेना काफी नही है। व्यक्तिगत सत्याग्रह जहा गुण पर विशेष ध्यान देता है तहा सामूहिक मे सख्यावल प्रधान है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि उसमे गुण-वल वाच्छनीय नही है। उसका तो अर्थ सिर्फ इतना ही है कि कुछ व्यक्तियो में जिस गुण-वल की आशा रक्खी जा सकती है, वह सामूहिक मे सहसा सभवनीय नही है। व्यक्तिगत सत्याग्रह की विशेपता या प्रभावोत्पादकता

उसकी शुद्धता और उज्ज्वलता मे ही है, जहा कि सामूहिक की सख्या-वल मे। नि सन्देह दोनो के प्रभाव मे भी अन्तर होगा। व्यक्तिगत सत्याग्रह, शुद्ध— उज्ज्वल होने के कारण, सात्विक और निर्मल स्फूर्ति हृदय मे पैदा करेगा, जिसके प्रति वह किया गया है उसमे भी, तथा आसपास के वायुमण्डल मे भी वह प्रेरणा और पथ-दर्शन का काम देगा, किन्तु सामूहिक अपने सत्यावल मे आपके कामको ही वन्द कर देगा, आपकी गति को ही, आपके यन्त्र या तन्त्र को ही रोक देगा। व्यक्तिगत सत्याग्रह का प्रभाव सीधा मनुष्य के हृदय पर पडेगा, वह उच्च भावनाओ और उच्च विचारो के क्षेत्र मे विचरने लगेगा, और उच्च मनोवृत्ति से अपना निर्णय करेगा। इससे भिन्न, सामूहिक सत्याग्रह मुकावलेवाले के सामने अपने हानि-लाभ का चित्र खडा कर देगा, उसके मन मे यह तुलना होने लगेगी कि इसकी माग को पूरा कर देने मे भलाई है, या अपनी वात पर डटे रहने मे। यदि सामूहिक सत्याग्रह काफी जोरदार है तो उसे यही निर्णय कर लेना होगा कि आपकी माग पूरी कर दे। व्यक्तिगत सत्याग्रह अपनी निर्मल, उज्ज्वल, निर्धूम ज्योति से वायुमण्डल को प्रदीप्त करता है, तहा सामूहिक की एकत्र आग चारो ओर अपनी लपटे फैलाती हुई एक प्रचण्ड ज्वाला निर्माण करती है, जिसमे वडे-वडे भयकर और विषैले जन्तु भी स्वाहा हो जाते हैं और सारा वायुमण्डल तपने लगता है। यदि समाज सुसस्कृत है तो व्यक्तिगत सत्याग्रह काफी और शीघ्र-परिणामदायी हो सकता है, किन्तु यदि समाज हानि-लाभ की ही भाषा समझता और बोलता है, तो सामूहिक सत्याग्रह ही वहा अधिक और जल्दी परिणाम ला सकता है। सामूहिक सत्याग्रह मे क्रान्तिकारिणी शक्ति है। किन्तु यह न मान लेना चाहिए कि सामूहिक सत्याग्रह के सचालको से भी वही गुण-वल न

चाहा जाता हो, जो व्यक्तिगत सत्याग्रह से चाहा जाता है। जब तक व्यक्तिगत सत्याग्रह की परीक्षा मे उत्तीर्ण सयोजक या सचालक न हो, तब तक सामूहिक सत्याग्रह चलाया ही नही जा सकता।

सत्याग्रह-युद्ध एक पूर्ण युद्ध-कला है, और वह विधि-वत् ही होना चाहिए। उसका पूरा शास्त्र अभी बन नही पाया है, और न बन ही सकेगा। क्योकि सत्य नित्य नवीन विकास पानेवाली वस्तु है, इसलिए सत्याग्रह का शास्त्र कभी पूर्ण नही होगा, वह भी नित्य नया विकास पावेगा। फिर भी उसके स्थूल नियम और कसौटिया तो स्थिर होती जायँगी, जैसे-जैसे भिन्न-भिन्न प्रयोगो के फलाफल पर विचार होकर निर्णय बँधते जायँगे। मनुष्य की अपनी अपूर्णता भी सत्याग्रह-शास्त्र को पूर्ण न होने देगी। और इसमे कुछ हानि का भी डर न रखना चाहिए। सत्याग्रह मे सत्य की शोध तो जारी रहती ही है अर्थात् एक परिणाम के अनुभव के आधार पर दूसरा प्रयोग किया और उसके परिणाम पर तीसरा। इसी तरह जब तक एक वैज्ञानिक की तरह सत्याग्रही की सत्यशोधक-वृत्ति जागृत और उद्यत है तब तक हानि का कोई डर नही है। क्योकि सत्याग्रह का मूल बल आन्तरिक वृत्ति पर जितना अवलम्बित है उतना बाहरी नियमोपनियम पर नही।

[१०]

सत्याग्रह—वैध या अवैध

यद्यपि केवल भारतवर्ष ही नही सारा जगत् पिछले २० वर्षो से सत्याग्रह के व्यक्तिग तऔर सामूहिक प्रयोगो से परिचित है फिर भी हमारे देश मे तथा बाहर भी एक ऐसा समुदाय है जो सत्याग्रह को

'अवैध' मानता है। इसलिए यहा हम इस विषय पर भी विचार कर लेना चाहते है।

सविनय कानून-भग सत्याग्रह का एक राजनीतिक स्वरूप है और इसी पर आपत्ति उठाई जाती है। वे कहते है कि राज-नियमो के भग करने का किसीको अधिकार नही है। राज-नियम यानी कानून आखिर तो प्रजा के प्रतिनिधियो के ही द्वारा प्रजा के भले के लिए ही बनाए जाते हैं। फिर उनको भग करनेवाला प्रजा-द्रोही, प्रजा का मान भग करनेवाला, समाज की व्यवस्था को तोडनेवाला क्यो न माना जाय ? और ऐसे प्रजा-द्रोह को यदि वैध माना जाय तब तो व्यवस्था, शाति, प्रजा-हित सबका खातमा ही समझना चाहिए। सरकार के लिए यह एक जटिल समस्या हो जायगी। यही एक ऐसा बडा काम हो जायगा कि उसको सुलझाने और उसका मुकाबला करने मे ही उसकी सारी या अधिकाश शक्ति लगती रहेगी एव दूसरे जन-हितकारी कामो के लिए उसे अवकाश ही नही रहेगा। अतएव कानून-भग का अधिकार किसीको देना सरकार और समाज का नाश करना है।

सत्याग्रह या सविनय कानून-भग के हिमायती कहते है कि कानून प्राय बहुमत से पास होते है ओर उस अश में अल्प-मत पर उनका प्रयोग उनकी इच्छा के विरुद्ध होता है, अतएव यदि वे नियम या कानून या उसके किसी अश को न मानें तो उनका यह व्यवहार सर्वथा नीतियुक्त है। फिर यदि नियम या कानून ऐसा हो जिससे उनकी समझ मे प्रजा के वास्तविक नही, बल्कि झूठे प्रतिनिधियो द्वारा बनाये गये हो, जिन से सरेदस्त प्रजा का पोषण नही, शोषण होता हो, तो उनका तोडा जाना, उनके खिलाफ बगावत खडी करना, धर्म और पुण्य कार्य है, उनके आगे सिर झुकाना अधर्म और पाप है। यदि ऐसे नियमो के विरोध और

भग करने का अधिकार प्रजा और उसके प्रतिनिधियो को न रहे तो अनर्थ होगा। अन्याय और अत्याचार का ठिकाना न रहेगा। मुट्ठी भर लोग धन-बल या प्रभाव-बल से प्रजा के प्रतिनिधियो के आसन पर बैठ कर प्रजा के हित के नाम पर प्रजा को चूसते रहेगे और मनमानी करते रहेगे। क्या इसीका नाम व्यवस्था और सरकार है? ऐसी सरकार का विरोध करने का अधिकार प्रजा के पास न रहने से ही एक ओर सशस्त्र बगावत और क्रातिया होती है, एव प्रजा शासको के अत्याचार से त्राहि-त्राहि करती है। भारत को छोड दीजिए जहा कि विदेशी शासन है, किंतु उन देशो को ही लीजिए जहा कि स्वदेशी शासन है। वहा भी यह पुकार जोरो से मच रही है कि थोडे से प्रभावशाली और बलशाली व्यक्ति मनमाने तौर पर प्रजा की बागडोर घुमाते है, थोडे लोगो के, धनी, रईस, जमीदारो के, हितो की ही विशेष परवा करते है, और जन-साधारण, किसान-मजदूरो, की पूछ और सुनवाई नही होती। यदि सरकार समाज की बनाई हुई होती है, और यदि समाज मे जन-साधारण किसान-मजदूरो की ही सख्या अधिक है, तो फिर कानून ऐसे ही बनने चाहिएँ जिनसे जनता का भला हो। ऐसे ही कानून नीतियुक्त हो सकते है। किंतु यदि इसके विपरीत होता हो तो ऐसे कानून का बल नैतिक नही रह जाता और इसलिए उन्हे तोडना किसी प्रकार अपराध या प्रजाद्रोह नही हो सकता।

दोनो प्रकार की दलीले सुनने के बाद हम स्पष्टत इस परिणाम पर पहुँचते है कि केवल अक्षरार्थ करने से पहले पक्ष की बात भले ही एक हद तक ठीक प्रतीत होती हो, किंतु यदि मूलाधार पर ध्यान रक्खा जाय तो दूसरे पक्ष का ही कथन यथार्थ है। शरीर की अपेक्षा आत्मा का महत्त्व सदा से ही अधिक रहा है, रहना चाहिए और रहेगा। कानून

शरीर है, जन-हित आत्मा है। यदि कानून जन-हित का-विरोधी हो तो उसका भग करना सब से वडा जन-हित है। और जिन पर समाज या शासन व्यवस्था का भार हो उन्हे उचित है कि वे कानून भग करने वालो की बातो को प्रेम और गौर से सुने और उनका समाधान करने का यत्न करे, न कि सत्ता-वल से उन्हे दबावे या कुचले। प्रजा-हित का जितना दावा शासक करते है, कम से कम उतना ही दावा वे कानून भग करनेवालो का मान लेगे तो फिर उन्हे उनके दमन करने का प्रयोजन ही न रह जायगा। यदि कानून-भग करनेवालो की एक वडी जमात वन गई तब तो शासको के लिए, यदि वे सच्चे अर्थ मे शासक है तो और भी उचित है कि उनकी मागो पर गौर करे और उनकी पूर्ति करे। जो शासक ऐसा नही कर सकते है, समझना चाहिए कि उनकी व्यवस्था का नैतिक आधार खिसक गया है और वह अधिक समय तक नही टिक सकेगी।

[११]

उपवास और भूखहड़ताल

सविनय कानून-भग की तरह सत्याग्रह के दो और अश है—उपवास और भूखहडताल। आत्मशुद्धि और प्रायश्चित्त की भावना से जो अनशन किया जाता-है उसे उपवास और दूसरे से अपनी न्यायोचित माग को पूरा कराने के उद्देश से जो अनशन किया जाता है उसे भूख-हडताल कहते है। भारतवासियो के धार्मिक जीवन मे यद्यपि उपवास कोई नई वस्तु नही है; परन्तु फिर भी गाधीजी जिस तरह और जिस स्वरूप मे उसे देश के सामने ,रख रहे-है वह-प्रत्येक हिन्दू ही नही,

भारतवासी के मनन करने योग्य है। गाधीजी ने अपने जीवन मे कई बार उपवास किये है। उन पर इधर-उधर आपस मे और सार्वजनिक-रूप से टीका-टिप्पणिया तो बहुत हुई, परन्तु मुझे दुख है कि, हमने इन उपवासो के महत्व और रहस्य को समझने का, जितना कि चाहिए, यत्न नही किया। यह उदासीनता या उपेक्षा हमारी निर्बलता और निर्जीवता की सूचक है। जीवित मनुष्य वह है जो नये विचार, नये प्रकाश और नवीन धारा के लिए अपना जीवन-द्वार खुला रखता है। विवेक से काम लेना एक बात है और दरवाजा बन्द कर रखना या आगन्तुक की उपेक्षा करना दूसरी बात है। उपेक्षा से विरोध हजार दर्जे अच्छा। विरोध मे जीवन होता है। विरोध से जीवन खिलता है। उपेक्षा और उदासीनता मीठे जहर की पिचकारी है। उपेक्षा और उदासीनता मनुष्य और समाज को अन्त मे निर्बल, भीरु और निस्सत्व बनाकर छोडते है।

उपवास के दो स्वरूप है—एक आध्यात्मिक, अर्थात् जिसका प्रधान असर कर्त्ता पर होता है और दूसरा व्यावहारिक, जिसका प्रधान असर दूसरो पर होता है। विवाद अध्यात्मिक उपवास के सम्बन्ध मे इतना नही खडा होता जितना व्यावहारिक के सम्बन्ध मे। आत्मशुद्धि के लिए उपवास की योग्यता को प्राय सब स्वीकार करते है, किन्तु दूसरो को सुधारने या दूसरो से अपनी माग पूरी कराने के लिए किये गये उपवास अर्थात् भूख-हडताल को लोग या तो बलात्कार कहते है या कायरता। मुडचिरापन कहकर लोग उसका मखौल भी उडाते है। परन्तु यदि गम्भीरता से वे इस पर सोचने लगे तो तुरन्त जान जायँगे, कि जो मनुष्य किसी उच्च और न्याययुक्त उद्देश के लिए रोज थोडा-थोडा घुल घुलकर अपने प्राण का बलिदान करे वह कायर कैसे कहा जा सकता है? उसी प्रकार जो दूसरे को किसी प्रकार का कष्ट न देकर स्वय मरणान्त

कष्ट उठा लेता है वह अत्याचारी कैसे कहा जा सकता है ? यदि मैं आपके लिए उपवास करता हूँ तो मै आपके हृदय को स्पर्श करता हूँ। आपका दिल तुरन्त आपके दिमाग को जाग्रत करता है और आप सोचने लगते है कि यह उपवास जा है या वेजा ? मेरी इसमे जिम्मेवारी कहा तक है ? वह किसी एक नतीजे पर पहुँचेगा, या तो उपवास-कर्त्ता गलती पर है, या उसका खयाल गलत है। यदि उसवास-कर्त्ता उसकी समझ से गलती पर है तो उसमे यह हिम्मत आवेगी कि वह उसके वलिदान को सहन करे। यदि उसका खयाल गलत है तो उसे उसके सुधारने की प्रेरणा होगी और वल मिलेगा। दोनो दशाओ मे वह किसी एक निर्णय पर पहुँचेगा और वह उसका अपना निर्णय होगा। इस सारी विधि मे, वतलाइए, वलात्कार कहा है ?

फिर जिस मनुष्य ने हिंसक साधनो का परित्याग कर दिया है, उसके पास अपने कार्य-साधन के लिए कोई अन्तिम वल भी तो होना चाहिए न। हिसा मे यदि अन्तिम वल दूसरो को मार डालना है, तो अहिसा मे अन्तिम वल अपने आपको मिटा देना है। सो, उपवास करते-करते अन्त मे प्राणतक दे देना अर्थात् प्रायोपवेशन करना अहिसक का व्रह्मास्त्र है। हा, वेशक उसके लिए वहुत योग्यता और सावधानी की जरूरत है। परन्तु यदि किसीने गलत वात पर और विना प्रसग के ऐसे व्रह्मास्त्र का प्रयोग कर दिया तो घाटे मे खुद वही अधिक रहेगा और अपनी साख एव प्रतिष्ठा खो वैठेगा। किन्तु कई वार प्रयोग के दोष को हम सिद्धान्त का दोष मान लेते है। उसमे दवाव की कल्पना कर लेते है। यह भूल है। यहा इसे जरा विस्तार से समझ ले।

यदि भूख-हडताल का 'इशु' (प्रयोजन) गलत नही है, तो फिर भूख-हडताल मूलत दूसरे पर दवाव डालनेवाली नही है। अपनी किसी

न्यायपूर्ण माग को पूरा करवाने के लिए जव भूख-हडताल की जाती है, तव हम ऊपर कह चुके है कि हडताली जवरदस्ती नही करता है। वह सिर्फ प्रतिपक्षी के हृदय को स्पर्श करके मस्तिष्क को जाग्रत करता है। मस्तिष्क सोचने लगता है कि हडताली की माग पूरी की जाय या नही। इसके लिए उसे माग के औचित्य-अनौचित्य पर विचार करना पडता है, अपने हानि व लाभ उसके सामने खडे होने लगते है। फिर वह दो मे से एक वात को चुन लेता है। यह हो सकता है कि कही तो वह अपने लाभ को महत्व दे, कही नही। किन्तु जो-कुछ वह निर्णय करता है, खूव विचार-मन्थन के वाद करता है। जहा इतनी मानसिक क्रियाये होती हो, वहा दवाव की कल्पना कैसे की जा सकती है? दवाव तो तव हो सकता है, जव सोचने और निर्णय करने का अवसर न दिया जाय। 'इशु' यदि गलत है, माग यदि न्याययुक्त नही है, तो वह दुराग्रह हो सकता है, किन्तु उसमे दवाव नही हो सकता। यदि आप यह समझते है कि हडताली की माग न्यायोचित है, तो आप उसे स्वीकार कर ले, यदि समझते है कि कोरा हठ है, दुराग्रह है, तो उसे मर जाने दे। दोनो चुनाव आपके सामने है। इनमे से किसी एक के लिए आपको मजवूर नही किया जाता है। अव आप यदि माग की न्याय्यान्याय्यता को भूलकर हडताली के कष्टो या मरण के भय से किसी वात को मजूर कर लेते है, तो यह आपकी गलती है, आपकी कमजोरी है, न कि भूख-हडताल के सिद्धान्त का दोष।

यदि आपका निर्णय आपको न्यायपूर्ण मालूम होता है, तो आप दृढ रहिए, हडताली को मर जाने दीजिए। इसमे घवराने या डरने की वात ही क्या है? यदि हडताली सत्य और न्याय पर है, तो आखिर तक अविचल रहेगा और उसका सत्य आपको ढीला कर देगा; यदि

आप सत्य पर है, तो वह आगे चलकर ढीला पड जायगा, हडताल को आगे चलाने का उत्साह कम होता चला जायगा। यदि कोई दुराग्रह-पूर्वक प्राणत्याग ही कर दे, तो अपने दुराग्रह का फल पा गया। यदि न्यायपूर्ण माग के होते हुए भी उसको प्राण ही छोड देना पडे तो वह सत्य के खातिर मर मिटा। उसका वलिदान आपसे अपनी माग पूरी कराने का वल दूसरो मे उत्पन्न करेगा। मनुष्य आखिर अन्तिम अस्त्र का प्रयोग ही तो कर सकता है, फिर वह अस्त्र चाहे पिस्तौल हो, चाहे अपना प्राणत्याग। सफलता की गारण्टी तो कोई भी नही दे सकता है। यदि दे सकता है तो शस्त्र नही, बल्कि प्राणोत्सर्ग ही दे सकता है।

मै तो जितना ही अधिक विचार करता हूँ, सत्याग्रही के पास अन्तिम बल के रूप मे, हिंसात्मक शस्त्रो की जगह, उपवास और अन्त मे प्रायोपवेशन ही उपयुक्त दिखाई पडते है। शस्त्र-युद्ध मे सेनापति यदि हजारो सशस्त्र सैनिको की फौज लेकर लड सकता है तो नि शस्त्र-युद्ध मे भी हजारो सत्याग्रही जिस प्रकार जेलो मे जा सकते है उसी प्रकार अनशन द्वारा प्रायोपवेशन भी कर सकते है। हा, शस्त्र-युद्ध की तरह अभी इसके नियम-उपनियम नही बने है, किन्तु जैसे-जैसे इसके प्रयोग सफल होते जायँगे और हम इस दिशा मे आगे बढते जायँगे तैसे-तैसे विधि-विधानो की रचना अपने आप होती जायगी। आवश्यकता है उत्साह के साथ इनके प्रयोगो को देखने और करने की। मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि सत्याग्रह दुनिया की सुव्यवस्था और शान्ति के लिए एक अमूल्य ईश्वरी प्रसाद सिद्ध हुए विना न रहेगा।

स्वतंत्रता : नीति के प्रकाश में—

[४]

१—धर्म और नीति
२—ईश्वर-विचार
३—विवाह
४—विवाह-संस्कार
५—पत्नीव्रत-धर्म
६—सन्तति निग्रह
७—परिशिष्ट (२)
हिन्दूधर्म की रूपरेखा
८—परिशिष्ट (३)
हिन्दूधर्म का विराट् रूप
६—परिशिष्ट (४)
नवदम्पती की कठिनाइयाँ

[१]

धर्म और नीति

भारतीय स्वतन्त्रता की साधना मे धर्म, नीति, ईश्वर, विवाह-प्रथा ये ऐसे विषय है जिन पर अक्सर चर्चा होती रहती है और एक ऐसा समूह देश मे है जो इनका मखौल उडाता है और इन्हे जीवन के विकास के लिए अनावश्यक या हानिकर मानता है। अतएव यह आवश्यक है कि हम इन विषयो पर भी अपना दिमाग साफ कर ले और अपने विचार सुलझा ले। नीति के प्रकाश मे हम स्वतत्रता के स्वरूप को देखे और समझे। हम यह भी जान ले कि धर्म, ईश्वर, विवाह इनका नीति से, समाज-विकास से, क्या सम्बन्ध है और समाज के उत्कर्ष मे इनका कितना स्थान है। धर्म के नाम से चिढ उठनेवाले भाइयो को जब यह बताया जाता है कि सत्य, अहिसा, पवित्रता, अस्तेय, अपरिग्रह, भूतदया, आदि धर्म के मुख्य नियम या अग है तो वे या तो

यह कह देते है कि ये आध्यात्मिक बाते है या उन्हे नीति-नियम बताकर धर्म से उनका नाता तोड देते है। अतएव हम देखे कि धर्म और नीति मे क्या सम्बन्ध है और वे एक ही है या अलग-अलग।

नीति शब्द 'नय्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है ले जाना। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना। इससे यह भले प्रकार जाना जाता है कि नीति का काम है ले जाना, प्रेरणा करना, सकेत करना, और धर्म का कार्य है धारणा करना, स्थिर करना, पुष्टि करना। नीति जिस काम का आरम्भ करती है धर्म उसका पोषण करता है। नीति पहली सीढी और धर्म दूसरी सीढी है। नीति पहली आवश्यकता और धर्म दूसरी या अन्तिम।*

एक मनुष्य का दूसरे से जब सम्बन्ध आता है और वे परस्पर व्यवहार के नियम बनाते है तब उनका नाम है नीति। पर जब हम व्यक्ति, समाज के धारण, पोषण और विकास के नियम बनाते है तब उनका नाम है धर्म। नीति को हम व्यवहार-नियम और धर्म को जीवन-नियम कह सकते है। इस अर्थ मे नीति धर्म का एक अग हुई। व्यवहार नियम जीवन-नियम के प्रतिकूल या विघातक नही बन सकते। इसलिए नीति धर्म के प्रतिकूल आचरण नही कर सकती। वह धर्म की सहायक है, विरोधक और बाधक नही। धर्म के जितने नियम है, उन्हे हम स्थूल-रूप मे नीति कह सकते है। उनका बाह्याग नीति है और जब बाह्य और आन्तर, स्थूल और सूक्ष्म, दोनो रूपो और प्रभावो का ध्यान किया जाता है तब वे धर्म कहलाते है। उदाहरण के लिए चोरी न करना

* इस प्रसग पर हम परिशिष्ट २ में दिये 'हिन्दूधर्म की रूप-रेखा' और 'हिन्दूधर्म का विराट् रूप' नामक लेखों को पढने की सिफ़ारिश पाठकों से करते है। लेखक

नीति भी है और धर्म भी है। केवल किसी की भौतिक वस्तु को चुराना नीति की भाषा मे चोरी हुई, परन्तु मन मे चोरी का विचार भी आने देना, मन से चोरी कर लेना, या आवश्यकता से अधिक धन का सग्रह करना धर्म की भाषा मे चोरी हुई। नीति का विकास और विस्तार धर्म है। नीति यदि माडलिक है तो धर्म चक्रवर्ती है। नीति यदि अश है तो धर्म सम्पूर्ण है। नीति के विना धर्म लगडा है और धर्म बिना नीति विधवा है। नीति प्रेरक है और धर्म स्थापक। नीति मे गति है, जीवन है, धर्म मे स्थिरता है, शान्ति है।

विचार के लिए जीवन भिन्न-भिन्न भागो मे बँट जाता है—सामाजिक, राजकीय, आर्थिक आदि। इसी कारण नीति और धर्म मे भी अग-प्रत्यग फूट निकले। केवल लोक-व्यवहार के नियम समाज-नीति, राज-काज के नियम राजनीति और अर्थ-व्यवस्था के नियम अर्थ-नीति कहलाये। ध्यान रखना चाहिए कि ये सब नीतिया परस्पर पोषक ही हो सकती है और होनी चाहिएँ। किसके मुकाबले मे किसे तरजीह दी जाय, यह प्रश्न जरूर उठता है। पर यह निर्विवाद है कि इन सबका सम्मिलित परिणाम होना चाहिए व्यवहार की सुव्यवस्था, जीवन का उत्कर्ष, जीवन का नियमन। राजकाज और अर्थ-साधन ये समाज-व्यवस्था और सामाजिक सगठन के सयोजक है। इसलिए सामाजिक जीवन मे राज-सत्ता या राज-नीति को अथवा अर्थ-बल को इतनी प्रधानता कदापि न मिलनी चाहिए कि जिससे वे समाज को अपाहिज और पगु बना डाले। नीति ऐसी अव्यवस्था को रोकती है और धर्म उसे बल प्रदान करता है। नीति मे जहा केवल सद्-व्यवहार का बोध होता है वहा धर्म मे निरपेक्षता का भी भाव आता है। नीति बहुत अशो तक सापेक्ष्य है, अर्थात् दूसरे से सदृश व्यवहार की आशा रखती है, परन्तु धर्म केवल अपने ही कर्त्तव्य पर दृष्टि रखता है।

दूसरा अपने कर्त्तव्य का पालन न करता हो, उसके लिए निश्चित नियम के अनुसार न चलता हो, तव भी धार्मिक मनुष्य अपने कर्त्तव्य मे मुह न मोडेगा, अपनी ओर से नियम का भग न होने देगा। नीति का आधार न्याय-भाव है और धर्म का कर्त्तव्य-भाव या सेवा-भाव। सेवा-भाव का अर्थ है अपने हित को गौण समझकर दूसरे के हित को प्रधान समझना और उसकी पूर्ति मे अपनी शक्ति लगाना। न्याय समान-व्यवहार की आकाक्षा रखता है और कर्त्तव्य निरपेक्ष होता है। नीति जीवन विकास की प्रथमावस्था है और धर्म अन्तिम अथवा परिपक्व।

अव हम देख सकते है कि नीति और धर्म एक दूसरे से जुदा नही हो सकते। जीवन से तो दोनो किसी प्रकार पृथक् हो ही नही सकते। नीतिमान् को हम सदाचारी कहते है, और धार्मिक उसे कहते है, जो निरपेक्ष भाव से धर्म के नियमो का पालन करता है। जव हम विना किसी अपेक्षा के, फलाफल की चिन्ता को छोडकर, अपने कर्त्तव्य का पालन करते है तव उस भावना या स्पिरिट का नाम है धार्मिक-वृत्ति। यह धार्मिक-वृत्ति ही श्रद्धा की जननी है। यह विश्वास कि मेरा भाव ओर आचरण अच्छा है तो इसका फल अच्छा ही होगा, श्रद्धा है। धार्मिक जीवन के विना यह दृढ-विश्वास मनुष्य मे पैदा नही हो सकता। यही कारण है, जो धार्मिक मनुष्य अक्सर कट्टर होते है। कभी-कभी उनकी कट्टरता हास्यास्पद हो जाती है, यह वात सही है, परन्तु यह तो उनकी वृत्ति का दोष नही, विवेक की कमी है।

यह विवेचन हमे इस नतीजे पर पहुँचाता है कि नीति और धर्म के विना मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक जीवन वालू पर खडा हुआ महल है। नीति ओर धर्म का मखौल उडाकर हम अपने कितने अज्ञान और अविवेक का परिचय देते है, यह भी इससे भली-भाति प्रकट हो

जाता है। जब कि व्यवहार-नियम के बिना समाज-व्यवस्था असभव है, जब कि निरपेक्षता के बिना और उन नियमो के सूक्ष्म और व्यापक पालन के बिना—अर्थात् धर्माचरण के बिना—समाज की स्वार्थ-साधुता अतएव जन-साधारण का पीडन मिट नही सकता तो नीति और धर्म की अवहेलना और दिल्लगी करके हम कौनसा अपना और समाज का हित-साधन कर रहे है, यह समझ मे नही आता। हमे चाहिए कि हम हर बात को शान्ति और गहराई के साथ सोचे और फिर उसका विरोध या खण्डन करे, अन्यथा हम समाज और स्वतत्रता के सेवक बनने के बदले घातक सिद्ध होगे।

[२]

ईश्वर-विचार

ईश्वर के सम्बन्ध मे लोगो की भिन्न-भिन्न धारणाये है। कोई उसे एक वस्तु मानते है और कोई तत्त्व। सर्व-साधारण अवतारो और देवी-देवताओ के रूप मे उसे मानते है। जगली जातिया जीव-जन्तु पेड और पशु को ईश्वर समझती है। कई लोग भूत-प्रेत को ईश्वर का रूप मानते है। कितने ही मूर्ति को, गुरु को, ईश्वर समझते है। आम तौर पर लोग ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, जगसचालक, सर्व-शक्तिमान्, मगल-मय, पतितपावन मानते है। वे समझते है, ईश्वर कही आसमान मे बैठा हुआ राज्य कर रहा है। वह सारे ब्रह्माण्ड का महाराजा है, उसके अनेक दास-दासिया है, अनेक रानिया-पटरानिया है, उसका दरबार है, न्याय और पुलिस-विभाग है, पुण्यात्मा को वह स्वर्ग देता है, पापी को नरक मे पहुँचाता है। अपनी-अपनी समझ और पहुँच के अनुसार लोगो ने

ईश्वर को तरह-तरह से मान रक्खा है। फलत जितने विचार उतने ईश्वर हो गये है। हरेक अपने ईश्वर को बडा और अच्छा समझता है और दूसरे के ईश्वर को छोटा और मामूली। गँवार लोग अपने-अपने ईश्वर का पक्ष लेकर लड भी पडते है। हिन्दू-मुसलमान भी तो अपने-अपने ईश्वर के लिए घण्टा-घडियाल और नमाज के सवाल पर आपस मे खून खराबी कर बैठते है। ईसाइयो और मुसलमानो के धर्मयुद्ध ईश्वर ही के नाम पर तो हुए है। बौद्धो, जैनो और ब्राह्मणो मे भी ईश्वर ही के लिए लडाइया हुई है। ऐसी दशा मे एक विचारशील मनुष्य के मन में यह प्रश्न उठता है कि आखिर यह ईश्वर है क्या चीज ? यह है भी या नही ? है तो इसका असली रूप क्या है ? इस प्रश्न पर विचार करनेवाले दुनिया के तत्त्वदर्शी तीन भागो मे बँट गये है (१) आस्तिक (२) नास्तिक और (३) अज्ञेयवादी । आस्तिक वे जो मानते है कि ईश्वर नामक कोई चीज है, नास्तिक वे जो कहते है कि ईश्वर-वीश्वर सब ढोंग है, अज्ञेयवादी वे जो कहते है, भाई, कुछ समझ मे नही आता वह है या नही। आस्तिको मे तीन प्रकार के लोग है—

(१) वे जो ईश्वर को वस्तुरूप—शक्तिरूप—मानते है।

(२) वे जो व्यक्तिरूप मानते है।

(३) वे जो तत्त्वरूप मानते है।

शक्ति और तत्त्वरूप मे ईश्वर निर्गुण-निराकार माना जाता है और व्यक्ति-रूप मे सगुण-साकार मानकर उसकी पूजा-अर्चा की जाती है।

मै जब इन सब बातो पर विचार करता हूँ तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि ईश्वर एक आदर्श है। आखिर ईश्वर की कल्पना या अनुभव करने वाला है तो मनुष्य ही। आरम्भ मे चमत्कार-जनक और भयकारक वस्तु को वह ईश्वर मानने लगा, अपनी रक्षा के लिए उसकी प्रार्थना

करने लगा। बाद को वह उसे मगलदायक और पतित-पावन समझने लगा और अपने भले के लिए उसकी स्तुति करने लगा। जब उसकी खोज और अनुभव और आगे बढा और प्रत्येक भिन्न रूप रखनेवाली वस्तु मे भी एक चीज उसे समान-रूप मे (Common) दिखाई देने लगी तब उसे उसने एक तत्त्व-रूप माना। मनुष्य-जाति के विचार और अनुभव मे जैसे-जैसे फर्क पडता गया वैसे-वैसे ईश्वर के रूप और सत्ता मे भी अन्तर होता गया। आगे बढना, ऊँचा उठना और सुख पाना, ये तीन इच्छाये मनुष्य-मात्र मे सामान्य रूप से दिखाई पडती है। उसे एक ऐसे आदर्श की आवश्यकता प्रतीत हुई, जो इन इच्छाओ की पूर्ति मे सहायक हो। उसने तमाम शक्तियो, अच्छाइयो और पवित्रताओ का एक समुच्चय बनाया और उसको अपना ईश्वर, आराध्यदेव, अन्तिम लक्ष्य मान लिया।

यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपूर्ण अधकचरा पैदा हुआ है। वह पूर्णता की ओर जाना चाहता है। वह गुण और दोष से युक्त है। दोषो को दूर करके वह गुणमय बन जाना चाहता है। जब गुणमय बन जाता है और इस स्थिति मे स्थिर रहता है, तब वह अपने अन्दर निर्गुणत्व का अनुभव करने लगता है। वह जगत् के वास्तविक सत्य और तथ्य को पा लेता है। इसीलिए कहते है कि सत्य ही परमेश्वर है। सत्य या ईश्वर एक आदर्श है। दूसरे शब्दो मे तमाम अच्छाइयो और सच्चाइयो का समूह ईश्वर है। या यो कहे कि ईश्वर वह वस्तु है जिसमे ससार की तमाम अच्छाइयो, अच्छी शक्तियो और अच्छे गुणो का समावेश है। ईश्वर वह आदर्श है, जहा से तमाम अच्छी और सच्ची बातो का आरभ और अन्त होता है। वहा से अच्छी और सच्ची बातो एव अच्छाइयो और सच्चाइयो का उद्गम और स्फुरण होता है। जो आदर्श मनुष्य को

बुराइयो से हटाकर अच्छाइयो की तरफ, असत्य की ओर से हटाकर सत्य की ओर खीचता है वह ईश्वर है। आदर्श एक चुम्बक होता है। मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए आदर्श बनाना पडता है। कई ऐतिहासिक या पौराणिक पुरुष आज भी भिन्न-भिन्न बातो और गुणो मे हमारे लिए आदर्श है। आदर्श वह वस्तु है, जिसके अनुसार मनुष्य अपनेको बनाना चाहता है। मनुष्य अपनी रुचि के ही अनुसार अपनेको बनाने की कोशिश करता है। रुचि सबकी भिन्न-भिन्न होती है। इसीलिए आदर्श भी सबके भिन्न-भिन्न होते है। परन्तु कोई मनुष्य इस बात से इन्कार नही कर सकता कि उसे अच्छा बनने की, सच्चा बनने की चाह नही है। सबकी इसमे रुचि पाई जाती है। इसलिए अच्छाई और सच्चाई का आदर्श, ईश्वर, सबके रुचि की वस्तु हुआ। राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा, ये ईश्वर की किसी-न-किसी अच्छाई और सच्चाई के प्रतिनिधि है। इसलिए लोग इनमे आशिक ईश्वरत्व का अनुभव करते है।

मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओ के अनुसार तीन बडे गुणो और शक्तियो का आरोप ईश्वर मे किया (१) सर्वशक्तिमत्ता, (२) मगलमयता और (३) पतित-पावनता। मनुष्य शक्ति का उपासक है। वह चाहता है कि तमाम शक्तियो का सम्मेलन उसमे हो। कर्त्तव्य-पथ मे चलने के लिए उसके पास अतुल बल और साहस हो। इसलिए उसने ईश्वर को सर्वशक्तिमान् माना और उससे बल पाने की चेष्टा करने लगा। मनुष्य चाहता है कि वह दु खो, कष्टो, यातनाओ विघ्नो और सकटो से मुक्त रहे अथवा इनसे घबरा न जाय। अतएव उसने ईश्वर को मगलमय माना और सदा मगल चाहने लगा। इसी प्रकार जब वह दुष्कर्म कर बैठता है तब उससे मुक्त होने या ऊँचा उठने के लिए किसी भावना का सहारा चाहता है। इसीने ईश्वर की पतित-पावनता

को जन्म दिया। इसके द्वारा वह यह स्फूर्त्ति पाता है कि ईश्वर गिरे हुओ को उठाता है, दुखियो को अपनाता है, सताये हुओ को उवारता है। इससे उसे अपने उद्धार का आश्वासन मिलता है। अपनी कमजोरियो को दूर करने मे उत्साह मिलता है।

किन्तु इसपर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए इतने परावलम्वन की क्या आवश्यकता है? मनुष्य स्वय अपनी वुद्धि से अच्छे और वुरे का निर्णय करके अच्छाई को क्यो न ग्रहण करता रहे? तत्त्वत यह वात ठीक भी समझी जाय तो कुछ गिने-चुने लोगो का काम तो विना किसी आलम्वन के चल जाय, किन्तु सर्वसाधारण तो अज्ञ या अल्पज्ञ होते है। साधारण लौकिक या व्यावहारिक कार्यो के लिए भी उन्हे दूसरो का सहारा लेना पडता है तव अपने जीवन को वनाने या सुधारने के जैसे कठिन और श्रमसाध्य काम के लिए क्यो न उन्हे एक अच्छे आदर्श के आकर्पण और पथ-दर्शन की आवश्यकता रहनी चाहिए?

रुचि और भावना के अनुसार आदर्श मे भिन्नता हो सकती है और इसीलिए हम ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूपो को देखते है। ईश्वर को मानना वुरा नही है, वुरा है उसकी असलियत को, अपने लक्ष्य को भूल जाना। ईश्वर हमारे कल्याण, उत्कर्ष, विकास सुधार या पूर्णत्व के लिए वना है, न कि अपनी ऊपरी पूजा-अर्चा मे ही लोगो का सारा समय और वहुतेरी शक्ति का अपव्यय करने के लिए। ईश्वर का ध्यान, पूजा, उपासना हमारे कल्याण के साधन हैं, खुद साध्य नही है। साध्य है ईश्वरत्व को प्राप्त करना, सत्य या पूर्णत्व को पहुँचना। इसे हमे कदापि न भुलाना चाहिए।

क्या कोई मनुष्य इस वात से इन्कार करेगा कि वह व्यक्ति और समाज का हित, विकास, या पूर्णता चाहता है? यदि यह प्रत्येक

मनुष्य को अभीष्ट हैं, तो फिर पूर्णता के आदर्श या प्रतिनिधि को अनावश्यक अथवा बुरा कैसे कहा जा सकता है ? मनुष्य के स्वार्थ या अज्ञान ने यदि उस आदर्श मे मलिनता उत्पन्न कर दी है, उसे बिगाड दिया है, तो बुद्धिमान् और समाज-हितेच्छु का काम है कि असली आदर्श उसके सामने रक्खे, उसकी असलियत उसे बताता रहे। यह न होना चाहिए कि मक्खी को मारने गये तो नाक भी काट डाली।

आशा है, हमारे शकाशील और विज्ञानवादी पाठक ईश्वर के इस रूप पर, इसकी उपयोगिता और व्यावहारिकता पर विचार करने की कृपा करेंगे। असलियत को खोजने की धुन मे उन्हे असलियत को ही न खो बैठना चाहिए। मनुष्य सूक्ष्म अर्थ मे पूर्ण स्वावलम्बी कदापि नही हो सकता। वह परस्पराश्रयी है, क्योकि वह समाजशील है। जब एक व्यक्ति का काम दूसरे व्यक्ति के सहारे के बिना नही चलता और हम परस्पर सहयोग को बुरा नही समझते हैं तब किसी आदर्श का सहारा क्यो अवाञ्छनीय समझा जाना चाहिए ?

[३]

विवाह

एक मत ऐसा चलता हुआ देख पडता है कि स्त्री-पुरुषो के बन्धन मे बँधने की आवश्यकता ही नही। यह इच्छा-तृप्ति का विषय है—जैसा मौका पड जाय, इच्छा तृप्त कर ली जाय। कुछ लोग ऐसा भी मानते है कि यह एक प्रकार का पतन है। आदर्श अवस्था तो स्त्री-पुरुषो की एक-मात्र ब्रह्मचर्य-मय जीवन ही है। ऐसी हालत मे यह आवश्यक है कि विवाह के रहस्य को हम अच्छी तरह समझ ले।

विवाह के मूल पर जब मैं विचार करता हूँ, तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि आरम्भ मे विवाह शारीरिक सुख अथवा इन्द्रियाराधन के लिए शुरू हुआ। यह तो सबको मानना ही होगा कि स्त्री और पुरुष मे एक अवस्था के बाद एक कोमल विकार उत्पन्न होने लगता है, जो दोनो को एक-दूसरे की ओर खीचता है। एक अवस्था के बाद यह विकार लुप्त हो जाता है। मेरा खयाल है कि आदिम काल मे स्त्री-पुरुष इस विकार की तृप्ति स्वतत्र रूप से कर लिया करते थे—विवाह-बधन मे पडे बिना ही वे परस्पर अपनी भूख बुझा लिया करते थे। पर जब कौटुम्बिक और सामाजिक जीवन आरम्भ हुआ, तब मनुष्य को ऐसे सम्बन्धो का भी नियम बना देना पडा, अथवा यो कहिए कि, जब उसने इन उच्छृखलताओ के दुष्परिणामो को देखा, तब उसकी एक सीमा बाधना उचित समझा और वहीसे कौटुम्बिक जीवन की शुरुआत हुई। एक स्त्री का अनेक पुरुपो से और एक पुरुष का अनेक स्त्रियो से सम्पर्क होते रहने से गुप्त रोग फैलने लगे होगे। सतान-पालन और सतति-स्नेह का प्रश्न उठा होगा। विरासत की समस्या खडी हुई होगी। तब उन्हे विवाह-व्यवस्था करना लाजिमी हो गया। विवाह का उद्देश्य है एक स्त्री का एक पुरुष के साथ सम्बन्ध रखना। इसके विपरीत अवस्था का नाम हुआ व्यभिचार। उन्हे ऐसे उपनियम भी बनाने पडे, जिनसे कारणवश एक पुरुष का एकाधिक स्त्री से अथवा एक स्त्री का एकाधिक पुरुष से सम्बन्ध करना जायज समझा गया। विवाह-सस्कार होने के पहले स्त्री-पुरुप का परस्पर शारीरिक सम्बन्ध हो जाना व्यभिचार कहलाया। इसी प्रकार विवाहित स्त्री-पुरुप का दूसरे स्त्री-पुरुप से ऐसा सम्बन्ध रखना भी व्यभिचार हुआ।

फिर जब मनुष्य ने देखा कि यह सीमा बाध देने पर भी लोग

विषय-भोग मे मस्त रहने लगे, तव उसने यह तजवीज की कि विवाह इद्रिय-तृप्ति के लिए नही, सतति उत्पन्न करने के लिए है। स्त्री-पुरुप तभी सम्भोग करे, जव उन्हे सतति की इच्छा हो। फिर जैसे-जैसे मनुष्य-जाति का अनुभव वढता गया, विचार-दृष्टि विशाल होती गई, तैसे-तैसे उसके जीवन का आदर्श भी ऊँचा उठता गया। अव मनुष्य की विचार-शीलता इस अवस्था को पहुँची है कि विवाह न शारीरिक सुख के लिए है, न सतति उत्पन्न करने के लिए है, वह तो आत्मोन्नति के लिए है। सुख, तृप्ति और सतति उसका परिणाम भले ही हो, वह उद्देश्य नही। इस उद्देश्य से जो गिर गया वह शारीरिक सुख, इन्द्रियतृप्ति और सतति पाकर रह गया—आगे न वढ सका। अव तो श्रेप्ठ विवाह वह कहलाता है, जो दोनो को अपने जीवन-कार्य को पूरा करने मे सहायक हो; योग्य वर-वधू वे कहलाते है, जो विकार के अधीन होकर नही वल्कि समान उद्देश्य और समान गुणो से प्रेरित होकर विवाह करते है। ऐसे विवाहो के रास्ते मे जाति, धर्म, मत धन, ये वाधक नही हो सकते।

जाति, धर्म, मत आदि का विचार विवाह के सम्वन्ध मे करना कोई आत्मिक आवश्यकता नही है। यह तो कौटुम्विक या सामाजिक सुविधा का प्रश्न है, जो कि आत्मिक आवश्यकता के मुकावले मे वहुत गौण वस्तु है। जो विवाह इद्रिय-तृप्ति और कौटुम्विक सुविधाओ के लिए किये जाते है, वे कनिष्ट हैं, और उनके विपय मे इन सव वातो का लिहाज रखना अनिवार्य हो जाता है।

फिर भी व्यभिचार से, विवाह-सस्कार से पहले स्त्री-पुरुषो के ऐसे सम्वन्ध हो जाने अथवा विवाहोपरात ऐसे अनुचित सम्वन्ध करने से तो यह कनिप्ट प्रकार का विवाह श्रेष्ठ ही है। व्यभिचार की स्वतत्रता सामाजिक और नैतिक अपराध इसलिए है कि अव मनुष्य-जाति उन्नति

की जिस सीढी पर पहुँच चुकी है उससे वह उसे पीछे हटाती है—आज-तक के उसके श्रम, अनुभव और कमाई पर पानी फेरती है। मनुष्य-जाति अपनी इस अपार हानि को कदापि सहन नही कर सकती। अपनी इसी सस्कृति की रक्षा के निमित्त मनुष्य को विवाह को यहा तक नियमित करना पडा कि स्वपत्नी से भी नियम-विपरीत सम्भोग करने को व्यभिचार ठहरा दिया। अव तो विचारको की यह धारणा होने लगी है कि आत्मिक उद्देशो की पूर्ति के लिए जो विवाह किये जाते है उनमे स्त्री-पुरुष यदि सयम न रख सके तो वह भी एक प्रकार का व्यभिचार ही है।

[४]

विवाह-संस्कार

विवाह-सस्कार हम हिन्दुओ का वहुत प्राचीन सस्कार है; सोलह सस्कारो मे एक है। गृहस्थाश्रम का फाटक है। जो कन्या या युवक गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करना चाहता है, उसके लिए विवाह-सस्कार आवश्यक है। जो कन्या या युवक ब्रह्मचर्य-पूर्वक सारा जीवन व्यतीत करना चाहते है उनके लिए यह आवश्यक नही है। विवाह के मुख्य उद्देश मेरी समझ के अनुसार तीन है—

१ कुदरती इच्छा की पूर्त्ति।

२ धर्म का पालन।

३ समाज का कल्याण।

अव हम क्रम से इनपर विचार करे—

कुदरती इच्छा की पूर्ति

एक अवस्था से लेकर एक अवस्था तक स्त्री और पुरुष दोनो के मन मे विवाह करनें की इच्छा पैदा होती है और रहती हैं। उस अवस्था मे कुदरत चाहती है कि स्त्री-पुरुष एकसाथ रहकर जीवन व्यतीत करे। समाज-शास्त्रियो ने यह अवस्था लडकी के लिए १५-२० से लेकर ४०-४५ तक और लडके के लिए २५-३० से लेकर ५०-५५ तक वताई हैं। हमारे प्राचीन आचार्यो ने भी २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करने के वाद ही गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने का नियम वताया है। कन्या की अवस्था जव २० के आस-पास और ब्रह्मचारी की २५ के आस-पास हो तव उनके माता-पिता को उचित है कि वे उनकी इच्छा को जानकर, सम-गुण-शील वर-वधू को देखकर विवाह-सस्कार कर दे। यदि वे ब्रह्मचर्य-पूर्वक ही रहना चाहे तो उन्हे रहने दे, जवरदस्ती विवाह-पाश मे न वाधें। जिसकी इच्छा हो वह विवाह कर ले, जिसकी इच्छा हो वह ब्रह्मचारी वनकर रहे—यह नियम सवसे अच्छा है। इस नियम का पालन करने से ही कुदरत की इच्छा की पूर्ति हो सकती है, विवाह का पहला उद्देश पूर्ण हो सकता है।

धर्म का पालन

धर्म का अर्थ है लौकिक और पारलौकिक उन्नति का साधन। दूसरे शब्दो मे कहे तो शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति का साधन। या यो कहे कि धर्म वह मार्ग है जिसके द्वारा मनुष्य खुद सुख प्राप्त करता हुआ औरो को सुखी वनाता है। तीनो अर्थो की भाषा यद्यपि जुदी-जुदी हे तथापि मूल भाव एक ही है—स्वार्थ और परमार्थ दोनो की साधना। स्वार्थ व्यक्तिगत होता है और परमार्थ समाज-गत। मनुष्य जव अपने अकेले का विचार करता है तव वह स्वार्थी होता है।

जव वह औरो का भी विचार करता है तव परमार्थी होता है। वैवाहिक-जीवन स्वार्थ और परमार्थ दोनो के लिए है। हम लोगो मे यह प्राचीन धारणा भी चली आती है कि गृहस्थाश्रम मे मनुष्य प्रपच और परमार्थ दोनो को साध सकता है। अर्थात् विवाह तभी सफल माना जा सकता है जव कि विवाहित दम्पती के द्वारा इस धर्म का पालन होता हो। उनके द्वारा खुद अपनेको, कुटुम्व को और सारे समाज को लाभ और सुख पहुँचता हो। इसलिए हिन्दुओ मे विवाह-वधन धर्म-वधन माना जाता है। हिन्दू वर-वधू विवाह-सस्कार के द्वारा केवल अपने शरीर को ही एक-दूसरे के अर्पण नही करते है वल्कि अपने मन और आत्मा को भी एक कर देते है। यही कारण है कि हमारे यहा दो मे से एक का वियोग हो जाने पर भी दोनो का सम्बन्ध नही टूटता। सन्तति विवाह का हेतु नही, फल है। हेतु है धर्म-पालन। गृहस्थ का धर्म क्या है ? स्वय सुखी रहना और दूसरो को सुखी वनाना। गृहस्थ स्वय सुखी किस तरह रह सकता है ?

(१) अपने शरीर को नीरोग रखकर। अर्थात् गृहस्थाश्रम मे भी व्रह्मचर्य की ओर विशेप ध्यान देते हुए, स्वच्छता और आरोग्य के नियमो का पालन करते हुए।

(२) अपने मन को शान्त और प्रसन्न रखते हुए, उच्च, उदार स्नेहपूर्ण और सुसस्कृत वनाते हुए।

(३) आत्मा को उन्नत वनाते हुए। अर्थात् सवको आत्मस्वरूप देखते हुए, सत्यनिष्ठा, निर्भयता, नम्रता, दया आदि सद्गुणो का परिचय देते हुए। यदि एक ही शब्द मे कहे तो शरीर, मन और आत्मा तीनो को एक सूत्र मे वाधते हुए। अर्थात् जो हमारी आत्मा को कल्याणकारक प्रतीत हो वही हमारे मन को प्रिय हो और उसीके साधने

मे शरीर कृतकार्य हो। जैसे यदि किसी दुखी या रोगी को देखकर हमारी आत्मा मे यह प्रेरणा हुई कि चलो इसकी कुछ सेवा करे, किसी तरह इसके दुख दूर करने का प्रयत्न करे, तो तुरन्त हमारा मन इस विचार मे प्रसन्न होना चाहिए। और हमारे शरीर को उसके लिए दौड जाना चाहिए। बल्कि मै तो यह भी कहूँगा कि हमारी आत्मा का यह धर्म ही होना चाहिए कि रोगी या दुखी को देखकर उसकी सेवा करने की प्रेरणा हुए बिना न रहे। जिस प्रकार पानी की धारा जबतक अपने रास्ते के गड्हे को भर नही देती तबतक आगे नही बढती, उसी तरह हमारा यह स्वभाव धर्म हो जाना चाहिए कि जबतक समाज के दुखी-दर्दी की सेवा हमसे न हो हमारा कदम आगे न बढ सके। यही धर्म-पालन की चरम-सीमा है, यही गृहस्थाश्रम का धर्म है। ईमानदारी मे धर्म-पूर्वक स्वोपार्जित धन, नियम-पूर्वक प्राप्त सुसन्तति, सद्गुणो मे आकर्पित इष्ट-मित्र ये भी सुख को बढा सकते हैं। पर सुख के साधन नही है—ये तो सुख की शोभा है, सोने मे सुगन्ध है।

समाज का कल्याण

अब यह सवाल रहा कि दूसरे को सुखी किस तरह बना सकते है? दूसरी भाषा मे, समाज का कल्याण किस तरह कर सकते है? मनुष्य जबतक अकेला है, विवाह नही किया है, तबतक वह अपनेको अकेला समझ सकता है। व्यक्तिगत कर्त्तव्यो का ही विचार कर सकता है। पर एक से दो होते ही, दूसरे का साथ करते ही, विवाह होते ही, वह समाजी हो जाता है। कुटुम्ब समाज का एक छोटा रूप है। या यो कहे कि समाज कुटुम्ब का एक बडा रूप है। विवाह होते ही अपने हित के खयाल के साथ-साथ और कुटुम्बियो के हित का खयाल ही नही, जिम्मे-दारी भी हमे महसूस करनी चाहिए। तो सवाल यह है कि विवाहित

दम्पती कुटुम्व या समाज की सेवा या कल्याण किस तरह करे ? इसका सरल और मीधा उत्तर यही है कि कुटुम्व या समाज मे जो खामिया हो, जो तकलीफे हो, उनको दूर करके। जैसे अगर कोई वुरी रीति या चाल पड गई हो तो उसे हटाना, खुद उसका पालन न करना और ओरो को भी समझाना। अगर कोई विधवा या विद्यार्थी या अनाथ भोजन-पान की या ओर किसी तरह की तकलीफ पा रहे हो तो उसे दूर करना, उनके साथ हमदर्दी वताना, उन्हे तसल्ली देना, उनके घर जाना, या उन्हे अपने घर लाना। कोई बुरा काम कर रहा हो तो उसे ममझाना, वुरे काम से हटाने का यत्न करना, पढने-पढाने और ज्ञान वढाने के साधन न हो तो उनका प्रचार करना। सफाई और तन्दुरुस्ती की जरूरत और फायदे समझाना। इत्यादि-इत्यादि।

पर विवाह-सस्कार का वर्तमान रूप हमारे यहा इससे भिन्न है। केवल यही नही कि हममे से वहुतेरे विवाह के उद्देश्यो को नही जानते वल्कि सस्कार की विधि भी बहुत विगड गई है। विवाह-सस्कार मुख्यत एक धर्म-विधि है। पर आजकल उसका धार्मिक रूप एक कवायद मात्र रह गई है और सामाजिक रूप या लोकाचार इतना वेडौल हो गया हैं कि जिसकी हद नही। विवाह के वाद वर-वधू सामाजिक जीवन मे प्रवेश करते है। इसलिए धर्म-सस्कार के साथ वहुतेरी सामाजिक रीतिया—लोका-चार—जोडकर हमने उसे एक जल्सा वना दिया है। धार्मिक दृष्टि से विवाह-सस्कार मे केवल दो ही विधिया है। पाणिग्रहण और सप्तपदी। पाणिग्रहण के द्वारा दम्पती के सम्वन्ध की शुरूआत होती है और मप्तपदी के द्वारा वह प्रेम-वन्धन दृढ किया जाता है। इस-के अतिरिक्त जितनी विधिया है वे सव अनावश्यक या कम आवश्यक है। वडे-वडे भोज—पक्तिया—भारी लेन-देन, वहुतेरा दहेज, वागवाडी,

मायरा, आतिशवाजी, नाच आदि सामाजिक विधिया केवल लोकाचार है। सामाजिक विधिया समाज की आवश्यकता के अनुसार समाज के धुरीण लोग डालते है। समाज की अवस्था निरन्तर वदलती रहती है। वह हमेशा सारासार का विचार करता रहता है और अच्छी वातो का ग्रहण तथा वुरी वातो का त्याग करता रहता है। और इसीसे उसका कार्य-क्रम वदलता रहता है। वह समाज के हित की वात समाज मे दाखिल करता है और अहित की वात को निकाल डालता है या उसका विरोध करता है। समाज के चाल-ढाल मे यह अन्तर, यह परिवर्तन हम वरावर देखते है। इसीके वल पर समाज जीवित रहता है और आगे वढता है। यही समाज के जीवन का लक्षण है। चदेरी की पगडिया गई, टोपिया आई। इटालियन और फैल्ट टोपिया जा रही है, और खादी-टोपी आ रही है। अगरखा चला गया, कोट आ गया। जूतिया गई, वूट आये और अव चप्पल आ रहे है। ब्राह्मणो की त्रिकाल-सध्या गई, एककाल सध्या भी वहुत जगह न रही। अव भी ब्राह्मण ईश्वरोपासना करते है, पर वाहरी स्वरूप वदलता जा रहा है। सोला गया, धोतिया रह गई,। छुआछूत का विचार कम होता जा रहा है। ब्राह्मणो के षट्कर्म गये, भिक्षावृत्ति आई। अव सेवा-वृत्ति ने उसका स्थान ले लिया। हम जरा ही गौर करेगे तो मालूम होगा कि हमारा जीवन क्षण-क्षण मे वदल रहा है। हमारे समाज की भीतरी और वाहरी अनेक वातो मे रूपान्तर हो रहा है। विवेकपूर्वक जो रूपान्तर किया जाता है उससे समाज को लाभ होता है, समाज की उन्नति होती है। आखे मूदकर जो अनुकरण किया जाता है उससे समाज की अधोगति होती है। अतएव सामाजिक रीति-नीति मे देश-काल-पात्र को देखकर विवेकपूर्वक परिवर्तन करना समाज के धुरीणो का कर्तव्य है। यह पाप नही,

पुण्य कार्य है। जिन चालो से धर्म-सस्कार का कोई सम्बन्ध नही, जिनमे अकारण धन-व्यय होता है, सो भी ऐसे जमाने मे जब कि आमदनी के साधन दिन-दिन कम होते जा रहे है, जिनसे समाज मे दुराचार की वृद्धि होती है, उनका मिटाना समाज के धुरीणो और हित-चिन्तको का परम कर्तव्य है। पिछले जमाने मे, जब कि आमदनी काफी थी और इस कारण लोगो को उन रिवाजो मे आज की तरह बुराई नही दिखाई देती थी, उनके कारण विवाह की शोभा बढती थी। आज तो 'शोभा' के बजाय वे भार-भूत और बरबादी-रूप मालूम होते है। मै श्रीमन्तो की बात नही करता, मुझ जैसे गरीबो की बात करता हूँ। श्रीमन्त तो हमारे समाज मे बहुत थोडे है, गरीबो की ही सख्या ज्यादा ह। श्रीमन्तो को उचित है कि वे गरीबो का खयाल रक्खे। गरीबो को उचित है कि वे श्रीमन्तो का अनुकरण न करे। धन की बात छोड दे तो भी गालिया गाना, नाच, परदा, बहुतेरे गहने देना आदि विवाह-विधि के साथ जुडी हुई रूढिया तथा बाल-विवाह, बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि भयकर कुरीतिया तो श्रीमन्तो के यहा भी न होनी चाहिएँ। क्या धनी, क्या निर्धन, सबको इनसे हानि पहुँचती है। अपने जीते-जी शादी देख लेने के मोह से छोटे बालक-बालिकाओ की शादी कर लेना, शक्ति से बाहर कर्ज करके हैसियत से ज्यादा खर्च कर डालना, कन्या-विक्रय करना—इन क्रमश अधार्मिक, अनुचित और जगली कुरीतियो को मिटाना धनी-गरीब, सबके लिए उचित है। बिना लडके-लडकी की सलाह लिये अपनी मरजी से शादी कर देना भी बुरी प्रथा है। इससे कितने ही दम्पतियो को ससार-यात्रा यम-यातना के सामन हो जाती है। हमे मोह और मनोवेग को रोक कर बुद्धि, विचार और विवेक से काम लेने की परम आवश्यकता है। मै कह सकता हूँ कि हममे से सैकडा ७५ तो

जरूर मेरी तरह इन बातो मे सुधार चाहते होगे, पर मैं यह भी जानता हूँ कि उनमे से कितने ही वृद्ध गुरु जनो के सकोच से सुधार नही कर पाते। उनकी इच्छा तो है, पर वे लाचार रहते है।

सो इस विषय मे मेरा निवेदन यह है कि वृद्धजनो के लिए पुरानी बातो पर, फिर वे आज चाहे हानिकारक भी हो गई हो, चिपके रहना स्वाभाविक है। क्योकि वे आजन्म उन्हीको अच्छा समझते आये है और जिसे वे अच्छा समझते है उसपर वे दृढ है ओर रहना चाहते है। यह उनका गुण हमे ग्रहण करना चाहिए। हमे भी उचित है कि जिन बातो को हम ठीक समझते है उनपर दृढ रहे। बुजुर्गो की सेवा करना, नम्रता-पूर्वक उनसे व्यवहार करना हमारा धर्म है। उसी प्रकार हमे जो बात ठीक जँचे, जो हमे अपना कर्त्तव्य दिखाई दे, उसका पालन करना, उसपर दृढ रहना भी हमारा धर्म है। यदि हम ऐसा न करेगे तो अपने बुजुर्गो के योग्य अपनेको न साबित करेगे। हमारा कर्त्तव्य है कि जो बात हमे उचित ओर लाभदायक मालूम होती है स्वय उसके अनुसार अपना आचरण रखकर उसकी उपयोगिता उन्हे साबित कर दे। या तो उन्हे समझा-बुझाकर या अपने प्रत्यक्ष आचरण के द्वारा ही हम उन्हे उनकी उपयोगिता का कायल कर सकते है। यदि हम दो मे से एक भी न करे तो इसमे उनका क्या दोष? वे तो स्वय अपने उदाहरण के द्वारा यह पाठ पढा रहे है कि जिसको तुम अच्छा समझते हो वह करो, उसपर दृढ रहो, जैसा कि हम रहते है। हमे विश्वास रखना चाहिए कि हमारे बडे-बूढे इतने विचारवान् और विवेकी जरूर है कि वे मौके को देखकर सम्हल जायँगे और खुद आगे रहकर उन दोषो को दूर कर देगे।

साहित्य-कला मे उसका आदर-सत्कार है, शिक्षा-दीक्षा मे भी वही अगुआ है। स्त्रियो को न तो पढने की स्वतन्त्रता और सुविधा और न घर से बाहर निकलने की। परदा और घघट तो नाग-पाश की तरह उन्हे जकडे हुए है। चूल्हा-चौका, धोना-रोना, बाल-बच्चे यह हिन्दू स्त्री का सारा जीवन है। इस विषमता को दूर किये बिना हिन्दू-समाज का कल्याण नही। देश और काल के ज्ञानी पुरुषो को चाहिए कि वे स्त्रियो के विकास में अपना कदम तेजी से आगे बढाये। जहा तक लब्ध-प्रतिष्ठ, बलवान् और प्रभावशाली व्यक्ति के दुर्गुणो से सम्बन्ध है, हिन्दू-पुरुष हिन्दू-स्त्री से बढ-चढकर है। और जहातक अन्तर्जगत् के गुण और सौंदर्य से सम्बन्ध है, वहा तक, स्त्रिया पुरुषो से बहुत आगे है। पुरुषो का लौकिक जीवन अधिक आकर्षक है, उपयोगी है, व्यक्तिगत जीवन अधिक दोष-युक्त, नीरस और कलुषित है। अपने सामाजिक प्रभुत्व से वह समाज को चाहे लाभ पहुँचा सकता हो, पर व्यक्तिगत विकास मे वह पीछे पड गया है। विपक्ष मे स्त्रियो के उच्च गुणो का उपयोग देश और समाज को कम होता है, परन्तु व्यक्तिगत जीवन मे वे उनको बहुत ऊँचा उठा देते है। अपनी बुद्धि-चातुरी से पुरुष सामाजिक जगत् मे कितना ही ऊँचा उठ जाता हो, व्यक्तिगत जीवन उसका भोग-विलास, रोग-शोक, भय-चिन्ता मे समाप्त हो जाता है। स्त्रियो की गति समाज और देश के व्यवहार-जगत् मे न होने के कारण, उनमे सामाजिकता का अभाव पाया जाता है। अतएव अब पुरुषो के जीवन को अधिक व्यक्तिगत और पवित्र बनाने की आवश्यकता है, और स्त्रियो के जीवन को सामाजिक कामो मे अधिक लगाने की। पुरुषो और स्त्रियो के जीवन मे इस प्रकार सामञ्जस्य जब-तक न होगा, तबतक न उन्हे सुख मिल सकता है, न समाज को।

यह तो हुआ स्त्री-पुरुषो के जीवन का सामान्य प्रश्न। अब रहा

उनके पारस्परिक सम्बन्ध का प्रश्न। मेरी यह धारणा है कि स्त्री, पुरुष की अपेक्षा, अधिक वफादार है। पुरुष एक तो सामाजिक प्रभुता के कारण और दूसरे अनेक भले-बुरे लोगो और वस्तुओ के सम्पर्क के कारण अधिक बेवफा हो गया है। स्त्रिया व्यक्तिगत और गृह-जीवन के कारण स्वभावत स्वरक्षणशील अतएव वफादार रह पाई है। पर अब हमारी सामाजिक अवस्था मे ऐसा उथल-पुथल हो रहा है कि पुरुषो का जीवन अधिक उच्च, सात्विक और श्रेष्ठ एव वफादार बने बिना समाज का पाव आगे न बढ सकेगा। अबतक पुरुषो ने स्त्रियो के कर्त्तव्यो पर बहुत जोर दिया है। उनकी वफादारी, पातिव्रत हमारे यहा पवित्रता की पराकाष्ठा मानी गई है। अब ऐसा समय आगया है कि पुरुष अपने कर्त्तव्यो की ओर ज्यादा ध्यान दे। व्यभिचारी, दुराचारी, आक्रामक, अत्याचारी पुरुष के मुह मे अब पतिव्रत-धर्म की बात शोभा नही देती। हमारी माताओ और बहनो ने इस अग्नि-परीक्षा मे तपकर अपनेको शुद्ध सुवर्ण सिद्ध कर दिया है। अब पुरुष की बारी है। अब उसकी परीक्षा का युग आ रहा है। अब उसे अपने लिए पत्नीव्रत-धर्म की रचना करनी चाहिए। अब स्मृतियो मे, कथा-वार्ताओ मे, पत्नीव्रत-धर्म की विधि और उपदेश होना चाहिए। पत्नीव्रत-धर्म के मानी है पत्नी के प्रति वफादारी। स्त्री अबतक जैसे पति को परमेश्वर मानकर एकनिष्ठा से उसे अपना आराध्यदेव मानती आई है, उसी प्रकार पत्नी को गृहदेवी मानकर हमे उसका आदर करना चाहिए, उसके विकास में हर प्रकार सहायता करनी चाहिए, और सप्तपदी के समय जो प्रतिज्ञाये पुरुष ने उसके साथ की है, उनका पालन एकनिष्ठा-पूर्वक होना चाहिए।

इस प्रकार स्त्री-जीवन को समाजशील बनाये बिना, और पुरुष-जीवन को पत्नीव्रत-धर्म की दीक्षा दिये बिना, हिन्दू-समाज का उद्धार

कठिन है। हर्ष की बात है कि एक ओर पुरुष अपनी इस त्रुटि को समझने लग गया है और दूसरी ओर स्त्रियो ने भी अपनी आवाज उठाई है। इसका फल दोनो के लिए अच्छा होगा, इसमे सन्देह नही।

[६]

सन्तति-निग्रह

'विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपात. शतमुख'

जब मौसम बदलता है तब कितने ही लोग अक्सर बीमार हो जाते हैं। जब कैदी एकाएक जेल से छूट जाते है तो कितने ही मारे खुशी के सुध-बुध भूल जाते हैं। जब बहुत दिनो के सोये हुए मुसाफिर एकाएक जग पडते है तब बहुतेरे दीवाने-से हो जाते हैं। जब रोगी एकाएक आराम पाने लगता है तब अक्सर बदपरहेजी कर बैठता है। बहुत-कुछ यही हालत हमारे देश के अति-उत्साही युवको की हो रही है। सदियो से गुलामी की नीद मे सोये वे जागृति का अनुभव और स्वतत्रता के प्रतिबिम्ब का दर्शन करके मानो बौखला गये है। बहुत दिनो का प्यासा जिस तरह पेट फूलने तक पानी पी लेना चाहता है उसी तरह वे स्वतन्त्रता की कल्पना-मात्र से इतने बौराये जा रहे है कि नीति, सुरुचि और शिष्टता तक की मर्यादा का पालन करना नही चाहते। बल्कि यह कहे तो अत्युक्ति न होगी कि वे नियम को ही एक बन्धन मानते हुए दिखाई देते हैं। शायद वे निरकुशता को स्वतन्त्रता मान बैठे है। क्या साहित्य, क्या समाज, क्या राजनीति, तीनो क्षेत्रो मे इस उच्छृखलता के दर्शन हो रहे हैं। यह विकार का लक्षण है। इससे समाज का लाभ तो शायद ही हो, उलटा व्यतिक्रम का अन्देशा रहता

है। स्वतन्त्रता की धुन मे मस्त हमारे कई नवयुवक इन दिनो सन्तति के सम्वन्ध में भी उच्छृखल वन जाना पसद करते हैं। अतएव यही समय है जब चेतावनी देने की, 'ठहरो और सोचो' कहने की जरूरत होती है।

'सन्तान-वृद्धि-निग्रह' के मोह मे कन्याओ, स्त्रियो और वच्चो के हाथ मे पडनेवाले पत्रो तक मे सुरुचि तक का सहार करते हुए 'सन्तति-निग्रह' का प्रचार हो रहा है उसपर ध्यान जाने से ये विचार मन मे उठ रहे है। कुछ हिन्दी पत्रो की गति-विधि पर सूक्ष्म रूप से ध्यान देने से मेरा यह मत होता जाता है कि अश्लीलता, अशिष्टता, कुरुचि, कुत्सा की उनकी कसौटी सर्वसाधारण भारतीय समाज की कसौटी से भिन्न है और उन्होने बुद्धि-पूर्वक ही अपनी यह रीति-नीति रक्खी है। नही मालूम इसमे वे समाज का क्या कल्याण देखते हैं।

यूरोप मे एक समाज ऐसा है जिसका यह मत है कि ज्ञान के प्रचार से, फिर वह अच्छी वात का हो या बुरी या अनुचित या अश्लील मानी जानेवाली वात का हो, कभी हानि नही होती। वे उससे उलटा लाभ समझते हैं। वे कहते हैं, हम जन-समाज के सामने सव तरह की ज्ञान-सामग्री उपस्थित करते है, वह विवेक-पूर्वक उसमे से अच्छी और हितकर सामग्री चुन ले और उसे अपना ले। इससे उसकी सारासार-विवेक-शक्ति जाग्रत होगी। वह स्वतन्त्र और स्वावलम्वी होगा और इसलिए वे अश्लील और गुह्य वातो का प्रचार करने के लिए अपनेको स्वतन्त्र मानते है, अपना अधिकार समझते हैं। इसी समाज के मत का अनुसरण हमारे देश के कुछ उत्साही युवक कर रहे है। वे स्वय विवेक-पूर्वक चुनकर ज्ञान-सामग्री समाज को देना नही चाहते वल्कि चुनाव का और विवेक के प्रयोग का भार जन-समाज पर रखना चाहते हैं। कह

नही सकते कि इस चित्तवृत्ति के मूल मे समाज की विवेक-शक्ति को जाग्रत और पुष्ट करने की भावना मुख्यत काम कर रही है या मनोमोहक, विलास-मधुर सामग्री का उपभोग करने और कराने की युवक-जन-सुलभ कमजोरी। विचार-स्वातन्त्र्य और कार्य-स्वातत्र्य ही नही वल्कि प्रचार-स्वातत्र्य के उदाराशय के भ्रम मे कही उनसे स्वेच्छाचार, काम-लिप्सा और विषय-भोग को तो उत्तेजना नही मिल रही है ? हा, अधिकार तो मनुष्य 'नगा नाचने' का भी रखता है, पर वह किसी भी सभ्य समाज मे 'नगा नाचने' के लिए स्वतन्त्र नही है, और दूसरे यदि वह नाचने लगे तो समाज को उससे जवाव तलब करने का भी अधिकार प्राप्त है। जन-समाज प्राय सरल-हृदय होता है। वह भोले-भाले शिशु की तरह है। वह सहवास, सस्कार और शिक्षा-दीक्षा से विवेक प्राप्त करता है। वह शिक्षक या साथी या मार्गदर्शक निस्सदेह हितचिन्तक नही है, जो अपने विवेक को अपनी जेब मे रखकर उसकी बुद्धि को निरकुश छोड देता है। कोई भी अनुभवी शिक्षा-शास्त्री और समाज-शास्त्री इस रीति का अनुमोदन न करेगा। प्रत्येक शिक्षा-शास्त्री और समाज-शास्त्री ने निर्दोष और पवित्र वायु-मण्डल मे ही मनुष्य की उच्च मनोवृत्तियो के अर्थात् मनुष्यता के विकास की कल्पना की है। मनुष्य निसर्गत स्वतन्त्र है, पर निरकुश नही। प्रकृति का साम्राज्य इतना सुव्यवस्थित है कि उसमे निरकुशता के लिए जरा भी जगह नही है। प्रकृति के राज्य मे पशु-पक्षी भी, अपने समाज के अन्दर, निरकुश नही है। जहा कोई निरकुश हुआ नही कि प्रकृति ने अपना राज्य-दण्ड उठाया नही। फिर उस शिक्षक या साथी से समाज को लाभ ही क्या, जो अपने विवेक का लाभ उसे न पहुँचाता हो। अन्न और ककर दोनो वस्तुये वालक के सामने लाकर रख देने और चुनाव की सारी पसदगी

उस पर छोड देनेवाले शिक्षक के विवेक की कोई प्रशसा करेगा ? सन्तान-वृद्धि को रोकने के लिए ब्रह्मचर्य और कृत्रिम साधन इन दो मे से कृत्रिम-साधनो की सिफारिश करनेवाले और ब्रह्मचर्य को सर्व-साधारण के लिए अ-सुलभ वतानेवाले शिक्षक या डाक्टर की स्तुति कितनी की जाय ? वे तो और एक कदम आगे वढ जाते है—चुनाव की पसदगी भी जन-साधारण पर नही छोडते, उलटा स्पष्टत अपने प्रिय (और मेरी दृष्टि मे हानिकर) साधन की सिफारिश भी करते है और सर्वसाधारण के लाभार्थ उसकी विधि भी वता देते है।

स्वतन्त्रता और निरकुशता या उच्छृङ्खलता दो जुदी चीजे है। स्वतन्त्रता का मूलाधार है सयम, निरकुशता का मूलाधार है स्वेच्छाचार। सयम के द्वारा मनुष्य स्वय तो स्वतन्त्र होता ही है पर वह औरो को भी स्वतन्त्र रहने देता है। स्वेच्छाचार का अर्थ है औरो की न्यायोचित स्वतन्त्रता का अपहरण। यदि हमे औरो की स्वतन्त्रता भी उतनी प्यारी हो जितनी कि खुद अपनी हमे प्यारी है, तो हमे सयम का व्यवहार किये विना चारा नही। जो खुद तो स्वतन्त्र रहना चाहता है, पर दूसरे की स्वतन्त्रता की परवा नही करता, वह स्वतन्त्रता का प्रेमी नही, स्वेच्छाचार का प्रेमी है, स्वार्थान्ध है। ब्रह्मचर्य सयम का ककहरा है और विवेक सयम का नेता है। अतएव विवेकहीन ज्ञान-प्रचार अज्ञान-प्रचार का दूसरा नाम है। गन्दी वातो का प्रचार स्वेच्छाचार ही है। स्वेच्छाचार समाज का अपराध है। स्वेच्छाचार और असयम एक ही वस्तु के दो रूप है। मनुष्य सयम करने के लिए चारो ओर से वाध्य है। प्रकृति का तो वह धर्म ही है। स्वेच्छाचार या असयम प्रकृति का नही, विकृति का धर्म है। प्रत्येक मनोवेग को प्रकृति का धर्म मानकर उसे उच्छृखल छोड देना पागलपन या उन्मत्तता को प्रकृति का धर्म वताना है। ऐसा

समाज मनुष्यो का समाज न होगा। राक्षसो का समाज होगा, दीवानो का समाज होगा। मनुष्य स्वय भी सयम के लिए प्रेरित होता है और जबतक उसे स्वय ऐसी प्रेरणा नही होती, तबतक समाज उससे सयम का पालन कराता है—नीति और सदाचार के नियमो की रचना करके और उनका पालन कराके। इस प्रकार मनुष्य प्रकृति, स्वय-प्रेरणा और समाज तीनो के द्वारा सयम करने के लिए बाध्य है। मनुष्य की सबसे अच्छी परिभाषा यही हो सकती है—सयम का पुतला। मनुष्य-समाज और पशु-समाज मे अन्तर डालने वाली यदि कोई बात है तो यही कि मनुष्य-समाज मे नीति-सदाचार, विवेक की सुव्यवस्था है, पशु-समाज मे नही। यदि हो तो उसका ज्ञान हमे नही। नीति-सदाचार मनुष्य के गहरे सामाजिक और आत्मिक अनुभव के फल है। उनकी उपेक्षा करना लडकपन है। उनकी हँसी उडाना स्वयँ अपने को गालिया देना है। फिर किसी वैज्ञानिक विषय की वैज्ञानिक ढग पर, उसके जिज्ञासुओ के सामने, विज्ञानशालाओ मे चर्चा करना एक बात है, और सर्वसाधारण के सामने, लडके-लडकियो के सामने, उनका प्रदर्शन करना, प्रचार करना, विधि-विधान बताना हद दर्जे का स्वेच्छाचार है। सुव्यवस्थित और शिष्ट समाज इसे सहन नही कर सकता। अतएव जबतक समाज को आप इस बात का यकीन नही करा सकते कि सुरुचि, अश्लीलता, शिष्टता-सम्बन्धी आपकी कसौटी ही ठीक है तबतक आपका यह कृत्य निरकुश ही माना जायगा। समाज के 'मौन' को 'सम्मति-लक्षण' मानना तो भारी गलती है। नही, उसकी सज्जनता और सहनशीलता का उसे दण्ड देना है।

योरोप की कितनी ही बाते अनुकरण-योग्य है, पर हर नई बात नही। हमे अपने विवेक से पूरा-पूरा काम लेना चाहिए। योरोप अभी

वच्चा है—भारत वूढा है। आज भारत चाहे पराजित हो, गुलाम हो, पतित हो, पर अव भी योरोप को वह समाज-शास्त्र और धर्मशास्त्र की शिक्षा दे सकता है। उसके ज्ञान और अनुभव की सच्ची कदर तव होगी जव योरोप कुछ प्रौढावस्था मे पदार्पण करेगा। इसलिए योरोप की किसी भी नई चीज का स्वागत करने के पहले हमे यह देखना चाहिए कि हमारे यहा इसके लिए क्या विधि-विधान है। यदि कुछ भी न होगे, या योरोप से अच्छे न होगे तभी हम देश, काल, पात्र का पूरा विचार करके उसको अपनावे। कोई चीज महज इसीलिए अनुकरणीय नही हो सकती कि वह नई है, या योरोप की वनी है। गुण-दोप की छान-वीन होने के वाद ही अनुकरण होना चाहिए। ब्रह्मचर्य की महत्ता सिद्ध करने की आवश्यकता नही। सयम के गुण स्पष्ट है। दिल को कडा करके थोडा-सा अनुभव कर देखिए। हाथ कगन को आरसी क्या ? हमारा मन अपने वस मे नही रहता इसलिए ब्रह्मचर्य को कोसना अपनी निर्वलता की नुमाइश दिखाना है। इन्द्रिय-निग्रह मे कौडी का खर्च नही, कृत्रिम साधनो को खरीदने के लिए डाक्टरो की दूकानो पर जाकर रुपया वर्वाद करने की जरूरत नही। थोडा मन को वस मे रखने की जरूरत है। आश्चर्य और खेद इस वात पर होता है कि लोग कृत्रिम साघनो को ब्रह्मचर्य से ज्यादह सरल और सुसाध्य वताते है। यदि हमे सचमुच अपनी सन्तति के ही कल्याण की इच्छा है, जिसका कि दावा कृत्रिम साधनो के हामी करते है, अपनी काम-लिप्सा को तृप्त करने की इच्छा नही, तो हम अनुभव करेगे कि कृत्रिम साधनो की अपेक्षा ब्रह्मचर्य ही स्वाभाविक, सस्ता, स्वास्थ्य-सौन्दर्य-वर्धक और स्थायी साधन है। यह मानकर कि ब्रह्मचर्य सार्वसाधारण के लिए कुछ मुश्किल है, कृत्रिम माधनो की सिफारिश करना ऐसा ही है जैसा कि

हमारी सरकार का फौज के लिए वेश्याओ की तजवीज करना, या घर मे शराब बनाना बुरा है इसलिए शराब की भट्टी खोलकर वहा पीने भेजना। कृत्रिम साधनो के उपयोग की सिफारिश करना लोगो को कायरता की शिक्षा देना है—एक ओर ब्रह्मचर्य के पालन कीआवश्यकता न रहने देकर और दूसरी ओर सन्तान के पालन-पोषण के भार से मुक्त करके। विषय-भोग की उन्मत्तता तो वे अपने अन्दर कायम रखना चाहते है, पर उसकी जिम्मेवारियो से दुम दबाना चाहते है। यह हद दरजे की कायरता है। या तो सयम का पालन करके पुरुषार्थ का परिचय दीजिए या सन्तान का भार वहन करके पुरुषार्थी बनिए। ब्रह्मचर्य-पालन के लिए सिर्फ सादा जीवन, सत्सगति, शुद्ध विचार की आवश्यकता है। उन्हे यह सब मजूर नही। अपने क्षणिक शारीरिक सुख के लिए, अपनी कल्पित कमजोरी की बदौलत, सारे मानव-वश के कुछ मृदुल और सात्विक गुणो के विनाश का बीज बोना, इस स्वार्थान्धता का, इस अज्ञान का कुछ ठिकाना है! उन्होने सोचा है कि इस अनियन्त्रित कामलिप्सा और उसकी निरतर पूर्ति से स्वय उनके शरीर, मन और बुद्धि पर तथा उनकी सन्तान की मनोदशा और प्रवृत्तियो पर क्या असर होगा? योरोप के मनोविज्ञानियो का कहना है कि ऐसे अप्राकृतिक साधनो के प्रयोग की बदौलत वहा एक भिन्न और विपरीत प्रकृति का नया वर्ग ही निर्माण हो रहा है! गृहस्थ-जीवन की हस्ती जबतक दुनिया से मिट नही जाती तबतक कृत्रिम उपायो से सन्तान-वृद्धि-निग्रह का प्रचार करना गृह-जीवन को नीरस और अमगल बनाने को प्रयत्न करना है। पता है, आपके गुरु योरोप मे अब केवल कम सन्तति नही, बिल्कुल ही सन्तति न होने देने की इच्छा अकुरित हो रही है? क्यो? वे नही चाहते कि सन्तति की बदौलत उनके

शारीरिक और आर्थिक सुख मे वाधा पडे ! अनियन्त्रित प्रजोत्पादन के हक मे कोई भी विचार-शील पुरुष राय न देगा । पर उसका स्वाभाविक साधन ब्रह्मचर्य है, सयम है, न कि ये कृत्रिम साधन । उनसे अभीष्ट-सिद्धि के साथ ही मनुष्य के वल-वीर्य की और उच्च व्यक्तिगत तथा सामाजिक गुणो की वृद्धि होगी, तहा कृत्रिम साधनो से व्यक्तिगत, शारीरिक सुखेच्छा-मूलक स्वार्थ-भाव और हीन तथा विपरीत मनोवृत्तियो की वृद्धि होगी ! नीति ओर सदाचार सामाजिक सुव्यवस्था की वुनियाद है । अतएव क्या विज्ञान, क्या कानून, क्या कला सव नीति और सदाचार के पोषक होने चाहिए । पर समाज मे कुछ विपरीत मनोवृत्ति वाले लोग भी देखे जाते है जो इन साधनो का उपयोग नीति-सदाचार के घात और निरकुशता तथा स्वेच्छाचार की वृद्धि के लिए किया करते है । हो सकता है कि उनका प्रेरक हेतु जन-कल्याण ही हो, पर इसमे कोई शक नही कि उनकी कार्य-विधि मे विचार, अनुभव और ज्ञान की जगह जोश, आतुरता और विचार हुआ करता है । विचार-हीन उत्साह को बन्दर की लीला ही समझिए ।

इसलिए उन सज्जनो से मेरी प्रार्थना है कि दया करके देश के युवको को इस कायरता और स्वार्थान्धता के उलटे रास्ते पर न ले जाइए । यदि आप देश-हितैपी है तो उन्हे पुरुषार्थ की, ब्रह्मचर्य की ही शिक्षा दीजिए । उसी के प्रचार की तजवीजे सोचिए । ईश्वर के लिए अपनी कमजोरियो का शिकार उन्हे न वनाइए । मनुष्य क्या नही कर सकता ? जो मनुष्य सारे पृथिवी-मण्डल को हिला सकता है, हम देखते है कि वह हिला रहा है, वह ब्रह्मचर्य का पालन नही कर सकता, सयम-पूर्वक गृहस्थ-जीवन नही व्यतीत कर सकता, ऐसी वाते शिक्षित मनुष्यो के, तिस पर भी भारतवासी के, मुह से शोभा नही देती । जो वात

जरा मुश्किल मालूम होती है उसके लिए फौरन् अविचार-मूलक आसान तजवीज खोजना, मानो पुरुषार्थ-हीन वनाने का कार्य्यक्रम तैयार करना है। कोशिश करने की जरूरत अगर है तो मुश्किलो को आसान वनानें की, ऊपर चढने की तदवीर करने की, न कि मुश्किलो से दुम दवाकर आसानी का नुसखा दिखाने की या नीचे गिरने और फिसलने की तरकीव वताने की। ब्रह्मचर्य को एकवारगी गालिया न दे वैठिए। जरा अपने वुजुर्गो के अनुभवो को भी पढ देखिए। उन्होने जीवन के हर अग मे ब्रह्मचर्य और सयम की जरूरत वताई है। गृहस्थ-जीवन को भी उन्होने मनुष्य की कुछ कमजोरियो के लिए जिन्हे वह अवतक दूर नही कर पाया है—एक रिआयत के तौर पर माना है। उनके सामाजिक ज्ञान और अनुभव को विना देखे ही, विना आजमायें ही धता न वताइए। मैं यह नही कहता कि वडो-वूढो के या किसी के भी गुलाम वनो। पर मैं यह जरूर कहता हूँ, जो अपने मनोवेगो के आगे विचार और अनुभव की सीख पर ध्यान नही देता वह इस उक्ति को अपने पर चरितार्थ करेगा—

सुहृदां हितकामानां न शृणोति हि यो वच.।
स कूर्म इव दुर्वुद्धि' काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति॥

हम जरूर स्वतन्त्रता के हामी हो, पुजारी हो, पर अविवेक के नही। हम जरूर ज्ञान के लिए लालायित रहे, पर अश्लील वातो के नही—वुरी वातो के नही। वुरी वातो का मिटाना मुश्किल है, इसलिए उनको सुलभ ओर इष्ट वनाना सुनीति नही है।

परिशिष्ट (२)

हिन्दूधर्म की रूप-रेखा

हिन्दू-समाज इन दिनों क्रान्ति के पथ पर है। इस्लाम के आक्रमण ने जहाँ उसे स्थिति-पालक (Conservative) बनाया, तहाँ ईसाई-सभ्यता उसे अपने पुराने विश्व-बन्धुत्व की ओर ले जा रही है। इस्लाम यद्यपि एक ईश्वर का पुजारी और भ्रातृभाव का पृष्ठ-पोषक है, तथापि भारत पर उसके आक्रमणकारी स्वरूप ने हिन्दू-समाज को उससे दूर फेक दिया है। इसके विपरीत ईसाई-सस्कृति अपने मधुर स्वरूप के प्रभाव से हिन्दू-समाज को अपने नजदीक ला रही है। भिन्न-भिन्न सस्कृतियों और जातियों के ऐसे सम्पर्क और सघर्ष के समय किसी भी एक सस्कृति या जाति का अपने वर्तमान रूप मे बना रहना असम्भव हो जाता है। दोनों एक-दूसरे पर अपना असर छोडे बिना नही रहते। हाँ, यह ठीक है कि, विजित सस्कृति और जाति, विजेता सस्कृति और जाति का, अधिक अनुकरण करने लगती है। क्योंकि वह स्वभावत. सोचने

लगती है कि किन कारणों ने उसे जिताया और मुझे हराया और जो वाह्य अथवा आभ्यतर कारण उस समय उसकी समझ मे आ जाते है, उन्हीं का वह अनुकरण करने लगतो है—इस इच्छा से कि इन वातों को प्राप्त कर और इन वातों को छोड कर मैं फिर अपनी अच्छी दशा को पहुंच जाऊं।

हिन्दू-समाज और हिन्दू-धर्म इस समय ससार के किसी धर्म और समाज के असर से अपने को नही बचा सकता। यह वात सच है कि हिन्दू-समाज को हिन्दू-धर्म से जो ऊँची और अच्छी वाते विरासत मे मिली हैं, वे और समाजों को अवतक नसीव नही हुई है। पर हिन्दू-समाज तब तक उन वातों से न स्वय काफी लाभ उठा सकता है और न औरों को लाभ पहुंचा सकता है, जब तक कि वह खुद उस विरासत को, जमाने के मौजूदा प्रकाश में, अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल न बना ले और अपने को उस विरासत के योग्य न साबित कर दे। इसी काट-छांट, उलट-फेर या परिवर्तन का नाम है क्रान्ति। इस समय हिन्दू-समाज और हिन्दू-धर्म के प्राय प्रत्येक अग में एक हल-चल हो रही है, एक उथल-पुथल मच रही है, और यह उसके दूषित भाग को काटे तथा उत्तम भाग को पुष्ट किये विना न रहेगी। आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, और जिसे आजकल लोग गांधी-मत कहने लगे है, ये सब इसी क्रान्ति के लाल झण्डे है। आइए, इसी क्रान्ति के प्रकाश में, हमारी बुद्धि और समाज की आवश्यकता हमे जितनी दूर ले जा सकती है, हम हिन्दू-धर्म और समाज सम्बन्धी वर्तमान ज्वलन्त समस्याओं पर, यहाँ से वहाँ तक नये सिरे से विचार करे और उसका श्रीगणेश करे हिन्दू-धर्म की रूप-रेखा से।

'हिन्दू' शब्द

जिस समाज को आज 'हिन्दू' कहते है उसे प्राचीन काल में 'आर्य' कहते थे। हिन्दुस्थान का भी प्राचीन नाम आर्यावर्त था। हिन्दुस्थान के

पश्चिम में 'सिन्धु' नाम की एक बडी भारी नदी है। उसके रास्ते से यवन सब से पहले भारतवर्ष मे आये। सिन्धु-नदी के आस-पास बसने के कारण उन्होंने आर्यों का परिचय अपने देशवासियों को 'सिधु' के नाम से दिया। प्राकृत-भाषा में सस्कृत के 'स' शब्द का बहुत जगह 'ह' रूप हो जाता है। इस कारण 'सिन्धु' शब्द समय पाकर 'हिन्दू' मे बदल गया। हिन्दुओं के निवास-स्थान भारतवर्ष का नाम भी हिन्दुस्थान वा हिन्दुस्तान पड गया।

महर्षि दयानन्द भारत की प्राचीन सस्कृति और प्राचीन जीवन के बडे प्रेमी और अभिमानी थे। 'हिन्दू' नाम एक तो प्राचीन न था, दूसरे यवनों के द्वारा दिया गया था, इस कारण उन्होंने फिर से प्राचीन शब्द 'आर्य' का प्रचार करना चाहा था। अभी तक तो 'आर्य' शब्द प्राय. उस समाज का सूचक माना जाता है, जो महर्षि दयानन्द के सिद्धान्तों पर चलना चाहता है। आज भी हिन्दू पुरुषों के नाम के अन्त में प्राय. जो 'जी' शब्द लगाते है, वह 'आर्य' शब्द ही का अपभ्रष्ट रूप है।

हिन्दू-धर्म के भिन्न-भिन्न नाम

हिदू-धर्म आजकल आर्य-धर्म, वैदिक-धर्म, सनातन-धर्म आदि कई नामों से पुकारा जाता है। बौद्ध, जैन, तथा सिख धर्म भी हिदू-धर्म के ही अग है। आर्य-धर्म का अर्थ है आर्यों का प्रतिपालित धर्म। वैदिक-धर्म का मतलब है वेदों में प्रतिपादित धर्म और सनातन धर्म का अर्थ है सृष्टि के आरभ से चला आया और सृष्टि के अन्त तक चला जानेवाला धर्म। बौद्ध, जैन और सिख धर्मों को स्वतन्त्र धर्म कहने के बजाय हिदू-धर्म के सम्प्रदाय या पथ कहना ज्यादा सार्थक होगा। हिदू-धर्म को अब कुछ लोग सनातन-मानव-धर्म या मानवधर्म भी कहने लगे है। इसके द्वारा वे यह सूचित करना चाहते है कि (१) हिदू-धर्म, सामान्य मानव-धर्म से भिन्न नही और (२) समयानुसार रूपान्तर करते हुए भी उसके मूल तत्व

आदि से अन्त तक अटल रहते हैं। अतएव मेरी राय में हिन्दू-धर्म का दूसरा ठीक नाम है सनातनधर्म। 'आर्य-धर्म' नाम का तो प्रचार अभी बहुत कम हुआ है, और 'वैदिक-धर्म' का प्रचार करने से हमारी बुद्धि 'वेदों' तक मर्यादित हो जाती है। जब कभी हमे समय को देखकर धर्म के किसी विशेष सिद्धान्त पर जोर देने को या उसके किसी अग को निषिद्ध करार देने की जरूरत पेश आती है, तब हमें 'वेदों' का सहारा लेना पडता है और यदि प्रसगवश 'वेदों' ने हमारा साथ न दिया तो या तो उनके अर्थों को खीचातानी करनी पडती है, या निराश होना पडना है। आजकल प्रत्येक वाद मे जो यह देखने की प्रथा-सी पड गई है कि यह वेद मे है या नही, यह इसी वृत्ति का परिणाम है। किसी धर्म के मूलभूत सिद्धान्त या तत्व जिस प्रकार अटल होते है, त्रिकालाबाधित होते है, उसी प्रकार उस के धर्मग्रन्थ—फिर वे एक हों या अनेक—अटल, अपरिवर्तनीय नही होते। हाँ, यह बात ठीक है कि अबतक हिदू-धर्म के मूल-ग्रन्थ एक प्रकार से 'वेद' ही माने गये है, परन्तु हमें याद रखना चाहिए कि प्राचीन चार्वाक बौद्ध, और जैन तथा अर्वाचीन सिख-पथ के लोग वेदों को नही मानते है—फिर भी वे हिदू-धर्म के अग तो है। अतएव अब 'हिदू-धर्म' को 'वेदिक-धर्म' नाम देना उसे सकुचित कर देना है, और दूसरे धर्म-पथों के लिए उसका दर्वाजा रोक देना है। यह दूसरी बात है कि वेदों का अर्थ इस प्रकार किया जाय कि जिससे भिन्न-भिन्न धर्म-पथों के वे विशिष्ट सिद्धान्त या अग उनमे उसी तरह समाविष्ट हो जायॅ जिस तरह कि उनके पृथक् धर्म-ग्रन्थों मे है और इस प्रकार वेदों की महिमा कायम रक्खी जाय। पर एक तो हिदू-धर्म के मूल तत्वों में इतना बल और उपयोगिता है कि वे किसी ग्रन्थ या व्यक्ति का सहारा लिये बिना न केवल कायम ही रह सकते है बल्कि फैल भी सकते है, और दूसरे, यदि वेदों मे उन बातों का समा-

यज्ञ था ही तो फिर ये वेद-विरोधी नये सम्प्रदाय बने ही क्यों, और अब तक टिक ही क्यों पाये हैं ? तीसरे वेदों की भाषा आज सर्वसाधारण की भाषा से इतनी भिन्न है, और उनका भाव तथा शैली इतनी गूढ और क्लिष्ट है कि सर्व-साधारण में उनका घर-घर प्रचार एक असंभवसी बात है। बिना भाष्यों के उनका मतलब ही समझ मे नही आता। फिर वे किसी शास्त्रीय ग्रथ की तरह व्यवस्थित और क्रमबद्ध नही। यह दूसरी बात है कि हमारी भावुकता उन्हे अपौरुषेय माने, हमारी श्रद्धा उन्हे सब 'सत्-विद्याओं का आगार' कहे, हमारी व्यवहार-बुद्धि इस पैतृक सम्पत्ति की आराधना करे, पर धर्म-प्रेम, धर्म-प्रचार कहता है कि ग्रन्थ-विशेष तक धर्म की गति को मर्यादित कर दोगे तो धर्म की मौलिकता और उज्ज्वलता कम हो जायगी तथा समाज का विकास रुक जायगा—समाज अनेकविध हो कर कुपन्थी हो जायगा और अब तक ग्रन्थ-विशेष या व्यक्ति-विशेष को धर्म का आधार मानने वालों के समाज की यही हालत हुई है।

मानव-धर्म या सनातन-धर्म

'हिन्दू' शब्द अब यद्यपि इतना व्यापक हो गया है कि उसमे जैन, बौद्ध, सिख, सब अपना समावेश करने लगे हैं, परन्तु जो लोग उसे विश्व-धर्म की कोटि और योग्यता पर पहुँचाना चाहते हैं वे बहुधा निराश होंगे या मुश्किल से सफल होंगे, यदि 'हिंदू' शब्द का भी आग्रह कायम रक्खेंगे। या तो उसे मानव-धर्म कहें या सनातन-धर्म। सनातन-धर्म का रूढ अर्थ यद्यपि सकुचित हो गया है तथापि 'हिंदू' शब्द की अपेक्षा उसके अर्थ में विस्तार-क्षमता अधिक है और न वह ग्रथ, व्यक्ति, देश या समाज से सीमित ही है।

यह तो हुई नाम की अर्थात् ऊपरी बात। यदि हम भीतरी सार वस्तु को ठीक-ठीक समझ लेंगे तो बाहरी बातों के लिए विवाद या उलझन का अवसर बहुत कम रह जायगा।

हिन्दू-धर्म की व्यापकता

यदि हिंदू-धर्म के मूलतत्व का विचार करे तो वह साधारण मानव-धर्म से भिन्न नही मालूम होता। यदि हिंदू-धर्म की आचार-पद्धति पर ध्यान न दे—केवल तत्व को ही देखे, तो वह सारे मनुष्य-समाज के धर्म का स्थान ले सकता है। दूसरी भाषा में यों कहे कि एक मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, राजनतिक और मानवी सब प्रकार की भूख या आवश्यकताओं की पूर्त्ति की गुजाइश उसमें है। हिंदू-धर्म का सबसे वडा तत्त्व यह है कि यह विश्व चैतन्य से भरा हुआ है,—फिर उसे चाहे ईश्वर कहिए, चाहे सत्य कहिए, चाहे ब्रह्म कहिए, चाहे शक्ति कहिए, चाहे और कुछ—किन्तु यह सारी जड-चेतन-रूप सृष्टि उसीकी बनी हुई है। सर्व-साधारण की भाषा में इसे यों कह सकते है—ईश्वर या आत्मा है और वह घट-घट मे व्याप्त है। यह हुआ परम सत्य। दुनिया के तत्वज्ञानी या दार्शनिक अभी तक सत्य की अर्थात् दुनिया के मूल की खोज मे इससे आगे नही बढे है। हर धर्म के विचारशील दार्शनिकों ने इस बात पर विचार किया है कि मनुष्य क्या है, वह क्यों पैदा हुआ है, वह कहां से आया है, कहाँ जायगा, दुनिया से उसका क्या सम्बन्ध है, दुनिया के प्रति उसका क्या कर्त्तव्य है, मनुष्य को और इस सारी सृष्टि को किसने पैदा किया, इसका मूल क्या है, उसके प्रति मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है, आदि। हिंदू-धर्म मे इस विचार-साहित्य का नाम है दर्शनग्रथ या धर्मग्रथ और विचार-तथ्यों का नाम है धर्म-तत्व। हिंदू-धर्म और हिन्दू-समाज मे 'धर्म' शब्द प्राय. छ अर्थों में प्रयुक्त होता है—

(१) परम सत्य—जैसे, ईश्वर, या आत्मा या चैतन्य है और वह सब मे फैला हुआ है।

(२) **परम सत्य तक पहुँचने का साधन**—जैसे, प्राणी मात्र के प्रति आत्म-भाव रखना—सब को अपने जैसा समझना—अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय, आदि का पालन।

(३) **कर्त्तव्य**—जैसे, माता-पिता की सेवा करना पुत्र का धर्म है, पड़ौसी की और दीन-दुखियों की सहायता करना या प्रतिज्ञा-पालन मनुष्य का धर्म है।

(४) **सत्कर्म या पुण्य अर्थात् सत्कर्म-फल**—जैसे, दान देने से धर्म होता है।

(५) **स्वभाव या गुण-विशेष**—बहना पानी का धर्म है, उड़ना पक्षियों का धर्म है, मारना विष का धर्म है।

(६) **धर्म-पन्थ**—हमारा हिन्दू-धर्म है, या ईसाई या मुस्लिम धर्म है।

अब आप देखेंगे कि 'धर्म' शब्द कैसे विविध अर्थों में व्यवहृत होता है। इससे हमे हिंदू-समाज और हिंदू-जीवन मे धर्म शब्द की व्यापकता का पता लगता है। इससे हमें इस बात का भी ज्ञान होता है कि 'धर्म' के विषय में हिंदू-समाज मे क्यों इतनी विचार-भिन्नता तथा विचार-भ्रम है। कोई पूजा-अर्चा को ही धर्म मानता है, कोई गेरुए कपडे पहनने को ही धर्म मान बैठा है, कोई खान-पान, ब्याह-शादी, मृत्यु-भोज को ही धर्म मान रहा है, कोई जप-तप को धर्म समझता है, कोई स्नान-ध्यान को और कोई परोपकार, जाति-सेवा और देश-सेवा को धर्म समझ रहा है। इन सब का मूल है 'धर्म' शब्द की इस व्यापकता मे। गर्भाधान से लेकर मृत्यु और मोक्ष प्राप्त करने तक हिंदुओं का सारा जीवन इसी कारण धर्म-मय माना गया है। धर्मतत्व, धर्म-पालन के नियम, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और राजनैतिक तथा स्वास्थ्य और शिक्षा-सम्बन्धी सब प्रकार के सिद्धान्त और नियम हिंदुओं के यहाँ धर्म-नियम है।

हिन्दू-धर्म की व्याख्या

हिंदुओं के जीवन में 'धर्म' की इतनी व्यापकता को देख कर ही उनके यहाँ धर्म का यह लक्षण बांधा गया—

यत अभ्युदय-निश्रेयस-सिद्धि स धर्म ।

अर्थात् जिसके द्वारा मनुष्य को सब प्रकार का सांसारिक सुख-वैभव प्राप्त हो और उसके पश्चात् तथा साथ हो ईश्वरी सुख-शान्ति भी मिले उसीका नाम है धर्म। सरल भाषा में कहें तो जिससे लोक-परलोक दोनों सधे, वह धर्म है। इस व्याख्या में धर्म-तत्व, धर्म-शास्त्र, नीति-नियम, स्वास्थ्य-साधन, शिक्षा-विधान, राज तथा समाज-नियम सब का भली भांति समावेश हो जाता है। वर्तमान हिंदू-समाज को ध्यान मे रख कर, आधुनिक काल मे, लोकमान्य तिलक महाराज ने—

प्रामाण्यवुद्धिर्वेदेपु उपासनानामनेकता ।

अर्थात् जो वेद को मानता हो, अनेक देवी-देवताओं की उपासना को मानता हो, आदि व्याख्या हिंदू की की है। यह व्याख्या एक प्रकार से आजकल के सकुचित सनातन-धर्मी कहे जाने वाले हिंदू-धर्म की हो जाती है। इसमें सिख, जैन, बौद्ध आदि तो दूर, एक तरह से आर्य-समाजी भी नही आ सकते।

दूसरी व्याख्या हाल ही मे देशभक्त सावरकर ने की है। इसके अनुसार केवल वही मनुष्य हिंदू कहा जा सकता है जो भारतवर्ष को अपनी धर्म-भूमि और मातृ-भूमि मानता हो। लोकमान्य की व्याख्या से तो यह अधिक व्यापक और हिंदू-समाज की वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल है। इससे हिंदू-समाज के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में एक-हिंदू-भाव की जड जमेगी। इससे वर्तमान हिंदू-समाज के सगठन मे तो सहूलियत हो जायगी, परन्तु हिंदू-धर्म के प्रसार और हिंदू-समाज के

विस्तार मे सहायता न मिलेगी। हमे हिंदू-सघटन इस बात को लक्ष्य करके करना है कि हिंदू-धर्म मे पृथिवी का बच्चा-बच्चा लाभ उठावे। इसके लिए मेरी राय मे और भी व्यापक परिभाषा की आवश्यकता है। वह ऐसी हो जो कि हिंदू-धर्म का रहस्य, महत्व और सिद्धांत भी हमे समझा दे और हमारे सर्वतोमुखी विकास मे हमें सब तरह सहायता दे। ऐसी एक व्याख्या मै आज हिंदू-विचारकों को सेवा में उपस्थित कर रहा हूं। मेरी परिभाषा यह है कि हिंदू वह है जो पाँच सिद्धांतों को मानता हो—

(१) सर्वात्म-भाव
(२) सर्व-भूत-हित
(३) पुनर्जन्म
(४) वर्णाश्रम और
(५) गो-रक्षा

फिर वह चाहे किसी देश और वेश मे रहता हो और चाहे किसी ग्रन्थ या गुरु को मानता हो।

धर्म के पूर्वोक्त छहों रूपों को तथा पूर्वोक्त व्याख्या को हम दो भागों मे बांट सकते है—

(१) धर्म-तत्व और (२) धर्माचार। पहले भाग मे तत्व-चिन्तन और तत्व-निर्णय किया जाता है और दूसरे भाग मे उसके पालन के विधि-विधान बताये जाते हैं। पहला विचार का विषय है, दूसरा आचार का। या यों कहे कि पहला भाग लक्ष्य स्थिर करता है और दूसरा उस तक पहुँचने के मार्ग या उपाय बताता है। इस लक्ष्य, या साध्य, या तत्व-निर्णय या धर्म-विचार से जहाँ तक सम्बन्ध है, ससार के समस्त धर्म-मतों में तथा हिंदू-धर्म के भिन्न-भिन्न अग-रूप धर्म-पन्थों मे प्रायः कोई भेद नही है। जैसे मनुष्य का लक्ष्य है पूर्णता को प्राप्त करना—

इसका विरोध किसी धर्म-मत में न मिलेगा। यह हो सकता है कि भाषा जुदी-जुदी हो—पर भाव यही मिलेगा। जैसे हिंदू इसे कहेगा, मोक्ष प्राप्त करना, साक्षात्कार करना, ईश्वर-स्वरूप हो जाना, स्थितप्रज्ञ होना, ब्रह्मत्व को प्राप्त होना, कैवल्य, निर्वाण या जिनत्व प्राप्त करना अथवा ज्ञानी हो जाना आदि। इस लक्ष्य को पहुँचने का साधन है—पवित्र जीवन व्यतीत करना, दूसरी भाषा में कहें तो गुणों को बढाना, शक्तियों को बढाना और दोषों को तथा कमजोरियों को कम कर डालना। या यों कहें कि अपना विचार और अपनी सेवा छोड कर दूसरों का विचार और सेवा करते रहना। इसे आप चाहे धर्माचरण कहिए, तप कहिए, देश और समाज-सेवा कहिए—कुछ भी कहिए। कहने का सार यह कि मनुष्य के लक्ष्य के सम्बन्ध में, अन्तिम स्थिति के विषय में, विविध धर्म-मतों में, भाषा-भेद के अतिरिक्त भाव-भेद नही है और न उसके मुख्य साधन—राज-द्वार—के विषय में ही खास आशय-भेद है। मन्तव्य, स्थान और प्राप्तव्य स्थिति जब कि एक है, उसके स्वरूप-वर्णन में चाहे दृष्टि, रुचि, योग्यता, अवस्था आदि के भेद से कुछ भेद हो—वहाँ तक पहुँचने का राज-द्वार जब कि एक है—फिर उस तक ले जाने वाले छोटे-बडे टेढ़े-मेढे रास्ते चाहे अनेक हों—तब पन्थ-भेद और धर्म-भेद रह कहाँ जाता है? वह रहता है तत्व-भेद में नही, आचार के अङ्गोपाङ्ग में।

हिन्दू-धर्म का सब से बडा सिद्धान्त है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। एकमेवाद्वितीयम्। सोऽहम्।

अर्थात् यह सब विश्व ब्रह्ममय—चैतन्य-मय है। वह सब में एक रूप से व्याप्त है। मै भी वही या उसी का अंश हूँ। जन-साधारण इसीको आत्मा या ईश्वर कहते है। बुद्धि और आचरण के द्वारा इस सत्य का अनुभव करना मनुष्य का स्वभाव-धर्म है। यह हुआ मनुष्य का लक्ष्य।

इसीका नाम है मनुष्यत्व प्राप्त करना। जबतक मनुष्य इस अवस्था को नही प्राप्त होता, वह अपने दिल और दिमाग—आचार और विचार के द्वारा यह नही अनुभव करलेता कि आत्मा ही परमात्मा है—जीव-मात्र का सुख-दुःख मेरा सुख-दुःख है, उनके गुण-दोष मेरे गुण-दोष है, उनकी सबलता-निर्बलता मेरी सबलता-निर्बलता है, तब तक वह अपने लक्ष्य, पूर्णत्व या मनुष्यत्व से दूर है।

हिन्दू-धर्म का दूसरा बडा सिद्धांत है—'सर्व भूत-हित'। यह हिन्दू को उसके ध्येय तक पहुँचने का द्वार दिखाता है। इसका अर्थ है—प्राणि-मात्र के हित मे लगे रहना। अर्थात् जो हिन्दू हर मनुष्य का—फिर वह किसी भी जात-पांत या देश का हो—सदा भला चाहेगा और करेगा, अपने भले से बढकर और पहले दूसरे का भला चाहेगा और करेगा, जो पशु-पक्षी-कीडे-मकोडे तक के हित मे तत्पर रहेगा, वही अपने जीवन-लक्ष्य तक पहुँच सकेगा। ऐसे जीवन का ही नाम पवित्र जीवन, हिन्दू-जीवन या साधु-जीवन है। एक हिन्दू के लिए केवल यही काफी नही है कि वह जान ले कि मुझे पूर्णता को पहुँचना है—दुनिया के सब दुःखो, सब कम-जोरियों, सब दोषों, सब बन्धनों से सदा के लिए छूट जाना है, या मनुष्योचित समस्त सद्गुणों, सद्भावों और सत्शक्तियों का उदय और पूर्ण विकास अपने अन्दर करना है, बल्कि यह भी जरूरी है कि वह उनके लिए सच्चे दिल से आजीवन अथक प्रयत्न करे। वह प्रयत्न कैसा और किस दिशा मे हो—इसीका दर्शक यह दूसरा सिद्धांत है। इस सिद्धांत मे समाज-सेवा, देश-हित, राष्ट्र-कल्याण, परोपकार आदि सद्भावों और सत्कार्यों का बीज है। हिन्दू भिन्न-भिन्न सेवा-कार्य इसलिए नही करता है कि उनसे दुनिया में उसकी कीर्त्ति फैलती है, या बडप्पन और गौरव मिलता है, या उच्च पद और प्रतिष्ठा मिलती है, या और कोई दुनियावी

महत्वाकांक्षा सिद्ध होती है, बल्कि इसलिए करता है कि इनके बिना उसका जीवन-कार्य अधूरा रह जाता है, मनुष्योचित गुणों का विकास उसके अन्दर पूरा-पूरा नही हो पाता, उसके मनुष्यत्व या हिन्दुत्व की पूरी-पूरी कसौटी नहीं हो पाती। हिन्दू-धर्म का आधार-शास्त्र, या कर्मकाण्ड, या धार्मिक विधि-निषेध या यम-नियमादि का समावेश इसमे हो जाता है।

हिन्दू-धर्म के ये दो सिद्धांत—एक लक्ष्य सबधी, दूसरा साधन-सबधी—ऐसे है जो उसे मानव-धर्म की कोटि मे ला बिठाते है, मानव-धर्म के लिए इससे बढकर सिद्धांत अभी तक किसी विचारक, धर्माचार्य, या धर्म-प्रवर्तक के दिमाग और अनुभव मे नही आये। इसके अतिरिक्त हिन्दू-धर्म मे कुछ ऐसे सिद्धांत भी है जो अन्य धर्म-मतों से उसे पृथक् करते है। वे हैं पुनजन्म, वर्णाश्रम और गोरक्षा। पुनर्जन्म का जन्म यद्यपि प्रधानतः तत्व-चिन्तन से हुआ है, तथापि उसका व्यावहारिक महत्व और उपयोग भी है। वर्णाश्रम का सबध यों सामाजिक जीवन से विशेष है, पर वह हिन्दू-समाज का प्राणरूप हो गया है, इसलिए वह हिन्दू-धर्म की विशेषता की हद तक पहुँच गया है। गोरक्षा यों तत्वत· अहिसा या सर्व-भूतहित का अ ग है, पर उसका व्यावहारिक लाभ भारतवासियों के लिए इतना है कि उसे हिन्दू-धर्म के मुख्य अगों में स्थान मिल गया है। इसके अलावा मूर्त्तिपूजा, अवतार, श्राद्ध, तीर्थ-व्रत आदि सम्बधी ऐसे मन्तव्य भी हिन्दू-धर्म मे है, जिनका समर्थन तत्वदृष्टि से एक अश तक किया जा सकता है, परन्तु जिनका मूल-स्वरूप बहुत बिगड गया है और जिनका आज बहुत दुरुपयोग हो रहा है एव इसलिए जिनके विषय मे हिन्दू-धर्म के भिन्न-भिन्न पन्थों मे मत-भेद है।

इस तरह सक्षेप मे यदि हिन्दू-धर्म की रूप रेखा, व्याख्या या मुख्य सिद्धांत बताना चाहे तो यों कह सकते है—

(१) सर्वात्म-भाव, आत्म-तत्व, अद्वैत या चैतन्य-तत्व, (२) सर्वभूतहित, (३) पुनर्जन्म, (४) वर्णाश्रम और (५) गोरक्षा।

इनमे किसी की भाषा पर, या किसी एक की मान्यता के विषय मे, भले ही मत-भेद हो, पर ये पांचों बाते ऐसी नही है, जिनके मानने से किसी को बाधा होती हो। समष्टिरूप से ऐसा कह सकते है कि ये पांचों सिद्धांत प्राय प्रत्येक हिन्दू को मान्य होते हैं, और जो इन पांच बातों को मानता है उसे हमें हिदू समझना, चाहिए।

परिशिष्ट (३)

हिन्दू-धर्म का विराट् रूप

धर्म मूलत वैयक्तिक वस्तु है—व्यक्ति के अपने पालन करने को चीजहै। एक ही धर्मके पालन करनेवाले जब अनेक व्यक्ति हो जाते हैं तब उनका अपना एक समाज बन जाता है। इसीको धर्म-समाज कहते है। आगे चलकर यही समाज किसी जाति के रूप में परिणत हो जाता है। हिन्दू-समाज या हिन्दू-जाति का जन्म पहले बताये हिन्दू-धर्म के सिद्धान्तों का पालन करने के लिए हुआ है।

व्यक्ति जब तक अकेला होता है तब तक वह एकाकी ही धर्म का पालन करता है—अपने लक्ष्य तक पहुँचने की चेष्टा करता है। दूसरों का ख्याल उसके मनमें आ ही नही सकता। एक से दो और दो से अधिक होते ही उनका एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध और सम्पर्क होने लगता है और उनके पारस्परिक कर्त्तव्य या धर्म या व्यवहार-नियम बनने लगते है।

इन्हींकी परिणति आगे चलकर भिन्न-भिन्न नीति-नियमों मे होती है। समाज बना नही और बढने लगा नही कि मनुष्य के जीवन में जटिलता आई नही। जटिलता के आते ही धर्म का रूप भी जटिल होता जाता है और समाज के विकास के साथ ही उसका रूप भी विराट होने लगता है। क्योंकि अब उसे केवल एक व्यक्ति की ही सहायता नही करनी है, उसी की आवश्यकता को पूर्ति नही करनी है—अब तो अनेकों का, अनेक प्रकार की अवस्थाओं मे रहनेवालों का प्रश्न उसके सामने रहता है। हिन्दू-समाज आज बहुत विकसित रूप में हमारे सामने है, और इसीलिए हिन्दू-धर्म का रूप भी विराट् हो गया है। वह केवल आदर्शों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाला तात्त्विक धर्म नही रहा, बल्कि सब प्रकार की श्रेणियों, पत्तियों तथा विविध स्थितियों के लोगों को उनके लक्ष्य तक पहुँचानेवाला व्यावहारिक या अमली धर्म हो गया है। एक से लेकर अनेक तक, छोटे से लेकर बड़े तक, राजा से लेकर रक तक, मूर्ख से लेकर पण्डित और तत्त्वदर्शी तक, पापी से लेकर पुण्यात्मा तक, स्त्री पुरुष-बालक-वृद्ध सबकी सुविधाओं, आवश्यकताओं, कठिनाइयों का ख़याल उसे रखना पड़ता है और इसलिए उसका रूप विविध और जटिल हो गया है। बड़े-बड़े तत्त्वदर्शियों से लेकर अबोध किसान, मजदूर, स्त्री, बालक तक की भूख बुझाने का सामर्थ्य उसमें है। तत्त्वजिज्ञासुओं के लिए हिन्दू धर्म में गम्भीर दर्शन-ग्रन्थ तथा भगवद्गीता विद्यमान् है, जीवन को पवित्र और उच्च बनानेवालों के लिए स्फूर्तिदायी उपनिषद् वर्तमान है, कर्म-काण्डियों और याज्ञिकों के लिए विधि-निषेधात्मक वेद तथा स्मृति-ग्रन्थ है, भक्तों और भावुकों के लिए रसमयी रामायण-भागवत आदि है, अज्ञों और अल्पज्ञों के लिए कथा-कहानियों-दृष्टान्तों से भरे पुराणादि तथा तान्त्रिक ग्रन्थ है एव समाज तथा राज्य-सचालकों के लिए महाभारत,

विदुर-नीति, शुक-नीति, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वात्स्यायन के काम-सूत्र, कामन्दकीय नीति आदि साहित्य हैं, साहित्य-रसज्ञों और काव्य-पिपासुओं के लिए भिन्न-भिन्न साहित्य-ग्रन्थ तथा काव्य-नाटकादि हैं। इसी प्रकार क्या ज्योतिष, क्या वैद्यक, क्या कला, क्या शिक्षा, क्या युद्ध, सब विषयों पर हिन्दूवाङ्मय में अच्छा साहित्य मिलता है। वर्णाश्रम तथा भिन्न-भिन्न धर्म-मतों या सम्प्रदायों के भेद से हिन्दू-समाज और धर्म अनेक-विध हो गया है और उसकी इस विविधता, अनेकरूपता, व्यापकता और सर्व-लोकोपयोगिता के रहस्य को न समझने के कारण कितने ही देशी तथा विदेशी भ्रम में पड जाते हैं तथा उसकी लोक-प्रियता को देखकर हैरान हो जाते हैं। विविधता उन्हे उसके मूल-स्वरूप को भली-भाँति नही देखने देती, विस्तार उसके आदर्शों तक सहसा नहीं पहुंचने देता और लोक-प्रचार तथा लोक-प्रचलित साधारण रूप उनके मन मे वह स्फूर्ति नही पैदा करता जो उच्च आदर्श कर सकता है। वे ऊँचे तत्त्वों और आदर्शों की खोज में हिन्दू-धर्म के पास उत्कण्ठा से आते है और उसके जन-साधारण मे प्रचलित व्यावहारिक और विकृत रूप को देखकर निराश हो जाते हैं। यह न उनका दोष है, न हिन्दू-धर्म का। यह दोष है हिन्दू-धर्म के विराट् रूप का और उसकी सगति लगा पाने की अपनी अक्षमता का।

हमे यह भूलना न चाहिए कि धर्म का यह विराट् रूप व्यक्तिगत नही सामाजिक है। समाजोपयोगी बनने के हेतु से ही उसका इतना विस्तार हुआ है। जब मनुष्य अकेला होता है तब उसकी किसी धारणा या उसके आचार में मत-भेद के लिए उतना स्थान नही रहता, जितना कि समाज में या समाज बन जाने पर होता है। समुदाय के लिए मत-भेद बिलकुल स्वाभाविक बात है। विचार और आचार-सम्बन्धी मत-भेदों ने ही ससार में अनेक धर्म-पन्थों की स्थापना की है। इसी कारण हिन्दू-धर्म मे भी

कई मत हो गये हैं, जिन्होंने हिन्दू-धर्म को बहुत जटिल और व्यापक रूप दे दिया है ।

पहले मनुष्य उत्पन्न होता है, वह कुछ विचार करता है, दूसरे पर अपने विचार प्रकट करता है, और फिर कालान्तर में वह लिखा जाकर पुस्तक-रूप में प्रकाशित होता है । इस प्रकार कोई ग्रन्थ जहां व्यक्तियो या समाज की धारणाओं, प्रवृत्तियों और हलचलों का कार्य होता है तहाँ उनका कारण भी होता है, अर्थात् कोई ग्रन्थ जहाँ समाज के विचारों और आचारों का परिणाम-स्वरूप होता है वहां वह उसे आगे विचार और आचार के लिए प्रेरित भी करता है । इस कारण किसी ग्रन्थ को देखकर हम यह अनुमान कर सकते है कि उसके पूर्ववर्ती समाज की क्या अवस्था रही होगी, ग्रन्थ-कालीन समाज की आवश्यकतायें क्या रही होंगी, तथा परवर्ती समाज कैसा रहा होगा । समाज मे जो ग्रन्थ जितना ही अधिक आदरणीय होता है उतना ही वह समाज-स्थित्ति का, गति-विधि का अधिक और ठीक सूचक होता है । ऐतिहासिक विचारकों ने ऐसे ग्रन्थों के आसपास के समय को, जिसपर उनका प्रभाव पड़ने का अनुमान किया गया हो, उस ग्रन्थ के काल का नाम दे दिया है । इसी प्रकार प्रभावशाली व्यक्ति-विशेष या सूचक वस्तु-विशेष के नामानुसार भी ऐतिहासिक काल-विभाग किया गया है । जैसे—वेद-काल, उपनिषत्-काल, दर्शन-काल, सूत्र-काल, बौद्ध-काल, गुप्त-काल, प्रस्तर-युग, धातु-युग आदि ।

वेद हिन्दुओं के सबसे पुराने मान्य ग्रन्थ है । वे चार हैं—ऋक्, यजु, साम, और अथर्व । उनके आसपास के समय को वेद-काल कहते है । इस काल मे प्रार्थना तथा यज्ञ-यागादि के द्वारा अपने जीवन को सुखी और पवित्र बनाने का साधन हिन्दुओं को अभिमत था । इसके बाद उपनिषत्-काल आता है । उपनिषद् वेदों के विकास का फल है । इस काल

में आत्मा-परमात्मा संबंधी ऊंची कल्पनाओं का उदय हुआ और हिन्दू उच्च नैतिक जीवन तथा दार्शनिक विचारों के प्रेमी हुए। पश्चात् दर्शन काल है और इनमे हिन्दुओं के—तत्कालीन आर्यों के—गंभीर तत्त्व-चिन्तन, तर्कशुद्ध मनन और शास्त्रीय विचार-प्रणाली की गहरी छाप दिखाई पडती है। सूत्र और स्मृतियां हिन्दुओं के आचार-शास्त्र की, महाभारत आदि समाज-नीति की गहरी पहचान कराती है। हिन्दुओं के इस धर्म-साहित्य को देखने से जहाँ यह मालूम होता है कि धर्म-चिन्तन और धर्माचरण मे वे कैसे कैसे प्रगति करते गये, वहाँ यह भी पता चलता है कि वे राज्य-संचालन, समाज-व्यवस्था आदि मे भी कैसे निपुण और बहुज्ञ होते गये। इस प्रकरण में हमारा संबंध सिर्फ धार्मिक जीवन या धर्म-प्रगति से है।

जैसे-जैसे हिन्दू-समाज बढता गया, धर्म-चिन्तन और धर्माचार मे विविधता और मत-भिन्नता होती गई, वैसे-वैसे उनके फलस्वरूप अनेक दर्शन, अनेक स्मृतियां, अनेक सम्प्रदाय-ग्रन्थ तथा अन्य पुस्तकों की सृष्टि हुई और समाज अनेक वर्गों, जातियों, दलों में विभक्त होता गया। मनुष्य के लक्ष्य और उसके मार्ग-संबधी बातों मे विवाद उपस्थित होने लगे तथा देश, काल, पात्र के अनुसार उनके व्यवहार की सीढियां जुदी-जुदी बनती गई। काल पाकर ईश्वर, जीव और जगत् संबंधी तत्त्व-विचारों में इतनी भिन्नता हुई कि सांख्य, मीमांसा (दो भाग) न्याय, योग, वेदान्त इन छः शास्त्रों की रचना हुई। यज्ञ-याग और कर्म-काण्डादि बाह्य-साधनों की ओर अधिक ध्यान देने और अन्त शुद्धि की कम पर्वा करने की अवस्था में गौतम बुद्ध ने धर्म के स्वरूप मे संशोधन उपस्थित किया, जो कि बौद्ध-संप्रदाय के नाम से विख्यात हुआ। इसी प्रकार तप और आत्मशुद्धि के प्रति उदासीनता तथा हिंसा के अतिरेक को

देखकर महावीर ने जैन-सम्प्रदाय को पुष्ट किया। इसके आगे चलकर शकराचार्य ने अद्वैत, रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने द्वैत और वल्लभाचार्य ने द्वैताद्वैत आदि मतों की स्थापना की। इधर धार्मिक जीवन के विकास-भेद से कर्म, भक्ति और ज्ञान इन श्रेणियों का जन्म पहले ही हो चुका था, जिनके फलस्वरूप कर्ममार्गी, भक्तिमार्गी, ज्ञानमार्गी, अनेक पथ और धर्म-साहित्य बन गये। पुष्टिमार्ग, कबीरपथ, दादूपथ, नाथ-सप्रदाय, इसीके उदाहरण है। वर्तमान प्रार्थना-समाज, ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, देवसमाज, थियासफी, आदि भी इसी प्रवृत्ति के सूचक और फल है। फिर त्याग और भोग-प्रवृत्ति अर्थात् कर्म-मार्ग और सन्यास-मार्ग ये दो विभाग अलग हो गये। वर्णाश्रम के ८ विभागों के धर्म-मार्ग और भी विविध हो गये। भक्ति-मार्ग ने अनेक देवी-देवताओं की उपासना को, मूर्ति-पूजा को, तथा योग-मार्ग ने देह-दण्डन तथा चित्त-शुद्धि के निमित्त दान, जप, तीर्थ, व्रत, नियम-विषयक एव जत्र, मत्र, तत्र-सबधी अनेक पन्थों को जन्म दिया। इन तमाम मतों, सिद्धान्तो, पन्थों का समावेश कर्म-मार्ग, भक्तिमार्ग, और ज्ञान-मार्ग मे भली भांति हो जाता है। ये तीनो मार्ग मनुष्य की तीन बलवती चित्त-वृत्तियों के अनुसार बने है—कर्मण्यता या क्रियाशीलता, भावुकता या भावना-प्रचुरता और विरक्ति अथवा उदासीनता, ये तीनों उत्तरोत्तर ऊची सीढियाँ है। हिन्दू का जीवन कर्म से आरभ हो कर ज्ञान मे समाप्त होता है। ज्ञान का सबध मनुष्य के लक्ष्य से है—कर्म और भक्ति का साधनों से।

परिशिष्ट (४)

नव दम्पति की कठिनाइयाँ

नव दम्पतियों की दाम्पत्य जीवन-सम्बन्धी कई कठिनाइयां अक्सर सामने आया करती हैं। कही पति-पत्नी का आपस में मन-मुटाव हो जाता है, कही दूसरे लोग उन्हे एक दूसरे के खिलाफ बहका कर उनका गृह-जीवन क्लेशमय कर देते है, कही वे माँ-बाप से बिगाड कर लेते है, कही कच्ची उम्र मे माता-पिता के पद को पहुँच कर दु खी होते हुए देखे जाते है और कही तरह-तरह के गुप्त रोगों के शिकार हो जाते है। बाल्यावस्था मे हुए विवाहों के ऐसे दुष्परिणाम बहुत देखे जाते है। एक ओर उन्हे सामाजिक और सांसारिक व्यवहार के नियमों का यथेष्ट ज्ञान नही होता और दूसरी ओर समाज की अलिखित मर्यादा उन्हे अपने बडे-बूढों के सलाह-मशविरे से रोक देती है। ऐसी अवस्था मे, कठिनाई, उलझन या सकट के समय, न स्वय उन्हे प्रकाश-पथ दिखाई देता है और न दूसरों की काफी सहायता उन्हे मिल पाती है। धूर्त और स्वार्थी लोग ऐसी परिस्थितियों से न केवल खुद बेजा लाभ उठाते है बल्कि दम्पती को भी बडे सकट मे डाल देते है। धनी और रईस लोगों के यहाँ ऐसी दुर्घटनाये अधिक होती है। क्योंकि उनका धन और ऐश्वर्य खुशामदियों, धूर्तों, स्वार्थियों के काम की चीज होता है। अतएव अपने नव-विवाहित भाई-बहनों के लाभ के लिए कुछ ऐसे

व्यावहारिक नियम यहाँ दिये जाते हैं, जिनके ज्ञान और पालन से वे बहुतेरे सकटों से बच सकेंगे—

(१) सबसे पहली और जरूरी बात यह है कि उन्हें आपस में खूब प्रेम बढाना चाहिए। एक को दूसरे के गुण की कद्र करनी चाहिए और दोषों को उदार दृष्टि से देखकर उन्हे दूर करने में परस्पर सहायता देनी चाहिए। पति बडा और पत्नी छोटी, यह भाव दिल से निकाल डालना चाहिए। प्रेम बढाने का यह मतलब नही कि दिन-रात भोग-विलास की बाते सोचते और करते रहे, बल्कि यह कि एक-दूसरे का हृदय एक-दूसरे से अभिन्न हो जाय। एक का दु ख दूसरे को अपना दुःख मालूम होने लगे, एक की त्रुटि दूसरे को अपनी त्रुटि मालूम होने लगे। एक-दूसरे को अपना सखा, हितैषी और सेवक समझे। एक-दूसरे की रुचि का ख़याल रक्खे। स्वभाव की त्रुटि या व्यवहार की भूलों को हृदय का दोष न समझ ले।

(२) दूसरी बात यह कि परस्पर इतना विश्वास पैदा कर ले और रक्खे कि तीसरा कोई भी व्यक्ति एक-दूसरे के बारे मे उन्हे कुछ भी कह दे तो एकाएक उनके दिल पर उसका असर न हो। यदि असर हो भी जाय तो उसके अनुसार व्यवहार तो एकाएक हर्गिज न कर बैठना चाहिए। चरित्र-सम्बन्धी बुराई एक ऐसी बात होती है, जिसे स्वार्थी या नादान हितैषी इस तरह कह देते है कि सहसा विश्वास हो जाता है या होने लगता है। ऐसे समय ख़ास तौर पर सावधान रहने की जरूरत है। ऐसे मामलों में अत्युक्ति और अनुदारता की बहुत प्रबलता देखी जाती है। ऐसी बाते सुनकर, एकाएक आवेश में आकर, पति का पत्नी से या पत्नी का पति से बिगाड़ कर लेना भारी भूल है। ऐसे मामलों मे एक बार तो मनुष्य अपनी आँखों पर भी विश्वास न करे तो अच्छा। दोनो को एक-दूसरे के हृदय पर इतना विश्वास हो जाना चाहिए

कि कोई बुराई प्रत्यक्ष दिखाई देने पर भी उस पर सहसा विश्वास न बैठे। यह मालूम हो कि नहीं, मेरी आँखों को कुछ भ्रम हो रहा है। ऐसा विश्वास जमता है एक-दूसरे का हृदय एक-दूसरे पर खुला कर देने से। पति-पत्नी दोनों का निजी जीवन एक-दूसरे के लिए खुली पुस्तक होनी चाहिए। यदि दो में से किसी के मन मे कोई कुविचार या कुविकार भी पैदा हो तो उस तक का जिक्र परस्पर मे करने योग्य हृदयैक्य दोनों का चाहिए। दो में से जो ज्यादा समझदार और योग्य है उसे चाहिए कि ऐसे कुविचारों और कुविकारों की हानियाँ दूसरे को समझावे और उनके दूर करने मे सहायता दे। दोनों को एक-दूसरे के दिल का इतना इत्मीनान होना चाहिए कि वह निर्भय होकर अपनी बुराइयाँ उससे कह दे और विश्वास-घात का भय न रहे। विश्वास मे कही गई बातों की रक्षा अपने प्राण की रक्षा के समान करनी चाहिए।

(३) तीसरी और सबसे नाजुक बात है दो मे से किसी से कोई नैतिक भूल हो जाने के समय की व्यवहार-नीति। दुर्भाग्य से हमारे समाज मे पुरुष की नैतिक भूल इतनी बुरी निगाह से नही देखी जाती, जितनी कि स्त्री की देखी जाती है। ऐसी बुराइयों की भयकरता तो दोनों दशाओं में समान है। यदि ऐसी कोई भूल हो जाय तो एकाएक लड पडने, बहिष्कार कर देने या आवेश में और कोई अनहोनी बात कर बैठने के पहले यह देखना चाहिए कि यह दोष भूल से हुआ है, जान-बूझकर किया गया है, या जब्रन हुआ है। यदि भूल से हुआ है तो भूल दिखाना और उसका प्रायश्चित्त कराना पहला उपाय है। यदि जान-बूझ-कर किया गया है तो इसका विचार अधिक गम्भीरता से करना चाहिए। इसके मूल कारण को खोजना चाहिए। कैसे लोगों की सगति में अबतक का जीवन बीता है, कैसा साहित्य पढ़ने या देखने की रुचि है, कैसा

आहार-विहार है, घर का वायु-मण्डल कैसा है, इत्यादि बातों की छान-बीन करके फिर भूल को नष्ट करने का उद्योग करना चाहिए। असफल होने की अवस्था मे बहिष्कार या सम्बन्ध-विच्छेद अन्तिम उपाय होना चाहिए। यदि जब्र किया गया हो तो जब्र करनेवाला असली अपराधी है, उसका इलाज करना चाहिए, और जिसपर जब्र किया गया हो उसे ऐसा सामर्थ्य प्राप्त कराने का उद्योग करना चाहिए, जिससे किसी किस्म के बलात्कार को शिकार वह न हो पावे। ऐसे अवसरों पर मनोभावों का उत्कट हो जाना स्वाभाविक है, परन्तु ऐसे ही समय बहुत शान्ति, धीरज, गम्भीरता, कुशलता और दूरदर्शिता की अवश्यकता होती है। नवीन दम्पति ऐसे अवसरों पर कर्तव्य-मूढ हो सकते है। उन्हे घर के समझदार विश्वास पात्र बडे-बूढ़ों को अथवा अनुभवी मित्रों की सहायता ऐसे समय ले लेनी चाहिए। बिना सोचे, तौले और आदमी देखे ऐसी बातों की चर्चा हलके दिल से न करनी चाहिए। दूसरे के घर की सुनी बातों की चर्चा भी बिला वजह और बिना प्रयोजन के न करनी चाहिए।

(४) चौथी बात यह कि नवीन दम्पतियों को या तो घर के किसी बूडे-बूढे को या किसी विश्वासपात्र मित्र को या किसी महापुरुष को अपना पथ-दर्शक बनाना चाहिए। लज्जा और सकोच छोड़कर अपनी कठिनाइयाँ उनके सामने रखनी चाहिए और उनसे सलाह लेनी चाहिए। अक्सर देखा गया है कि झूठी लज्जा के वशवर्ती होकर कितने ही युवक-युवती बुराइयों, बुरी बातों, बुरे व्यवहारों और हरकतों को मन मसोसकर सहते रहते है—इससे खुद वे भी बुराई के शिकार होते रहते हैं और घर या समाज मे भी गन्दगी फैलती रहती है और उनकी आत्मा को भीतर ही भीतर क्लेश होता रहता है। कई बीमारियों में वे फँस जाते हैं और दु ख पाते रहते है। यह हालत बहुत खतरनाक है। इससे बेहतर यह है कि नि·सकोच

होकर गुह्य बातों की भी चर्चा अधिकारी पुरुषों के सामने कर ली जाय।

(५) पाँचवाँ नियम यह होना चाहिए कि विवाह के बाद योग्य अवस्था होते ही पति पत्नी को साथ रहना चाहिए। दूर देशों मे अलग अलग रहना, सो भी बहुत दिनों तक, भयप्रद है। साथ रहते हुए जहाँ तक हो सयम का पालन करना चाहिए। पर संयम के लोभ से अथवा ख़र्च वर्च और अध्ययविधा के ख़याल से दूर रहना अनुचित और कु-फलदायी है।

(६) गुप्त रोग हो जाने की अवस्था मे अपने जीवन के दूसरे साथी को उससे बचाने की चिन्ता रखनी चाहिए। उसके इलाज का पूरा प्रबन्ध करके आइन्दा उसे न होने देने के कारणों को जड से उखाड डालना चाहिए। अनुचित आहार-विहार, अ-संयम, गदे स्थानों पर पाखाना-पेशाब, वेश्या-सेवन आदि से गुप्त रोग हो जाया करते है। सदा और अल्प आहार, सयम, स्वच्छता के ज्ञान और पालन से मनुष्य ऐसे रोगों से दूर रह सकता है। विज्ञापनी दवाइयों से हमेशा बचना चाहिए।

(७) सातवी बात यह है कि अश्लील और कामुकता तथा विलासिता के भावों को बढानेवाले नाटक, उपन्यास, आदि पढने, ऐसे थियेटर सिनेमा, चित्र देखने से अपने को बचाना चाहिए। ऐसे मित्रों की सगति और ऐसे विषयों की चर्चा से उदासीन रहना चाहिए।

(८) आठवी बात यह है कि पत्नी की रुचि अपने अगीकृत कामों मे धीरे-धीरे बढानी चाहिए और उसे उनके ज्ञान और अनुभव का अवसर देना चाहिए। दोनों को एक-दूसरे के जीवन को बनाने और अगींकृत कार्यो को पूर्ण करने में दिलचस्पी लेनी चाहिए।

मुझे आशा है कि ये कुछ बाते नव दम्पतियों के लिए कुछ हद तक मार्गदर्शक का काम देगी।

कुछ भ्रमों का निरसन

[५]

[१]

बौद्धिक स्वार्थ-साधुता

कुछ लोगो का यह कहना है कि भारत मे सच्ची स्वतत्रता या जनता की सरकार तबतक नही बन सकती जबतक पूजीवाद का मुह काला न होगा और पूजीवाद को मिटाने के लिए वर्गवाद और वर्ग-युद्ध अनिवार्य है। किन्तु मेरी राय मे हमारा असली शत्रु है हमारी बौद्धिक स्वार्थ-साधुता। क्योकि वास्तव मे देखा जाय तो जो मनुष्य सारे समाज के हित का विचार करता है, जो सामुदायिक उत्थान का हामी है, वह कदापि एक व्यक्ति के नाश पर दूसरे व्यक्ति का, एक जाति या श्रेणी के नाश पर दूसरी जाति या श्रेणी का, अथवा एक राष्ट्र के नाम पर दूसरे राष्ट्र का अभ्युत्थान या लाभ नही चाह सकता। एक का नाश और दूसरे का अभ्युत्थान यह समाजवादी की भाषा नही हो सकती। वह सबका समान उदय चाहता है। वह पीडक और पीडित, उन्नत और अवनत,

सुखी और दुखी, धनी और निर्धन, सवका समान हित चाहता है। हित और नाश ये दोनो शब्द, ये दोनो भाव, एक जगह नही रह सकते। हित-कर्त्ता सुधार चाहता है, नाश नही। वह नाश करेगा वुराई का, वुरी प्रणाली का, वुरे शासन का, पर वुरे व्यक्ति का नही। व्यक्ति का तो वह सुधार चाहता है। जिसका सुधार चाहता है उसीका नाश करके वह उसका सुधार कैसे करेगा? वह एक का नाश करके दूसरे को सच्चे अर्थ मे वचा भी नही सकता। किसी को वचाने या सुधारने का उपाय क्या है? उसे उसकी भूल वताना, समझाना और सुधार के लिए उत्साहित करना, सुधार-मार्ग मे आनेवाली कठिनाइया दूर करना, न कि एक को मार कर उसके डर से दूसरे को उस वुराई से वचाना। डर से मनुष्य कै दिन तक वचेगा? हमे उसके मन मे वुराई के प्रति असहिष्णुता, वुरे के साथ असहयोग का भाव उत्पन्न करना चाहिए। इससे वह वुराई से वचेगा भी और दूसरे का भी, विना नाश किये, सुधार होगा।

वर्गयुद्धवादी अपने पक्ष की शुरुआत इस तरह करते हैं—ससार में दो वर्ग हैं, एक स्वार्थ-साधु (Exploiter) दूसरा पीडित (Exploited)। स्वार्थ-साधु अपने धन-वल से पीडक वन गया है। अपने धनैश्वर्य के वल पर उसने सत्ता भी अपने हाथ मे करली है। जवतक यह वर्ग ससार मे रहेगा तवतक जनता तो पीडित ही वनी रहेगी। यह वर्ग इतना प्रवल और सुसगठित हो गया है कि जवतक सत्ता हाथ मे लेकर इसे नष्ट नही कर दिया जायगा तवतक पीडित जनता का उद्धार न होगा। रूस मे लेनिन ने १० वर्ष पहले शस्त्र-वल से ऐसी क्रान्ति की है। उसकी सफलता ने इन भावो और योजनाओ को वहुत प्रोत्साहन दिया है। इस विचार के लोग अपने को कम्यूनिस्ट—कुटुम्ववादी, समाजवादी या समष्टिवादी—कहते है। पर असल मे देखा जाय तो वे समष्टि-हित के

भ्रम से वर्ग-हित कर रहे हैं। भले ही वह वर्ग वहुजन-समाज का हो। हम विश्लेषण के लिए भले ही ऐसे दो वर्ग मान ले, पर एक के विनाश पर दूसरे के उदय की कल्पना करना समष्टि-हित की कल्पना के प्रतिकूल है।

परन्तु मै तो एक और दूर की तथा गहरी वात पाठको के सामने रखना चाहता हूँ। मै मानता हूँ कि धन-वल का वर्तमान सगठन समष्टि-हित के अनुकूल नही है। परन्तु समष्टि के पीडन का मुख्य कारण यही नही है। धन, सत्ता और ज्ञान अथवा बुद्धि तीनो को किसी और चीज ने अपना साधन बनाया है। वह है मनुष्य की स्वार्थ-साधुता। जब यह बढ़ जाती है तब मनुष्य पीडक बन जाता है। अकेले धनी ही नही, सत्ताधारी और विद्वान् या बुद्धिशाली प्राय सब अपनी शक्तियो का दुरुपयोग कर रहे हैं। मेरी समझ मे यह मानना उतना सही नही है कि धन ने सत्ता और बुद्धि को अपने लाभ के लिए खरीद लिया है जितना यह कि बुद्धि ने धन और सत्ता दोनो को अपना गुलाम वना रक्खा है। बुद्धि का दरजा धन और सत्ता से वढकर है। विना बुद्धि के न धन पैदा हो सकता है न सत्ता आ सकती है, न दोनो का सगठन हो सकता है। विज्ञान के अद्भुत आविष्कार, जो धन,बुद्धि और सत्ता की रक्षा के जवर्दस्त साधन वने हैं, बुद्धि की ही करामात है। अतएव मे उन भाइयो का ध्यान इस ओर खीचना चाहता हूँ जो महज पूजीवाद के विरोधी हैं और उसी-को जन-साधारण के दु खो की जड मानते हैं। वे गहराई मे उतरेंगे तो उन्हे पता लगेगा कि धन और सत्ता के दुरुपयोग से वढ़ कर बौद्धिक स्वार्थ-साधुता है और पहले उसे हमे समाज मे से निकालना है।

यह कैसे निकले ? सबसे पहले मनुष्य की बुद्धि को शुद्ध कीजिए। उसे स्वार्थ-साधना से हटा कर देश-सेवा और जन-सेवा मे लगवाइए।

यह भावना फैलाइए कि मनुष्य अपने लिए न जीयें, दूसरो के लिए जीयें। अपने आचरण के द्वारा ऐसा उदाहरण पेश कीजिए। सदा जागरूक रहिए कि आपकी बुद्धि आपके स्वार्थ के लिए तो दूसरे का उपयोग नही कर रही है। यदि अपनी बुद्धि पर आपने अच्छी तरह चौकी-पहरा बिठा दिया है तो आप देखेंगे कि न आपके पास धन जमा हो रहा है और न सत्ता आ रही है। आप धन और सत्ता से उदासीन हो जायँगे। यदि धन और सत्ता आपके पास आयें भी तो आपकी शुद्ध बुद्धि उन्हे अपनी स्वार्थ-साधना मे न लगने देगी। जन-कल्याण में ही उसका उपयोग करावेगी। आप देखते ही है कि धन और सत्ता बजात खुद उतनी बुरी चीजे नही हैं। सद्बुद्धि उनका सदुपयोग करती है और कुबुद्धि दुरुपयोग। यही असली हानिकर वस्तु है। इससे हमें अपने को सब तरह बचाना चाहिए।

आपको समाज मे ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो धन-बल को कोसते हैं, पर सत्ता के लिए लालायित रहते हैं। इस तरह ऐसे पुरुष भी मिलेंगे जो धन और सत्ता दोनो की निन्दा करते हैं किन्तु अपनी बुद्धि या ज्ञान के द्वारा दोनो का उपयोग स्वार्थ-साधन मे करते हैं। फिर बुद्धि का दुरुपयोग धन और सत्ता के दुरुपयोग से अधिक सूक्ष्म अतएव अधिक गहरा प्रभावकारी है। इसलिए मेरा तो यह निश्चित मत है कि यदि भारत के वास्तविक सदेश को हमने समझ लिया है, हमे समाज की व्यवस्था को सुधारना है, उसमे सामञ्जस्य और समता लाना है, तो अकेले पूजीवाद के पीछे पडने से काम न चलेगा। पूजी, सत्ता और बुद्धि तीनो के दुरुपयोग की जड पर कुठाराघात करना होगा। इसमे भी सबसे पहले बौद्धिक स्वार्थ-साधुता का गला घोटना होगा। क्योंकि वास्तव मे बुद्धि ही इनका नेतृत्व करती है। अतएव समाज के सभी विचारशील पुरुषो से मेरी प्रार्थना है कि वे अकेले पूजीवाद का पिण्ड छोड कर मनुष्य की बुद्धि को शुद्ध

करने का सबसे अधिक प्रयत्न करे। मनुष्य को अब से अच्छा और ऊँचा मनुष्य बनाने का प्रयास करे। सत्पुरुष बुरी प्रणाली को भी सुधार देगा और दुष्टजन सत्प्रणाली को भी भ्रष्ट कर देगा।

[२]

भारतीय देशभक्ति

कितने ही लोग यह मानते है कि राष्ट्रीयता के बिना भारत स्वाधीन नही हो सकता। दूसरे लोग कहते है कि सकुचित राष्ट्रीयता या देशभक्ति वास्तविक स्वतत्रता की विरोधक है। अतएव हमे देखना चाहिए कि भारतीय देशभक्ति वास्तव मे क्या है ?

मनुष्य-समाज जब अपनेको भौगोलिक सीमाओ मे बाध लेता है तब वह देश कहलाता है। इससे अपने-आप यह सिद्ध होता है कि देश मनुष्य-समाज से भिन्न या देश-हित मानव-समाज के हित से विपरीत वस्तु नही है। मानव-समाज विशाल और बृहत् है। अब से पहले उसके पास आवागमन के इतने द्रुत और सुलभ-साधन भी नही थे। इससे वह भिन्न-भिन्न भू-भागो मे बँट गया। वही उनका देश कहलाया। अपने-अपने निवास-स्थानो की जल-वायु, परिस्थिति आदि कारणो से उनके आकार-प्रकार, रूप-रग और स्वभाव मे भी भेद हो गया। उनके हित-सम्बन्ध भी भिन्न और कई बातो मे परस्पर-विरोधी हो गये। तब उनकी रक्षाशीलता ने उनमे देशाभिमान उत्पन्न किया। जिनके हित-सम्बन्ध एक थे वे एक-राष्ट्र कहलाये। जिनमे रक्त और रक्त-जात हितो और सम्बन्धो की एकता थी वे एक जाति बन गये। एक देश मे कई जातिया हो गई। सकुचित स्वार्थ ने उनमे भी कलह और सघर्ष

पैदा किया। इससे जातिगत भावो का उदय हुआ। नजदीकी स्वार्थ पर प्रधान दृष्टि रहने के कारण वंशाभिमान और जात्यभिमान की सृष्टि हुई। इन कई क्षुद्र अभिमानो का सघर्ष जगत् का इतिहास है। सौभाग्य से अब ससार क्षुद्रता और सकुचितता से ऊपर उठ रहा है। जातिगत भावो से उसे अब घृणा हो गई है। राष्ट्रीय भाव अब उसे अपने हृदय के नजदीक मालूम होने लगे है। परन्तु राष्ट्रीय भावो मे भी अभी सकुचितता और क्षुद्रता भरी हुई है। एक देश या एक राष्ट्र क्यो अभी दूसरे पर चढाई करने की, दूसरे से युद्ध करने की आयोजना करता जा रहा है ? क्यो दूसरे को गुलाम बनाये रखने की प्रवृत्ति रख रहा है ? क्यो आत्म-दृष्टि से वह दूसरे को नही देख रहा है ? क्यो वह अपने हित को उसके हित से भिन्न मान रहा है ? क्या यह सकुचितता और क्षुद्रता नही है ? आवागमन और परिचय के इतने सुलभ साधन हो जाने के बाद तो यह क्षुद्रता मिट जानी चाहिए न ? सारी मानव-जाति को एकता और प्रेम-सूत्र मे बाधने का प्रयत्न होना चाहिए न ? इस भावना से कि हम सब बिछुडे हुए भाई मिल गये, हमारा हृदय हर्ष से उछलना चाहिए न ? पर क्या एक अग्रेज को देखकर एक हिन्दुस्थानी के मन मे ऐसा भ्रातृप्रेम उमड पडता है ? एक चीनी को देख कर एक अग्रेज बन्धुभाव से गले मिलता है ? एक जर्मन तुर्क या इटालियन को उसी प्रेम की निगाह से देखता है, जिससे वह जर्मन को देखता है ? नही। क्यो ? इसीलिए कि अभी हमने अपने हित-सम्बन्धो को भौगोलिक सीमाओ मे कैद कर रक्खा है। जमाना आवेगा, और बन्धन टूटेंगे। हमे उस जमाने को जल्दी लाने का प्रयत्न करना चाहिए।

भारतवर्ष इसमे सबसे अधिक सहायक हो सकता है, क्योकि उसने विश्वबन्धुत्व का सच्चा मार्ग खोज निकाला है। और राष्ट्र दूसरे की

लूट पर जीवित रहना चाहते हैं और इसलिए एक दूसरे के शत्रु-से बने हुए हैं। भारतवर्ष ने लूट का अन्त कर देने का निश्चय कर लिया है। वह न अपने को लूटने देना चाहता है, न खुद लूटने का इरादा रखता है। उसने अहिंसा को पा लिया है, जो उसे लूटने और लूटने देने से मना करती है। ऐसी निर्भयता और निःशकता का सदेश आज तक किसी देश ने दूसरे देश को नही दिया है। इसलिए भारत की देश-भक्ति और देशो की देश-भक्ति से भिन्न है। रूस ने अलबत्ता देश-भक्ति से आगे कदम उठाया है, पर जब तक वह अहिंसा को राष्ट्रधर्म नही बना लेता है तबतक उसकी साधना अधूरी ही रहेगी—तबतक वह दूसरे देशो के लिए भय की वस्तु बना रहेगा। खुद रूसवासियो को भी वह निर्भयता और निःशकता का जीवन प्रदान न कर सकेगा। भय के शस्त्रो का अवलम्बन करके निर्भयता का आश्वासन देना अपने-आपको धोखा देना है। अस्तु। पर भारत जबतक खुद गुलाम है, दूसरे देशो की दृष्टि मे खुद एक-देश या एक-राष्ट्र नही है, स्वतत्र समाज नही है, तबतक मानव-हित या विश्वबन्धुत्व की बात उसके मुह से 'छोटे मुह बडी बात' हो सकती है। परन्तु यह निर्विवाद है कि उसकी देशभक्ति मानव-हित के विपरीत नही हो सकती। उसने समझ लिया है कि देश-हित सीमित मानव-हित है। अहिंसा उसे दूसरे राष्ट्र, देश, या जाति के प्रति घृणा-भाव रखने, द्वेषभाव का प्रचार करने से रोकती है। इसलिए स्वतत्र होते ही वह जितना जल्दी मानवता से अपने हृदय को मिला सकेगा उतना शायद ही आजतक कोई राष्ट्र मिला सका होगा।

मानवता के निकट पहुँचने के लिए सबसे पहले हमे जातिगत भावो और स्वार्थो को छोडना होगा, जाति और राष्ट्र के मुकाबले मे राष्ट्र को तरजीह देनी होगी। जाति का नुकसान स्वीकार करना होगा, पर

राष्ट्र का नही। इसका यह अर्थ हुआ कि देश की दूसरी जातियो के सामुदायिक हित के आगे अपने जातिगत हित को गौण मानना होगा, अर्थात् दूसरे को बढाने के लिए अपनेको घटाना होगा और समय पडने पर मिटा भी देना होगा। स्वार्थत्याग की शुरुआत हमे पहले अपनी जाति से ही करनी होगी। हिन्दुओ को मुसलमानो, पारसियो और ईसाइयो के हित के लिए अपने हितो का त्याग करना होगा। यह उनकी कमजोरी नही बडप्पन होगा, औदार्य और बन्धु-भाव होगा। इसी प्रकार विश्वबन्धुत्व के सामने राष्ट्र-भाव को झुकना होगा। उदार घाटे मे नही रहता, कजूस ही रहता है। उदारता के मानी फजूलखर्ची नही है। फजूलखर्ची मे विवेकहीनता होती है। उदारता मे हृदय का ऊँचापन होता है, शराफत होती है।

भारत अपनी उच्च-हृदयता के लिए इतिहास-प्रसिद्ध है। यह सच है कि इसकी गफलत से ही, जिसे इसने उदारता मान लिया है, यह अग्रेजो की गुलामी मे बुरी तरह जकड गया है, किन्तु यह भी उतना ही सच है कि अपनी गुलामी की बेडियो को तोडने का अनुपम मार्ग—अहिसा—भी इसे अपनी उदारता, उच्च-हृदयता ने ही दिया है। मुझे तो विश्वास है कि भारतवर्ष की यह गुलामी ससार को मुक्ति का सीधा और सरल मार्ग दिखावेगी। भारतवर्ष गुलाम हुआ अपनी सरलता के कारण। दूसरे देश स्वतत्र है अपनी स्वार्थवृत्ति के बल पर। हम भी आज भारत के स्वार्थ-भाव को, देश-भक्ति को, जगा रहे है, किन्तु हमे यह चिन्ता है कि वह विश्व-बन्धुत्व का विरोधी न होने पावे। हमारी अहिसा इसकी जबरदस्त गारण्टी है। जगत् के दूसरे राष्ट्र भी जब इसे अपने जीवन मे अपना लेगे तब वे सच्चे स्वतत्र होगे। आज भारत गुलाम है, पर मुक्ति का पथ उसके हाथ लग गया गया है। दूसरे देश यो अपने हित मे स्वतत्र

हैं, समष्टि की दृष्टि से स्वतन्त्रता के पथ से दूर हैं । जिस दिन भारत अहिंसा के द्वारा स्वतत्र हो जायगा उस दिन दूसरे राष्ट्र अनुभव करेंगे कि अभी उन्हे वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है । उस समय वे फिर भारत का पदानुसरण करेंगे । आज उनका शरीर स्वतत्र है, पर आत्मा कुण्ठित है, वह प्रसन्न नही है और भीतर ही भीतर झुझला रही है। भारत का शरीर अभी जकडा हुआ है, पर अन्त करण दिन-दिन प्रसन्न होता जा रहा है, खिलता जा रहा है। इसका क्या कारण है ? मनो-विज्ञान के ज्ञाता तुरन्त कह देगे, उसे अपनी मुक्ति और उसके द्वारा जगत् की सेवा का विश्वास हो गया है। उसके हाथ एक ऐसी अनमोल बूटी लग गई है, जो केवल उसीको नही वल्कि सारे ससार को विश्व-वन्धुत्व के राजमार्ग पर लाकर खडा कर देगी। वह है अहिंसा। यह सच है कि भारत ने अभी उसकी मोटी-मोटी करामात को ही देखा है—मानसिक जगत् मे वह कितना सुखप्रद परिवर्तन कर रही है, इसपर जिनकी दृष्टि है वे भविष्य को अधिक दूर तक देख सकते हैं । परमात्मा उस उज्ज्वल भविष्य को जल्द ही वर्तमान का जामा पहनावे ।

[२]

हाथ या यन्त्र ?

हमारे समाज-जीवन मे यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि हम हाथ से काम कहा तक करे और यन्त्रो से कहा तक ले । वर्तमान स्वाधीनता-सग्राम मे भी यन्त्रो के प्रश्न पर वडा मतभेद है। जव किसी को खादी पहनने या हाथ से काम करने पर जोर दिया जाता है तो वाज लोग वडे हलके दिल से कह उठते है, तो फिर इन वडे-वडे यन्त्रो का

क्या होगा ? मनुष्य की वुद्धि की यह करामात क्या व्यर्थ ही जायगी ? जव उनसे यह कहा जाता है कि अच्छा वताइए, वडे वडे कल-कारखानो मे जनता का क्या हित हुआ है ? तो वे कह देते है कि यदि नही हुआ है तो इसका इलाज यह नही कि हाथ से काम करके सभ्यता के फल-स्वरूप यन्त्रो को तोड-मरोड कर फेक दिया जाय, वल्कि यह है कि उद्योग-धन्धो को व्यक्तिगत न रहने देकर समाज के अधीन कर दिया जाय। उनपर सारी सत्ता समाज की रहे। समाज की तरफ से उनका सञ्चालन हो। लोग नियत समय तक उनमे कार्य करे और आवश्यकता के अनुसार जीवन-सामग्री समाज से ले ले। इससे धनी और दरिद्र की समस्या हल हो जायगी और न आपको घर-घर खादी लिये-लिये घूमने की आवश्यकता होगी और न लोगो को महँगा कपडा ही खरीदना होगा। आप कहते है, हाथ से काम करो, हाथ का और मोटा कपडा पहनो, मोटा खाओ, आवश्यकताये कम करो, गावो मे रहो। इस सभ्यता के युग मे आप लोगो को यह साहस किस तरह हो जाता है ? दुनिया की इस घडी को आप उलटा क्यो फेर रहे हो ? गगा को समुद्र से हिमालय की तरफ क्यो ले जाते हो ? क्या फिर से वावा आदम के जमाने मे ले जाना चाहते हो ? मनुष्य को नगा फिराना और पेडो पर वैठाकर जिन्दगी गुजारना चाहते हो ? इन इतने सुख के सुलभ साधनो को क्यो ठुकराते हो ? जनता दरिद्र है तो हम भी दरिद्र वन जायँ, मेरा पडौसी दुखी है तो मै भी दुखी रहूँ, यह कहा की वुद्धिमता है ? वजाय इसके मै जनता की दरिद्रता को मिटाने और अपने पडौसी को सुखी वनाने का उद्योग क्यो न करूँ ? अपनेको उसकी श्रेणी मे विठाने के स्थान पर उसे अपनी जगह लाने का उद्योग क्यो न करूँ ? अपनेको गरीव वनाने के वजाय उसे अमीर वनाने का उद्योग क्यो न करूँ ?

भारत-प्रसिद्ध स्वर्गीय सर गगाराम ने, अन्तिम समय विलायत जाते वक्त, बम्बई के प्रसिद्ध मारवाड़ी व्यापारी स्वर्गीय श्री रामनारायणजी रुइया के बगीचे मे बैठकर खुद मुझसे उनके आलीशान महल को दिखाकर कहा था—'देखो, तुम्हारे गाधीजी कहते है, चरखा कातो। उससे क्या होगा ? बहुत हुआ तो एक आना रोज मिलेगा ! पर मै चाहता हूँ कि ऐसे महल सबके बन जायँ। गाधीजी कहते है कि हम लोग अपना स्टैन्डर्ड कम करे, मै कहता हूँ कि बढावे। हम भी अग्रेजो की तरह क्यो न खूब कमावे और खूब आराम से ठाठ के साथ रहे ?'

ये दो प्रकार की विचार-धाराये समाज मे प्रचलित है । ये दोनो उत्पन्न हुई है जीवन के अन्तिम उद्देश्य या लक्ष्य-सम्बन्धी भिन्न दृष्टि-बिन्दु के कारण। हमे देखना यह है कि कौन-सा दृष्टि-बिन्दु सही है और जीवन के ठेठ लक्ष्य तक सीधा ले जाता है। जीवन अपूर्ण है और पूर्णता चाहता है, इससे किसीको इनकार है ? सुख उस पूर्णता का एक अश है। सभी मनुष्य और सभी समाज सुख चाहते है। सुख-साधन यदि उनके चाहने पर ही अवलम्बित हो तो बताइए मनुष्य क्या-क्या नही चाहेगा ? हर शख्स चाहेगा कि मुझे बढिया महल मिले। सुन्दर-से-सुन्दर स्त्री मिले। लाखो-करोडो का माल मिले, जमीन-जायदाद, हीरा-मोती, मोटर, हवाई जहाज, राज-पाट सब मिले। शराबखोरी, रण्डीबाजी आदि की चाह को अभी छोड दीजिए। हम अच्छी तरह जानते है कि चाहना जितना ही आसान है, मिलना उतना ही कठिन है । पर सब आदमी यदि सभी अच्छी और कीमती चीजे अपने लिए चाहने लगेगे तो उनमे प्रतिस्पर्धा, डाह और कलह पैदा हुए बिना न रहेगा। क्योकि चीजे थोडी और चाहने वाले बहुत। इस तरह यदि मनुष्य की चाह को स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय और उसे अपनी आवश्यकताये या सुख-साधन बढाने के लिए प्रोत्साहित

किया जाय तो अन्तिम परिणाम सिवा गोलमाल के और क्या हो सकता है ? इसलिए अनुभवी समाज-शास्त्रियो ने मनुष्य की इच्छा और आवश्यकता पर कैदे लगादी है । अर्थात् मनुष्य से कहा कि भाई, अपनी इच्छाओ को वश मे रक्खो । यह नसीहत या नियम स्वतत्र और व्यवस्थित मनुष्य-जीवन का पाया है । यदि यह ठीक है तो फिर अब रोज-रोज आवश्यकताये वढाने, स्टैण्डर्ड वढाने की पुकार से किस हित की आशा की जा रही है ? हा, दरिद्र जनता का स्टैण्डर्ड तो वढाना ही होगा, पर वह इसलिए कि उसे तो अभी पेटभर खाने को भी नही मिलता है । पर यदि हर आदमी मोटर चलाने लगेगा, बिजली के पखे लगाने लगेगा, नाटक-सिनेमा देखना चाहेगा, अखवार और छापाखाना चाहेगा, एक-एक महल वनाना चाहेगा, तो वताइए आप समाज को सुव्यवस्थित कैसे रख सकेगे ? स्पर्धा, डाह और कलह से कैसे वचायेगे ? आखिर उनकी इच्छाओ पर तो नियत्रण रखना ही होगा न ? चाहे आप यह कहिए कि अपनी कमाई से अधिक खर्च करने का किसी को अधिकार नही है, चाहे यह नियम वनाइए कि जो कमाता नही है उसे खर्च करने का हक नही है, चाहे यह व्यवस्था कीजिए कि शारीरिक श्रम से जितना मिले उतने ही पर मनुष्य अपनी गुजर कर लिया करे, चाहे यह विधान वनाइए कि मनुष्य अपनी साधारण आवश्यकताओ भर की ही पूर्त्ति कर लिया करे, चाहे यह आज्ञा जारी कीजिए कि मनुष्य उन्ही चीजो को इस्तैमाल करे कि जो उसके देश या प्रान्त मे पैदा हो, चाहे उपदेश दीजिए कि मनुष्य प्राकृतिक साधनो पर ही अवलम्बित रहे । गरज यह कि उसकी इच्छाओ और आवश्यकताओ पर आपको कोई न कोई कैद लगानी होगी । यह कैद होगी उसकी समाज की स्थिति के अनुसार । यदि कैदे हम ढीली करते जायँगे तो अन्त को समाज मे स्वेच्छाचारिता और गोलमाल पैदा कर देगे, यदि तग

करते जायँगे तो सभव है समाज उसे बरदाश्त न कर सके । और यह बात निर्विवाद है कि मनुष्य जब अपनी इच्छा से राजी-खुशी अपनी आवश्यकताये कम कर देता है तो वह औरो के मुकाबले मे अपनेको अधिक सुखी, स्वावलम्बी और स्वतत्र पाता है। यह अनुभव-सिद्ध है । इसी तरह आवश्यकताओ को बढा लेने वाला अपनेको दुखी, पराधीन और उलझनो या दुर्व्यसनो मे फँसा हुआ पावेगा। इसलिए यह उचित है कि समाज मे ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जाय, जिससे मनुष्य खुद ही अपनी आवश्यकताओ को सयम मे रखना सीखे । एक के सयम का अर्थ है दूसरे की सुविधा और स्वतत्रता । अतएव जहा अधिक सयम होगा वहा अपने आप अधिक स्वतत्रता होगी। अब मै पूछना चाहता हूँ कि मनुष्य, तू सयम का अवलम्बन करके अधिक स्वतत्र रहना चाहता है या आवश्यकताओ को बढाकर सुख-साधनो का गुलाम बनना चाहता है ?

अब हमारे पूर्वोक्त टीकाकार भाई विचार करे कि खादी और हाथ से काम करने का कितना महत्व है। हाथ से काम करना उत्पत्ति का सयम है। हाथ से काम करना पूजी का एक जगह सग्रह न होने देना है। हाथ से काम करना मजूरी की पथा को मिटाना है—या यो कहे कि मालिक और मजदूर के कृत्रिम और हानिकर भेद को मिटाना है। हाथ से काम करना स्वावलम्बन है । हाथ से काम करना पुरुषार्थ और तेजस्विता है। हाथ से काम करना स्वास्थ्य और आरोग्य है। हाथ से काम करना सादगी और नम्रता है। खादी यदि हाथ से काम करने का चिन्ह नही है तो कुछ भी नही है। खादी गरीबो का सहारा तो इसीलिए है कि यह बेकारो के घर मे कुछ पैसे भेज देती है, परन्तु खादी आजादी का जरिया इसलिए है कि हर शख्श को अपनी जरूरत के लिए दूसरे का

मुह न ताकने का उपदेश देती है। हाथ से काम करना सिखाकर वह हमे सचमुच आजादी का रास्ता बताती है।

पाठको, अब आप सोचिए कि सीधा रास्ता कौनसा है? हाथ से काम करने का, अपने पावो के बल खडे होने का, या मशीन या कल-कारखानो और उनके मालिको और हाकिमो की गुलामी का? अपनी आवश्यकताओ के बढाने का या घटाने का? सादगी का या भोग-विलास का?

दुनिया की घडी को पीछे घुमाने की दलील अजीब है। जब हाथ से काम करके सर्वसाधारण सुखी थे, और किसीने कल-कारखाने का आविष्कार किया, किसीने भाफ-बिजली का आविष्कार किया, तब क्यो न कहा गया कि दुनिया पीछे हटाई जा रही है? क्या साधन-सामग्रियो का दिन-दिन गुलाम होते जाना ही दुनिया का कदम आगे बढने का लक्षण है? और क्या स्वावलम्बन की ओर उसे ले जाना दुनिया को पीछे घसीट लेजाना है? सुख-साधन सामग्री की विपुलता और विविधता पर हरगिज अवलम्बित नही है। सुख मन के सन्तोष, आनन्द और निश्चिन्तता पर अवलम्बित है। करोडपति और राजा-महाराजा चिन्ता और पश्चात्ताप से रात-रात भर करवटे बदलते हुए पाये गये है और एक फक्कड किसान रूखी रोटी खाकर, मुक्त झरने का सजीव पानी पीकर, हरे-भरे खेत की मेड पर सुख की नीद सोता हुआ मिलता है। सुखी वह है, जिसने अपनी इच्छाओ को जीत लिया है, दुखी वह है, जो अपनी इच्छाओ और वासनाओ का गुलाम है। जीवन की पूर्णता बाह्य-साधनो पर उतनी अवलम्बित नही, जितनी आन्तरिक शक्तियो के उत्कर्ष पर है। आपकी महानता के लिए कोई यह नही देखेगा कि आपके पास कितनी मोटरे है आप कितना कीमती खाना खाते है, आपके कितने दास-दासी है,

आपका रूप-रग कैसा है, वल्कि यह देखा जायगा कि आप कितने सयमी है, कितने सदाचारी है, कितने सेवा-परायण है, कितने नि स्वार्थ है, कितने कष्ट-सहिष्णु है, कितने प्रेममय है, कितने निडर है, कितने वहादुर है, कितने सत्य-वृत्ति है। महात्मा गाधी का जीवन, वुद्ध का जीवन, ईसामसीह का जीवन, अधिक पूर्णता के निकट था या जार का, रावण का, अथवा कारूँ और कुवेर का ? इस उदाहरण से तो आपको पूर्णता के सच्चे पथ की पहचान हो जाना चाहिए। आप कहेगे कि इने-गिने आदमियो के लिए तो यह वात ठीक है, सारे समाज के लिए नही, तो मै कहूँगा कि विकास का मार्ग सवके लिए एक ही हो सकता है। उनके दल चाहे अलग-अलग अवस्थाओ मे अलग-अलग हो, पर रास्ता तो वही है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियो और दलो मे भेद हो सकता है, परन्तु रास्ता तो एक ही होगा—सयम का, व्यावहारिक भाषा मे कहे तो, हाथ से काम करने का।

[४]

खादी और आज़ादी

अव हम खादी के प्रश्न पर भी स्वतत्र रूप से विचार कर ले और देखे कि इससे हमारी स्वतत्रता का कहा तक सम्वन्ध है। खादी के लिए जो वडा दावा किया जाता है कि यह आजादी लानेवाली है ? वह कहा तक ठीक है, दु ख की वात तो यह है कि अव भी कई लोग यह मानते है कि खादी-आन्दोलन सिर्फ अग्रेजो को दवाने के लिए है, लकाशायार की मिलो और मिल-मालिको पर असर डालने के लिए है, जिससे वे भारतीय आजादी की माग को मजूर करने के लिए मजवूर हो। किन्तु मैंने जहा तक खादी के असूल और मतलव को समझा है, मेरी तो

यह मजबूत राय बन चुकी है, कि खादी-आन्दोलन का एक नतीजा यह जरूर निकलेगा कि अग्रेजो पर दबाव पडे, परन्तु उसका यह उद्देश्य हरगिज नही है। उसका असली और दूरगामी उद्देश्य तो है भारत को, और यदि गुस्ताखी न समझी जाय तो सारी दुनिया को, सच्ची आजादी दिलाना। इसलिए जब कोई यह कहता है, यह समझता है कि खादी तो स्वराज्य मिलने तक जरूरी है, या गाधी जी के जीते जी भले ही चलती रहे, तो मुझे इसपर दुख होता है। क्योकि पन्द्रह वर्षो के दिन-रात के उद्योग, प्रचार और इतनी सफलता के बाद भी अभी तक कितने ही पढे लिखे लोगो ने भी खादी की असलियत को नही समझा, उसके बिना सच्ची आजादी किस तरह असम्भव है इसको नही जाना। सच तो यह है कि आजादी और खादी एक शब्द के दो मानी हे या एक सिक्के की दो बाजुये है।

हमे यह भुला देना चाहिए कि खादी एक महज कपडा है, बल्कि खादी एक असूल है, एक आदर्श है। खादी के मानी है हाथ से काम करना, अपनी बनाई चीज इस्तैमाल करना, अपने देश का पैसा देश में रहने देना, पैसे का एक जगह सग्रह न होने देना और उसका स्वाभाविक तरीके से सर्व-साधारण मे बँट जाना। खादी भाफ और अधिक पूजी के बल पर चलनेवाले कारखानो के खिलाफ बगावत का झण्डा है। एक मामूली सवाल है कि जहा हाथ बेकार है, आदमी भूखो मरते है, वहा आखिर बडे-बडे कल-कारखानो की जरूरत पैदा होती है ? समाज की सुख-सुविधा के नाम पर धन-सग्रह करने के उद्देश्य ने ही इन भीमकाय कारखानो और व्यापार-उद्योग-धधो को जन्म दिया है। जो काम हाथ से हो सकता है उसको भला मशीन की क्या जरूरत है ? जो काम हाथ से चलने वाली मशीन से हो सकता है उसके लिए भाफ से चलनेवाली

मशीन की क्या जरूरत है ? फिर लाखो लोगो को वेकार पडे रहने देकर मशीन से कारखाने चलाना कहा की अक्लमन्दी है ? यह माना कि यन्त्र मनुष्य की वुद्धि के विकास का फल है। यह भी सही कि कपडे की मिल चरखे का विकास है। पर सवाल यह है कि इन मिलो से सर्व-साधारण जनता का कितना हित हुआ ? वे गरीव अधिक वने या धनवान ? वेकार अधिक हुए या नही ? भारत को छोड दीजिए, सारे यूरोप मे इस समय कम-से-कम एक करोड आदमी वेकार है। यह क्यो ? जो काम भाफ या विजली की मशीनो से लिया जाता है वह यदि मनुष्यो से लिया जाय, तो क्या फिर भी वेकारी रह सकती है ? हा, यह सत्य है, कि शहरो मे सव काम हाथ से नही किये जा सकते। सामूहिक-जीवन मे कई सामूहिक आवश्यकताये ऐसी होती है, वे इतने अधिक परिमाण मे और इतने विशाल आकार-प्रकार की होती है कि यन्त्रो का उपयोग उनके लिए सुविधा-जनक होता है। पर दुनिया मे, वताइए, शहर कितने है ? और क्या आप दुनिया को शहर मे ही वाट देना चाहते है ? क्या गावो की अपेक्षा शहरो का जीवन मनुष्य-जीवन के स्वाभाविक विकास के अधिक अनुकूल है ? मनुष्य गाव मे अधिक स्वतन्त्र, सुखी, स्वस्थ, नीतिवान्, सज्जन रह सकता है, या शहर मे ? अतएव यदि हम शहरो के खयाल को अपने दिमाग मे से हटा दे, और दुनिया मे गावो की वहुसख्या और महत्ता को समझ ले, तो हमारे दिमाग की कई उलझने कम हो जायँ। असली वात यह है, कि हमारी असली कसौटी यह होनी चाहिए कि मनुष्य-जीवन विकसित, सुव्यवस्थित, स्वतन्त्र और सुखी किस प्रकार रह सकता है ? गाव के सादे जीवन मे ही ये सव वाते सुलभ और सिद्ध हो सकती है, शहरो के जटिल, कृत्रिम, गुलाम जीवन मे हरगिज नही। यदि हम शहरो और शहर की

सभ्यता को अपनी कल्पना मे से हटा सकते है तो हम वडे उद्योग-धधो और भीमकाय यन्त्रो को अवश्य अपनी समाज-रचना मे से हटा सकते है। कोई वात इसीलिए तो स्थिर नही रह सकती कि वह विकास-क्रम मे हमारे अदर दाखिल हो गई है। मनुष्य की अपरिमित स्वार्थ-साधुता और प्रचार-शक्ति भी तो इसमे वहुत सहायक हुई है। मनुष्य विचार-शील है और वह विकास के हरएक मोड पर सिंहावलोकन करता है और उसके परिणाम की रोशनी मे अपनी गति-विधि को सुधारता है। पिछली औद्योगिक क्रान्ति ने जन-समाज को स्पष्ट-रूप से पूजीपति और दरिद्र, पीडक और पीडित, इन दो परस्पर—विरोधी वर्गो मे वाट दिया। इसके पहले भी समाज मे स्वार्थ-साधुता (Exploitation) थी, परन्तु उद्योग-धधो को समाजाधीन वनाने की उस समय इतनी आवश्यकता क्यो न प्रतीत हुई ? इसलिए कि उद्योग-धधो की प्रधानता और भीमकाय यन्त्रो की प्रचुरता ने जनता को चूस लिया, लाखो को वेकार वना दिया और मुट्ठी भर लोगो को मालामाल कर दिया। कल-कारखानो या उद्योग-धधो को समाजाधीन बनाकर आप इस रोग को निर्मूल नही कर सकते। उससे आप सिर्फ इतना ही कर सकते है कि मुनाफा मजदूरो के घर मे भी पहुँचा रहे, उनकी सुख-सुविधाये भी वढ जाये, परन्तु वे पूर्ण स्वतन्त्र और स्वावलम्बी नही वन सकते। मनुष्य के सभी काम तो समाजाधीन नही हो सकते है। सामूहिक काम ही सामूहिक पद्धति पर हो सकते है और उन्हीके समाजाधीन होने की आवश्यकता है। रोटी, कपडा, मनुष्य की व्यक्तिगत आवश्यकताये है, पर रेल, सडक, पुल सामाजिक। रोटी, कपडा उसे खुद बना और कमा लेना चाहिए, रेल, सटक, पुल उसे परस्पर सहयोग से वनाने होगे, और ये समाजाधीन रह सकते है, जो चीजे समाजाधीन हो वे यदि मनुष्यो के हाथ-वल से न हो

सके तो उनके लिए बड़े यन्त्रो का उपयोग कुछ समझ मे आ सकता है। परन्तु लाखो आदमियो को बेकार रखकर हर बात मे यन्त्र की सहायता लेना मनुष्य को यन्त्र-गुलाम बना देता है और उसकी बहुतेरी असली शक्तियो को नष्ट कर डालता है। अतएव यदि आप चाहते हो कि मनुष्य केवल राजनैतिक गुलामी से ही नही बल्कि हर तरह की गुलामी से छूटकर आजाद रहे, तो आपको उसे यन्त्रो की गुलामी से बचाना होगा। खादी मनुष्य जाति को यन्त्रो की गुलामी से छुडाने का सन्देश है।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद अब यह स्वाश्रय का युग शुरू हो रहा है और प्रगति की गति मे यह पीछे का नही आगे का कदम है। कृत्रिम साधनो की विपुलता वृद्धि-वैभव का चिन्ह अवश्य है, किन्तु साथ ही वह मनुष्य का स्वावलम्बन दिन-दिन कम करती जा रही है और नानाविध गुलामियो मे जकडती जा रही है, इसमे कोई सन्देह नही।

आजादी का अर्थ यदि हम इतना ही करे कि अग्रेजो की जगह हिन्दुस्तानी शासक बन जायँ, तो खादी का पूरा-पूरा गुण हमारी समझ मे न आ सकेगा। परन्तु यदि उसका यह अर्थ हमारे ध्यान मे रहे कि भारत का प्रत्येक नर-नारी स्वतत्र हो, उसपर शासन का नियन्त्रण कम-से-कम हो, तो हम खादी का पूरा महत्व समझ सकते है। खादी का अर्थ केवल वस्त्र-स्वाधीनता ही नही, यन्त्र-स्वाधीनता भी है। यन्त्रो की गुलामी के मानी है धनी और सत्ताधारियो की गुलामी। खादी इन दोनो गुलामियो से मनुष्य को छुटाने का उद्योग करती है।

---

[५]

सच्चा खादी-प्रचार

हमने यह तो देख लिया कि खादी वस्त्र-स्वावलवन और यत्र-स्वावलवन का साधन है और इसमे तो कोई सन्देह ही नही है कि खादी से वढकर गृह-उद्योग का साधन अभी तक किसी ने सिद्ध नही किया है, न प्रयोग करके ही वताया है। दूधशाला, मुर्गी के अडे की पैदावार, रेशम, शहद, सावुन, डलिया, रस्सी आदि वनाने जैसे कितने ही धन्धे आशिक रूप मे और स्थान तथा परिस्थिति-विशेष मे थोडे-वहुत सफल हो सकते है, किन्तु खादी के वरावर व्यापक, सुलभ, सहजसाध्य, जीवन की एक वहुत वडी आवश्यकता को पूर्ण करनेवाला आदि गुणो से युक्त धधा इनमे एक भी नही है। फिर भी अभीतक खादी-उद्योग की, जितनी चाहिए, देश मे प्रगति नही हुई है। इसके यो तो छोटे-वडे कई कारण है, किन्तु उनमे सवसे वडा है खादी-सम्वन्धी व्यापक ज्ञान का और उसके पीछे आचरण का। अथवा पिछले १०–१२ वर्षो मे खादी की उत्पत्ति वहुत वढी है, किस्मे तरह-तरह की चली है, पोत मे भी वहुत उन्नति हुई है, विक्री और प्रचार का भी वहुत उद्योग किया गया है, सस्ती भी पहले से काफी हो गई है—फिर भी एक भारी कसर इसके कार्य मे रह रही है। खादी की ओर लोगो को आकर्षित करने के लिए हमने उनके हृदयो को ज्यादा स्पर्श किया है, उनकी वुद्धि को आवश्यक खूराक वहुत ही कम दी है। हमने ऐसी दलीले ज्यादा दी हैं कि खादी गाधीजी को प्रिय है, इसलिए पहनो; स्वराज की सेना की वर्दी है, इसलिए पहनो, गरीवो को दो रोटी देने का पुण्य मिलेगा, इसलिए अपनाओ

आदि । किन्तु उन अको और तथ्यो को लोगो के सामने कम रक्खा है, जिनसे उनके दिमाग मे यह अच्छी तरह बैठ जाय, कि खादी ही हमारे लिए एकमात्र सस्ता और अच्छा कपडा है। इतना ही नही, बल्कि खादी उत्तम समाज-व्यवस्था का एक तत्त्व है। यह बात सच है कि बुद्धि की अपेक्षा हृदय मे क्रियाबल अधिक है, किन्तु जबतक कोई बात दिमाग मे बैठती नही, तबतक उसका आचरण अधकचरा ही होता है। फिर खादी यदि आत्मानुभव की तरह बुद्धि के क्षेत्र के परे का कोई तत्त्व होता तो बात दूसरी, किन्तु यह तो एक सीधा-सा आर्थिक और सामाजिक प्रश्न है और मोटी बुद्धिवाले की भी समझ मे आ सकता है। बल्कि यो कहना चाहिए कि यह इतना सीधा और सरल है कि इसका यही गुण सूक्ष्म और तीव्र बुद्धिवालो को परेशान कर रहा है। इसलिए अच्छा तो यह हो कि खादी के सम्बन्ध मे हम पहले लोगो की बुद्धि को समझावे और समझा चुकने के बाद यदि उनमे उत्साह न हो तो फिर उनके हृदयो और मनोभावो को जाग्रत करके उनमे काफी बल और प्रेरणा उत्पन्न करे। मेरी समझ मे इससे खादी का अधिक और स्थायी प्रचार होगा।

खादी के विकास और प्रचार मे जिस तरह बुद्धि के प्रति अनास्था बाधक है, उसी तरह उसकी अत्युक्तिपूर्ण प्रशसा भी है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि जो वस्तु उसे प्रिय होती है उसमे उसे नये-नये गुण दीखने लगते है और कई बार तो अवगुण भी गुण दिखाई देते है। किन्तु यह जागृति विकास और वृद्धि का लक्षण नही, शिथिलता, मन्दता और अन्धता का है। जिसके मूल मे कोई गहरा सत्य है वह तो सूर्य की तरह अपने आप अपना प्रकाश फैलायेगा। हमारा काम सिर्फ इतना ही है कि एक ओर से अज्ञान और दूसरी ओर से अत्युक्तिरूपी बादलो और कुहिरो

के आवरण उसके आसपास से हटाते रहे। अज्ञान और अत्युक्ति दोनो के मूल मे असत्य ही छिपा हुआ है। खादी-जैसी शुद्ध वस्तु और श्रेष्ठ समाज-तत्त्व के प्रचार के लिए, जान मे या अनजान मे, असत्य का अवलम्वन करके हम उसके सत्य तेज को लोगो से दूर रखते है।

इसलिए मेरी राय में खादी ही का क्या, किसी भी वस्तु का सच्चा प्रचार है उसके विषय मे वास्तविक ज्ञान की सामग्री लोगो के सम्मुख उपस्थित करना। किन्तु इतना ही काफी नही है। इससे उनकी वुद्धि को ज्ञान तो हो जायगा, वे निर्णय और निश्चय तो कर लेगे, किन्तु यह नही कह सकते कि इतने ही से वे उसका पालन भी करने लग जायँगे। वुद्धि मे निर्णय और निश्चय करने का गुण तो है, किन्तु कार्य मे प्रवृत्त और अटल रखने का गुण हृदय मे है। जो आदमी किसी से कहता है पर खुद नही करता, उसका असर नही पडता। इसका कारण यह है कि वह कहता है तो लोग भी सुन लेते है। लोग अधिकाश मे करते तभी है जव करने वाले को करते हुए भी देखते है। क्योकि वे सोचते है कि यदि यह वात वास्तव मे हित की और अच्छी है तो फिर यह क्यो नही करता? उसका आचरण ही उसकी अच्छाई या हितकारिता का यकीन लोगो को कराता है। होना तो यही चाहिए कि जव कोई वात हमारी समझ मे आजावे और हमे हितकारी मालूम हो तव हमे इस वात से क्या प्रयोजन कि दूसरा और स्वय उपदेशक वैसा चलता है या नही? हम अपने-आप वैसा आचरण करते रहे, किन्तु ऐसी स्वय-प्रेरणा या क्रिया का वल लोगो मे आम तौर पर कम पाया जाता है। यह उनके विकास की कमी है। अतएव उन लोगो को भी स्वय खादी पहनना चाहिए और उसकी उत्पत्ति मे किसी-न-किसी तरह सहायक होना चाहिए। क्रिया-वल की कमी का एक कारण यह भी है कि हमारे शिक्षण और सस्कारो मे

बुद्धि-बल पर ही ज्यादा जोर दिया गया है, आचरण-बल पर कम। एक ओर अति बुद्धिवाद हमे आचरण-निर्बल बना रहा है तो दूसरी ओर बुद्धिहीन अनुकरण ज्ञान-निर्बल। हमे दोनो प्रकार की निर्बलताओ से बचना होगा। सत्य की साधना ही हमे इनसे बचायेगी। ज्ञान और तदनुकूल आचरण ही सत्य की साधना है। यही वास्तविक और सच्चा प्रचार है।

[६]

सौन्दर्य और सदाचार

देश मे एक ऐसा भी दल है जो नीति-विहीन और सदाचार-शून्य वस्तुओ मे भी सौन्दर्य का दर्शन करता है और उसमे जीवन का स्वतत्र विकास देखता है। वह कहता है कि सौन्दर्य और सदाचार मे कोई खास ताल्लुक नही—यदि सौन्दर्य के साथ सदाचार रहता हो तो हम उसे नाही न कहेगे पर यदि न हुआ तो हम खिन्न भी न होगे। सदाचार को हम अपने सौन्दर्य-साम्राज्य मे बाधक न होने देगे। सौन्दर्य चाहे सदाचार का प्रेरक हो अथवा दुराचार का, वह सौन्दर्य है और इसलिए हम उसके पुजारी है। स्वतत्र सौन्दर्योपासक सौन्दर्य को नीति दृष्टि से नही देखेगा बल्कि उसके आनन्द के अनियत्रित घूट पीने मे मगन रहेगा। वह तो सौन्दर्य का प्यासा है, वन मे वा सदन मे, समाज मे वा एकान्त मे, देवालय मे वा वेश्यालय मे, दूध मे वा मद्य मे, भजन मे वा रति-गीत मे, सयम मे वा स्वच्छन्दता मे, त्याग मे वा भोग मे, ज्ञान-गुहा मे वा श्रृगार-मदिर मे, शान्ति-रस मे वा श्रृगार-रस मे, सीता मे वा रम्भा मे, सूर-तुलसी की भक्ति मे वा विहारी-मतिराम-देव-पदमा-

कर की श्रृगारोक्ति मे, जहा कही उसे सौन्दर्य मिल जायगा वही वह तल्लीन होकर उसका रसपान करने लगेगा। उसका काम है सौन्दर्य के अमर्याद आनन्द को लूटना न कि नीति और सदाचार के वन्धन मे पडना।

मुझे सौन्दर्य की इस अनियन्त्रित सत्ता पर आपत्ति है। मै सौन्दर्य को उच्छृखल नही वनने देना चाहता। उसका एकाधिपत्य मुझे स्वीकार नही। मै उसे नीति और सदाचार की आच मे शुद्ध कर लेने के वाद ही अपने दरवाजे पर पैर रखने दूगा। मेरे दरवाजे अगर वह शराव का प्याला हाथ मे लिये गिरता-पडता आया, अगर किसी 'मगलामुखी' के तान-ठप्पे, नाच-रग, हाव-भाव, कच-कटाक्ष सहित उसने मुझपर आक्रमण किया, यदि क्या देशी और क्या विलायती रम्भा, मेनका या माड एलन के प्रकृत-दर्शी चित्रो की सेना लेकर मुझे फुसलाने आया, यदि श्रृगारी कवियो की रचनाये लेकर मुझे श्रृगार-धारा मे वहाने आया, तो मै जरूर उसे एक अपशकुन समझूगा। कहूँगा यह सौन्दर्य नही, दुर्भाग्य मे अमगल मुझ गरीव के घर मे प्रवेश करना चाहता है, और चाहे उसका आनन्द मुझे सदेह स्वर्ग मे ले जाने का लालच दिखलावे, मै उसमे असहयोग करना ही अपना धर्म समझूगा। उसका आनन्द मेरे नजदीक आनन्द नही उन्माद है, जीवन को पतनशील, विपत्ति और पापमय वनाने वाला उन्माद है, शैतान का जादू है, माया मृग है।

तो प्रश्न उठता है कि सौन्दर्य क्या वस्तु है? नीति सदाचार के साथ उसका कुछ सम्वन्ध है भी या नही? जीवन मे किस और कितने सौन्दर्य को स्थान है?

सौन्दर्य एक प्रकार से आनन्द का दूसरा नाम है, या यो कहे कि आनन्द के अनेक साधनो मे सौन्दर्य भी एक आनन्द-साधन है। सामान्यत

हम उस वस्तु को सुन्दर कहते है जो अपने ढग की वस्तुओ मे सर्वश्रेष्ठ हो। रुचिभेद से वस्तु-विशेष किसी को सुन्दर और किसीको असुन्दर मालूम होती है। अतएव सौन्दर्य का सर्व-सम्मान्य लक्षण बाधना कठिन है। शास्त्र की जटिल भाषा को छोड कर सीधी-सादी सुबोध भाषा मे इतना ही कह सकते है कि जो वस्तु सब से अच्छी मालूम हो और जिसके मृदुल आघात से हृदय अपूर्व अखण्ड आनन्द का अनुभव करने लगे, चित्त-वृत्ति आनन्दमय हो जाय, वही सुन्दर है। उसीमे सौदर्य का निवास है। सामान्यत तो हम आखो को प्यारी लगने वाली वस्तुओ को ही सुन्दर कहते है, पर गहरा विचार करने पर मालूम होता है कि शरीर की प्राय प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा सौन्दर्य की अनुभूति होती है। नेत्र के द्वारा यदि हम सुन्दर दृश्य या चित्र या वस्तु के सौन्दर्य-सुख को ग्रहण कर सकते है, तो कान के द्वारा सुरीला राग, या मनोहर कविता या मीठी बोली का सुखास्वाद ले सकते है। इसी प्रकार नाक के द्वारा सुगन्ध-सुख और त्वचा के द्वारा कोमल-मृदुल वस्तुओ का स्पर्श-सुख प्राप्त कर सकते है। कभी-कभी अनेक इन्द्रियो के द्वारा एक साथ भी वस्तु-विशेष का सौन्दर्य अनुभव किया जा सकता है। पर आमतौर पर हम उसी वस्तु को सुन्दर कहते है जो प्रधानत हमारी आखो को सुन्दर लगती है।

फिर सुन्दरता न रगविरगेपन मे है, न ठूस-ठूस कर बहुतेरी सजावट करने मे। सुन्दरता रेखाओ, या आकृतियो या सजावट के यथोचित मिलाप मे है। यह अभ्यास से आती है। सुन्दर और सुरुचिवर्द्धक वस्तुओ और दृश्यो के बार-बार देखने से आखो मे सौन्दर्य ग्रहण करने के सस्कार जग जाते है। सुन्दरता के लिए बहुतेरे उपकरणो की आवश्यकता नही होती। शृगार के मानी सुन्दरता नही है। सुन्दरता का अर्थ विचित्रता भी नही है। एक बहुतेरे गहनो से लदी हुई और रग-बिरगे कपड़े पहने

हुई स्त्री फूहड मालूम होती है और एक महज सादी साडी तरतीब से पहने हुई रमणी सुन्दर मालूम होती है। एक मे वह तारतम्य, सुघडता, सुरुचि नही है, जो दूसरी मे है। यही उसकी सुन्दरता का कारण है। जहा विवेक है वही सुन्दरता है, जहा संयम है वही सुन्दरता है, जहा उच्चभाव है वही सुन्दरता है, सुघडता है। ये तीनो चीजे मिलकर जब किसी सजावट मे एकत्र अभिव्यक्त होती है तब उसे सुन्दरता कहते है।

इस विवेचना पर तो मै समझता हूँ, दो मे से किसी पक्ष को आपत्ति न होगी, न होनी चाहिए। आपत्ति का स्थान उस प्रसग पर आता है जब कि यह विवेक किया जाता है कि किस सौन्दर्य को तो हम ग्रहण करे, अपनावे, आदर-पात्र बनावे, और किस को नही; कौन-सा सौन्दर्य हमे सच्चा, अखण्ड आनन्द देता है और कौन-सा क्षणिक अथवा विषाद और पाप-पर्यवसायी आनन्द देता है। जहा अच्छे और बुरे का प्रश्न पैदा हुआ कि नीति और सदाचार ने अपना जोर जमाया। नीति और सदाचार क्या है? विवेक की घोषणा है। जिस नियम से जीवन को लाभ होता है, जीवन का श्रेय होता है, वही नीति और सदाचार है। जिससे जीवन को हानि पहुँचती है, जीवन का अहित होता है, उसीको हम अनीति और दुराचार कहते है। अतएव नीति और सदाचार को हम मनुष्य के जीवन से पृथक् नही कर सकते। वह मनुष्य के स्वभाव का एक अग ही बन गया है। यदि अच्छे और बुरे का विचार छोड दिया जाय तो बुद्धि का उपयोग ही कुछ न रह जाय। ससार की प्रत्येक वस्तु मे हमे अच्छाई और बुराई का विवेक करना होगा। साप जब फन उठाकर खडा होता है तब कम सुन्दर नही दिखाई देता। पर इसलिए लोग उसे अपना नही लेते। उल्टा दुष्ट मनुष्य से उसकी तुलना करते है। अफीम का फल खिलने पर गुलाब के फूल से कम सुन्दर नही दिखाई देता।

पर लोग उसे सूघने से भी चौंकते है और कपटी मनुष्य के लिए उसकी उपमा देते हैं। इसी कारण रूप की सुन्दरता की अपेक्षा गुण की सुन्दरता की अधिक मान-पूजा ससार मे देखी जाती है। इसीलिए कहा है कि सच्चा सौदर्य गुण मे है, रूप मे नही। व्यवहार मे भी हम देखते है कि हम उस मनुष्य की अपेक्षा जो कोरा कवि है, कोरा चित्रकार है, या कोरा गवैया है, उस मनुष्य को एक मनुष्य की हैसियत से अवश्य श्रेष्ठ मानते हैं जो सद्गुणी, नीतिमान ओर सदाचारी है। विहारी मतिराम-पदमाकर-राजा रविवर्मा वा तानसेन बैजू-बावरे से तुलसीदास, लोकमान्य और महात्मा गाधी को हम अधिक मानते और पूजते हैं। रति, रम्भा, मेनका, उर्वशी आदि रूप-सुन्दरियो की अपेक्षा सीता, पार्वती, अहल्या, मीरा आदि गुण-सुन्दरियो की पूजा जगत् मे अधिक होती है। सारी मनुष्य-जाति का यह हाल है। मानवजाति के ये भाव, ये सस्कार उसके आज तक के पिछले सामाजिक और नैतिक अनुभवो की विरासत हं। उसमे जन और समाज दोनो का कल्याण है। यह हम प्रत्यक्ष देखते और अनुभव करते हैं। और जीवन का आदर्श भी आखिर क्या है? आत्मा का विकास, आत्मा का श्रेय, अक्षय आनन्द, अनन्त सुख, अखण्ड स्वतन्त्रता, यही न? कोई दावे के साथ यह कह सकता है कि विना नीति और सदाचार का अवलम्वन किये—विना जन और समाज के लिए श्रेय-साधक कार्य्यो के किये, कोई इस स्थिति को प्राप्त कर सकता है, कर सका है? जीवन को सार्थक और सफल वना सका है मान सका है, सकता है? ओर क्या कोई यह भी छाती पर हाथ धरकर कहेगा कि मद्यपान का, वेश्याविलास का, शृगार-भोग का, काम-चेष्टा का आनन्द अक्षय आनन्द है, अनन्त सुख है, आत्मा का श्रेय है, विकास है? जव ये दावे नही किये जा सकते तव इस कथन मे कितना सार, कितना दम हो

सकता है कि सौन्दर्य से नीति का कोई वास्ता नही ? जब कि जीवन का सारा श्रेय ही सदाचार पर अवलम्बित है तब उस श्रेय के विरोधी या उससे उदासीन सौन्दर्य का मूल्य उसके नजदीक कितना हो सकता है, कितना होना चाहिए ? नीति-हीन सौन्दर्य से हमे आनन्द मिलता है, वह कै दिन ठहरता है ? उससे आगे चलकर हमे सुख होता है या दुख ? पश्चात्ताप होता है या नही ? आत्मा कोसती है या नही? और आनन्द भी तो सौन्दर्य की तरह अनेक प्रकार का होता है। किसी को व्यभिचार मे आनन्द आता है तो किसी को व्यभिचारो की बात करने मे। किसी को पापियो का उद्धार करने मे आनद आता है और किसी को पाप करने और पाप का रास्ता बताने मे। किसी को खून करने मे आनन्द है तो किसी को दुखियो की सेवा करने मे। क्या इन आनन्दो मे हमे अच्छे और बुरे का सुख-पर्यवसायी और दुख-पर्यवसायी का भेद न करना होगा ? नीति के पालन से सुख मिलता है। अनीति के पालन से दुख। नीति मनुष्य को ऊचा उठाती है, श्रेय का मार्ग दिखाती है। अनीति नीचे गिराती, नरक के रास्ते ले जाती है। इसीलिए वह आनन्द और सौन्दर्य मनुष्य के लिए अभीष्ट और वाञ्छनीय है जो प्रिय चाहे न मालूम हो, पर श्रेयस्कर अवश्य हो। त्रुटिहीन परन्तु अकल्याण-कारी सौन्दर्य की अपेक्षा त्रुटियुक्त परन्तु कल्याण-साधक सौन्दर्य मनुष्यो के अपनाने योग्य है। चित्त की प्रसन्नता से आत्मा का कल्याण कही अधिक आवश्यक और इष्ट वस्तु है। यदि यह विचार-धारा निर्दोष है तो फिर नीति-सदाचार से सौन्दर्य का नाता तोडकर क्या हम अपनी और समाज की सेवा कर रहे है ? क्या गलत मिसाल नही पेश कर रहे है ? क्या सौन्दर्य जीवन से भी श्रेष्ठ और दुर्लभ वस्तु है ? जीवन की दृष्टि से सौन्दर्य पर विचार करे या सौन्दर्य की दृष्टि से जीवन पर ? सौन्दर्य

जीवन के लिए है या जीवन सौन्दर्य के लिए ? और क्या नीति-शून्य सौन्दर्य के लिए ?

नीति और अनीति की कल्पना तथा धारणा समाज की सस्कृति के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। आदिमकल मे मानवजाति की जो धारणायें थी वे आज से भिन्न और कम विकसित थी। यूरोप मे इस समय जो नीति-धारणा हे वह भारत की नीति-कल्पना से भिन्न है। जो समाज जितना ही प्राचीन होगा उसकी नीति-विपयक धारणाये उतनी ही पुष्ट, अनुभव-मूलक और प्रौढ अतएव आदरणीय होगी। भारत का वर्त्तमान सदाचार-आदर्श उसके आजतक के समाज-शास्त्र के अध्ययन और अनुभव का फल है। यूरोप सफलता-पूर्वक अपने नैतिक आदर्शो की प्रौढता का दावा नही कर सकता। विचारशील मनुप्य के सामने यह बात सूर्य-प्रकाशवत् स्पप्ट होनी चाहिए। अतएव स्वच्छन्द सोन्दर्य यदि यूरोप की ओर उगली उठावे, यूरोपीय सौन्दर्य-शास्त्रियो की दुहाई देकर धमकाना चाहे, तो उसकी दाल नही गल सकती। जिसे ईश्वर ने जाग्रत-विवेक दिया है, सजीवन का—जीवन के आदर्श का स्पप्ट ज्ञान दिया है, उसका राजमार्ग भी जिसके सामने मौजूद है, यदि अपनी नही तो कितने ही मित्रो की नीति-हीन सौन्दर्योपासना का फल भी जिसकी आखो के सामने नाच रहा है, उसपर यदि अनियन्त्रित सौन्दर्य अपनी निरकुश सत्ता चलाना चाहे तो कहना होगा कि

'यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते।'

हा, यदि भारतीय-समाज का नीति-शास्त्र और सुरुचि यह कहती हो कि सौन्दर्य की खोज मे वेश्याओ के मुखमण्डल पर मडराना बुरा नही है, कामिनियो का अपने पति को छोड़कर जार के पास प्रेम-सन्देश भेजना, एकान्त सेवन करना अनुचित नही है, व्यभिचार नही है, तो ऐसे प्रसगो से

और उनके वर्णनो से सौन्दर्य-पान करना आपत्ति-जनक न होगा । पर वस्तु-स्थिति विलकुल इसके विपरीत है । इससे कोई इन्कार नही कर सकता । ऐसी अवस्था मे स्वैर-सौन्दर्य को, विवेक-हीन सौन्दर्य को शिष्ट समाज मे प्रविष्ट करने की चेष्टा करना मेरी मति मे तो धृष्ठता ही है ।

भारत यो ही विपन्न है, तेजोहीन हो रहा है, वलवीर्य का दिवाला-सा निकाले वैठा है, हे नग्न सौन्दर्य ! इसपर रहम कर !!

हे सत्य और शिव के दाता सौन्दर्य ! इस दुखिया की मदद के लिए दौड !!

[७]

साहित्य में शृङ्गार का स्थान

सौन्दर्य को ही साहित्याचार्यो ने कविता की भाषा मे शृगार-रस कहा है । हमे यह देख लेना होगा कि हमारे स्वतत्र जीवन मे शृगार-रस का वास्तविक रूप क्या होना चाहिए ? साहित्य-शास्त्रियो की भाषा को छोडकर सीधी सुवोध भाषा का आश्रय ग्रहण करे तो शृगार-रस का परिचय इस प्रकार दे सकते है—स्त्री और पुरुष के प्रेम-रस का नाम शृगार-रस है । दोनो का मन मिल जाने से जो प्रीति उत्पन्न होती है उसे रति कहते है और यह रति शृगार-रस का स्थायी भाव है । अर्थात् शृगार-रस मे रति का कभी अभाव नही होता । नायक और नायिका शृगार-रस के अवलवन होते है । या यो कहे कि जिन स्त्री-पुरुष के परस्पर प्रेम से शृगार-रस उत्पन्न होता है उन्हे क्रमश नायिका और नायक कहते है । नायिका और नायक के सयोग से जो रस उत्पन्न होता है उसे सयोग या सभोग शृगार और उनके वियोग से जो

रस उत्पन्न होता है उसे वियोग शृगार या विप्रलब्ध-शृगार कहते हैं। इसके अग-उपाग और भेद-प्रभेद यथा नख-शिख आदि के परिचय की यहा कोई आवश्यकता नही। हमारे प्रयोजन के लिए शृगार-रस की स्थूल कल्पना काफी है और उसके लिए पूर्वोक्त वर्णन वस है। हा, इतना और कह देना चाहिए कि शृगार-रस की उत्पत्ति के लिए स्त्री-पुरुषो का पति-पत्नी ही होना आवश्यक नही है। किसी भी प्रेमी स्त्री-पुरुषो के सयोग-वियोग-जात सुख-दु ख से उत्पन्न रस को शृगार-रस कह सकते है। दूसरे शब्दो मे व्यभिचार के लिए शृगार-रस मे स्थान है और हमारे साहित्याचार्यो एव काव्यकारो ने गणिकाओ और उपपतियो तक की गणना नायक-नायिका-भेद मे की है। जिस काल मे ऐसे शृगार-रस को इतना व्यवस्थित शास्त्रीय रूप प्राप्त हुआ, भला उस काल का समाज भोग-विलास मे कितना निमग्न रहा होगा? यदि आप नख-शिख का एक भी ग्रथ देख ले तो आपके सुसस्कृत मन को ग्लानि उत्पन्न हुए विना न रहे। और जब आप कितने ही सस्कृत और हिन्दी कवियो के काव्यो मे भारत के आराध्य राधाकृष्ण की अश्लील शृगार-लीलाओ के अनल्प कल्पना-चित्र देखेगे तो आपके मुह से ये उद्गार निकले विना न रहेगे कि 'राधा-कृष्ण मन मे पछता रहे होगे कि कहा हमारा इस देश मे जन्म हो गया!' शृगार-रस क्या हुआ, साहित्य-रचना क्या हुई, कवियो को अपनी अश्लीलता और विलासिता की अनियत्रित उमग पूरी करने का मैदान मिल गया! क्या सूर ने राधा-कृष्ण के प्रेम का वर्णन नही किया? तुलसी के रामायण मे शृगार नही है? कवीर ने इश्क की माला नही जपी है? मीरा प्रेम-दिवानी नही हुई है? पर क्या विहारी, मतिराम, देव और पद्माकर का शृगार-रस इन भक्त-कवियो के शृगार के चरणो मे वैठ सकता है? 'मो सम कौन

कुटिल खल कामी', 'प्रभु मोरे अवगुण चित न धरो', 'ऐसी मूढता या मन की' गाने वालो की कक्षा मे 'केशव केसन अस करी जस अरिहू न कराहि। चन्द्र-वदनि मृगलोचनी वावा कहि कहि जाहिं' कहकर सिर धुनने वालो को स्थान मिल सकता है ? 'पत्थर को भी रुलानेवाला और वज्र के भी हृदय को द्रवित करनेवाला' * कवि कहा और 'अव तक न सूँघा गया सुमन, किसी के कोमल हाथ से न छुआ गया किसलय, न वीधा गया रत्न, न चक्खा गया नवमधु, अखण्ड पुण्य का मानो फल, यह शकुन्तला, ओ विधाता! इसका उपयोग न जाने कौन भाग्यवान् करेगा ?' † दुष्यन्त से ऐसा अफसोस कराने वाला कवि कहा ?

क्यो तुलसी की रामायण घर-घर पढी जाती है ? सूर और मीरा के भजन चारो ओर गाये जाते हैं ? कवीर की साखिया सव जगह पढी जाती हैं ? ग्रन्थ साहव का पाठ होता है ? और क्यो विहारी, मतिराम, देव, पद्माकर की सूक्तिया दफ्तरो मे वन्द है ? इसका कारण स्पष्ट है। प्रथम वर्ग ने जीवन को पोषण दिया है, द्वितीय वर्ग ने उसे वहुत कुछ क्षीण किया हं। एक ने अमृत दिया है, दूसरे ने मद्य। यदि यही वात हे तो फिर क्यो हिन्दी मे कही-कही कुछ शृगारी कवियो के गडे मुर्दे उखाडने की कोशिश हो रही है ? क्यो शृगार का जुलूस निकालने की तैयारिया हो रही हैं ? केवल ध्वनि, कोरा चमत्कार, रस, या महज भाव सत्कवि की कसौटी नही है, वल्कि उसकी प्रतिभा से जीवन को

---

* 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।' भवभूति

† अनाघ्रात पुष्प, किसलयमलून कररुहै—
रनाविद्ध रत्न मधुनवमनास्वादित रसम्॥
अखण्ड पुण्यानां फलमिह च तद्रूपमनघम्।
न जाने भोक्तार कमिह समुपस्थास्यति विधि.॥ कालिदास

पोपण मिला, या दौर्बल्य यही सच्ची कसौटी है। आइए, इसी कसौटी पर हम शृगार-रस को कसे।

शृगार-रस की जो स्थूल रूप-रेखा ऊपर दी गई है उससे हम इतना तो जान सकते हैं कि भोगविलास शृगार-रस का प्रधान विषय है। स्त्री और पुरुपो का निर्मल प्रेम भी हो सकता है, परन्तु साहित्याचार्यो के शृगार-रस के विवरण और उनके अनुवर्ती शृगारी कवियो के काव्यो के अवलोकन से हृदय पर यही छाप पडती है, यही अनुभव होता है कि शारीरिक, प्राकृत या वैपयिक प्रेम ही शृगार-रस मे यदि ओत-प्रोत नही तो प्रधान अवश्य है। अच्छा हो यदि हम शृगार-शास्त्रियो के साथ यथोचित न्याय करने के लिए प्रेम को दो भागो मे वाट ले। एक ईश्वरीय प्रेम, जिसे भक्ति कहना चाहिए और दूसरा मानुपी प्रेम, जिसे हम विलास कहे। मानुषी प्रेम मे अर्थात् मनुष्य के प्रति मनुष्य के प्रेम मे भी, फिर वह चाहे स्त्री-पुरुषो मे या पुरुपो मे परस्पर हो, निर्मलता, निर्दोषता या दैवी भाव हो सकता है, पर वह सद्गुण, सद्वृत्ति और सदाचार से सम्वन्ध रखता है, रूप से या शरीर से नही। लोकमान्य को या गाधीजी को जो स्त्री-पुरुप प्रेम करते है वह उनके शरीर या रूप को देखकर नही, वल्कि गुण और शील पर मुग्ध होकर करते है। यही प्रेम जव और आगे वढता है तव ईश्वरीय रूप धारण कर लेता है। अतएव इसे विलास के अन्तर्गत नही, भक्ति के अन्तर्गत ही रखना चाहिए। इस प्रेम या ऐसे शगार के साथ मेरा कोई झगडा नही। मेरा आक्षेप है शारीरिक, रूप-विपयक, अथवा वैपयिक प्रेम या शृगार से। जिस प्रेम या शृगार के कारण मनुष्य के अन्दर विपय-विलास के भाव और काम-लिप्सा उत्पन्न जाग्रत, या उद्दीप्त होती है उसीसे मेरा झगडा है। मेरा दावा है और वह दुनिया के इस अनुभव पर स्थित है कि विपय-विलास और काम-लिप्सा

जीवन को कभी किसी भी अश मे पोषण प्रदान नही करती, उलटा हत-तेज और क्षीणवीर्य बनाती है। मै समझता हूँ कि यह ऐसी अनुभव-सिद्ध बात है कि इसको प्रमाणो या उदाहरणो के द्वारा साबित करने का प्रयत्न करना जन-समाज की बुद्धि और अनुभव की अवहेलना करना है। हा, जीवन मे शारीरिक प्रेम के लिए भी स्थान है। क्योकि हम देखते है कि मनुष्य के हृदय मे एक अवस्था मे शारीरिक प्रेम का एक कोमल विकार उत्पन्न होता है और एक अवस्था तक रहता है। उस समय एक सहयोगी की—स्त्री को पुरुष के और पुरुष को स्त्री के सहवास की आवश्यकता होती है और परस्पर आकर्षण भी होता है। सस्कार और भावना के अनुसार कुछ लोग शारीरिक प्रेम के लिए परस्पर आकर्षित होते है, कुछ लोग मित्र-भाव से। पर प्रथम श्रेणी के लोग ही अब तक ससार मे अधिक पाये जाते है। बहुधा लोग इस विकार को प्रकृति का धर्म मानते है और इसलिए जबतक वह विकार जाग्रत रहता है उसकी तृप्ति करने मे वे हानि नही समझते। उसे वे प्रकृति की आज्ञा का पालन मात्र मानते है। इससे आगे बढकर कुछ लोग हर प्रकार के शारीरिक और मानसिक विकार को प्रकृति का धर्म मानने लगते है। और उसको पालन करने के लिए समाज, नीति या धर्म की मर्यादा को तोडने मे वे बुराई नही समझते। ये लोग सामान्यत विवाह-व्यवस्था को अनावश्यक मानते है। निरकुश प्रेमाचार—विषय-भोग—यदि उनके जीवन का लक्ष्य नही तो वस्तुस्थिति जरूर हो जाती है। यदि इस विचार-धारणा को निर्दोष माने तो फिर जीवन मे सु-सस्कार का कुछ भी महत्व नही रह जाता। मनुष्य क्या है? पशु का सुसस्कृत सस्करण ही है। जिस दरजे तक वह उच्च-सस्कारो से विभूषित होगा उसी दरजे तक वह पशु से ऊँचा रहेगा। नीति और सदाचार सस्कार का मूल है। सस्कार करने के मानी है नीति

और सदाचार की शिक्षा-दीक्षा देना। नीति और सदाचार-सम्बन्धी मनुष्य की धारणाये उसके मानसिक और आत्मिक उत्कर्ष के अनुरूप हुआ करती है। जिसकी नीति-धर्म सम्बन्धी धारणाये जितनी ही उच्च, उदात्त, पवित्र और स्वार्थ-भाव-शून्य होती है उतना ही वह उन्नत और सुसस्कृत माना जाता है। यदि हम मनुष्य-जाति की आदिम अवस्था से लेकर आजतक उसके जीवन के विकास-क्रम पर दृष्टि डाले तो हम एक परिणाम पर पहुँचते है। वह यह कि मनुष्य की गति स्वेच्छाचार से सयम की ओर, स्वार्थ से त्याग की ओर है और जिसने अपने जीवन मे त्याग और सयम को जितना ही अधिक स्थान दिया है उतना ही अधिक उसकी जड मज-बूत हुई है और उतनी ही अधिक उच्च सस्कृति उसकी मानी गई है। इसका सार यह निकलता है कि मनुष्य जितना ही अपने मनोवेगो को रोकेगा, उनकी बागडोर अपने हाथो मे रक्खेगा, उतना ही वह ऊँचा मनुष्य होगा, सच्चा मनुष्य होगा, और जो मनुष्य जितना ही अपने मनो-विकारो का दास होगा उतना ही वह पशुत्व की ओर बढेगा। दूसरे शब्दो मे प्रत्येक मनोवेग और मनोविकार को प्रकृति का धर्म मानकर निरकुश जीवन व्यतीत करना—शारीरिक प्रेम और उपभोग मे फँसे रहना, पशुता का ही अनुसरण करना है। इसी कारण मनुष्य ने अपनी गति को निर्बाध और उर्ध्वगामी बनाने के हेतु विवाह-सस्कार के रूप मे निरकुश प्रेमाचार की एक मर्यादा बाध दी और इतना ही नही, उसने एक ही पुरुष के साथ एक ही स्त्री का जीवन व्यतीत करना मनुष्य का एक आदर्श निर्माण कर दिया और इससे भी आगे बढकर शारीरिक सहवास के भी नियम निश्चित कर दिये और पर-स्त्री का चिन्तन करना, उसे अनुराग की दृष्टि से देखना तक पाप ठहरा दिया। ऐसी अवस्था मे पाठक स्वय ही विचार कर सकते है कि शारीरिक प्रेम अर्थात् शृगार के लिए जीवन मे

और इसलिए साहित्य मे कितना कम स्थान है और जो है वह भी बतौर आपद्धर्म के है। ज्यो-ज्यो मनुष्य-जाति अपने मनोविकारो पर अपना प्रभुत्व करती जायगी त्यो-त्यो शृगार-रस का, वैषयिक प्रेम का स्थान जीवन में कम ही कम होता जायगा।

जब यह बात है तब प्राचीन साहित्याचार्यों की शृगार व्यवस्था की दुहाई देना कहा तक अनुमोदनीय है ? उनका अनुसरण करके, उनके शृगार-साहित्य का जीर्णोद्धार करके हम समाज को कौनसी शिक्षा देगे, कौनसा हित-साधन करेगे ? स्वाधीनता के विकास मे वह कैसे हमारी सहायता करेगा ? शृगार-रस की अभिवृद्धि से न हमारे जीवन को पोपण-रस मिल सकता है, न सुसस्कार। फिर इस अनर्थ-व्यापार से हमे पराङ्-मुख क्यो न होना चाहिए और क्यो न साहित्य के सु-सस्कृत और सु-सस्कर्ता कर्णधारो की लेखनी प्रवृत्ति के खिलाफ उठनी चाहिए ?

[८]

कला-विचार

कला के सबध मे जब ऐसे उच्छृखल और सदोप विचार अधिक फैलते जारहे है तो हमे उस कला के भी दर्शन करलेना चाहिए, जो हमे वास्तविक स्वतत्रता की ओर ले जाती हो।

सर्व-साधारण कला शब्द के दो ही अर्थो से परिचित हैं—१-विद्या, जैसे शस्त्र-कला और २—कुशलता, जैसे सभाषण-कला। पर इनसे बढकर और गहरा अर्थ भी कला का है। एक के हृदय के भावो को दूसरे के हृदय मे तद्वत् पहुँचाने या उद्दीप्त करने की विद्या का नाम भी कला है। भापा जिस प्रकार एक मनुष्य के मस्तिष्क के विचारो को

दूसरे मनुष्य तक पहुँचाने का साधन है उसी प्रकार कला एक के हृदय के भावो को दूसरे के हृदय तक ले जानेवाला वाहन है। जो व्यक्ति अपने हृदय मे उठे शोक, आनन्द, विस्मय, करुणा आदि भावो को किसी उपकरण की सहायता से दूसरे के हृदय मे तद्वत् जाग्रत कर पाता है, वह कलाकार कहा जाता है। कलाकार के उपकरण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कोई अपने स्वर की विशिष्ट रचना के द्वारा, कोई अपने इगित वा अग-विक्षेप द्वारा, कोई अपनी कलम या कूची के द्वारा और कोई अपनी वाणी के द्वारा उन भावो को अपने हृदय से प्रकट और दूसरे के हृदय मे जाग्रत करता है। अतएव किसी कलाधर का उपकरण होता है उसका स्वर, किसीका होता है उसका अग-विक्षेप, किसीकी कलम और किसीकी वाणी। स्वर के द्वारा अपनी कला का परिचय देनेवाले को हम सगीतपटु, अग-विक्षेप के द्वारा परिचय देनेवाले को अभिनेता या नट, कलम के द्वारा देनेवाले को चित्रकार और वाणी के द्वारा देनेवाले को कवि कहते हैं। स्थापत्यकारो की गणना भी कलाधरो मे होती है। इस प्रकार उपकरण-भेद से कला के भिन्न-भिन्न विभाग हो गये हैं— सगीत-कला, नाट्य-कला, चित्र-कला, काव्य-कला और स्थापत्य-कला आदि। अक्सर लोग कला के इस मर्म को नही जानते। चित्रो मे वे केवल रग-विरगे, चमकीले-भडकीले चित्र को 'अच्छा' कह बैठते हैं। वे तो इतना ही देखते हैं कि किस चित्र पर हमारी आखे गड जाती हैं, कौन सुन्दर है, कौन लुभावना है, किसे देखकर हमारी आखो को आनन्द होता है। उनकी आनन्द और सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणाये भी उनके सस्कार के ही अनुरूप रहा करती हैं। चित्रकार और पत्रकार अक्सर उनकी सेवा के नाम पर, उनकी रुचि की दुहाई देकर, ऐसे ही चित्रो के कनिष्ट नमूने पेश करते रहते हैं जिससे उनके चित्र और पत्र खप जायँ।

सर्व-साधारण की वे सस्कार-ीन धारणाये ज्यौ-की-त्यो वनी रहे तो वनी रहे इस कारण न सर्व-साधारण की कलाभिरुचि जाग्रत और परिष्कृत होती है, न कला का विकास ही हो पाता है। वे बेचारे जान ही नही पाते कि अच्छा चित्र वह नही है जो आम तौर पर आखो को सुन्दर मालूम हो, वल्कि वह है जिसे देखकर हृदय मे उच्च, पवित्र, निर्मल भाव उदय हो। ऐसे भाव उठे जिनके द्वारा आचरण को सुधारने की, देश-सेवा, जन-सेवा करने की, कायरता छोडने और पुरुपार्थ वढाने की, दुर्व्यसन और दुराचार से मुह मोडने और सद्‌गुणो की वृद्धि करने की उमग मन मे पैदा हो। चित्र के अच्छे या बुरे होने की सव से अच्छी कसौटी यह है कि उसे देखकर मन मे उपभोग करने की वासना न उत्पन्न हो। जैसे यदि किसी स्त्री के चित्र को देखकर मन मे कामुक अनुराग उत्पन्न हुआ, किसी सुन्दर दृश्य को देखकर वहा जो विलास करने की इच्छा पैदा हुई, यदि किसी रमणी के चित्र को देखकर मन मे यह भाव उठा कि यह मेरी पत्नी होती तो क्या वहार आती, तो समझ लो कि यह चित्र अच्छा नही है। क्योकि चित्र को चित्रित करते समय जो भाव चित्रकार के मन मे प्रधानरूप से काम करता रहता है वही भाव चित्र मे प्रस्फुटित होता है और वही सामान्यत देखनेवालो के मन पर अधिकार करता है। सक्षेप मे कहे तो जिस चित्र को देखकर मन मे कुविचार उत्पन्न होते हो, बुरे भाव उत्पन्न होते हो, वह अधम है, उसे कला का नमूना नही कह सकते। चित्रकार अपनी कला के वल पर अच्छे और बुरे दोनो प्रकार के भाव समाज के हृदय मे उपजा सकता है। पर समाज का हित-साधन वही चित्रकार कर पाता है जो विवेक से काम लेकर समाज के लिए आवश्यक भावो की सृष्टि करता है और समाज को ऊर्ध्वगामी वनाता है। इसलिए कलातत्वज्ञो ने ऐसे ही चित्रकार की

कला को कला माना है, दूसरे प्रकार की कला को वे केवल अधम कला ही नही कहते, वल्कि उसे कला के आसन पर ही नही वैठने देते। जिस प्रकार सदाचारी मनुष्य को ही हम मनुष्य मानते है, और दुराचारी मनुष्य को, उसके मनुष्य रहते हुए भी, हम पशु मानते है उसी तरह समाज को ऊपर चढानेवाली कला ही सच्ची और एकमात्र कला है, समाज को अध पात का रास्ता दिखानेवाली कला को कला न कहना ही सार्थक है।

कला का सम्वन्ध भाव मे है, सुन्दरता से नही। दूसरे शब्दो मे यो कहे कि कला का सम्वन्ध रूप-सुन्दरता से नही, भाव-सुन्दरता से है। रूप-सुन्दरता के पुजारी प्रकृति की प्रतिलिपि को ही कला मानते हैं अर्थात् सृष्टि मे जो वस्तु उन्हे जैसी दिखाई देती है उसकी ज्यो की त्यो नकल कर देने, उसका हूवहू चित्र खडा कर देने की कुशलता को ही वे कला समझते है। इसलिए वे केवल प्राकृतिक दृश्यो के ही चित्र नही खीचते, प्राकृत ससार मे मिलनेवाली मनुष्य की नानाविध अवस्थाओ के ही चित्र विना तारतम्य के नही खीचते, वल्कि नग्न और अर्धनग्न स्त्री-पुरुषो के चित्र चित्रित करना भी अनुचित नही मानते। वे ठेठ दम्पतियो के अन्त पुर मे भी वेधडक चले जाते है और उसकी दीवारे तोडकर सारे जन-समाज मे उन्हे उपस्थित कर देते है। जव पत्र-पत्रिकाओ का जन्म नही हुआ था तव ऐसे दृश्य केवल अन्त पुर की ही सम्पत्ति समझे जाते थे, पर अव तो 'गुप्त' को पाप समझने का जमाना जो आगया है! प्रकृत-ससार मे चाहे हमारे स्त्री-ससार के मुख पर से परदा उठाने की हिम्मत हमे न हो, पर चित्र-ससार मे तो हमने अन्त पुर का भी परदा निकाल डाला है! मन मे प्रश्न उठता है कि किसीके अन्त पुर मे जाकर झाकने का किसीको कुछ अधिकार हो सकता है? यदि नही हो सकता तो फिर अन्त पुर को वाजार मे वेचने-

वाले महाशयो से कभी किसीने इसका जवाब तलब किया है ? किसी भी माता या बहन ने पूछा है कि क्यो हजरत, जब चाहे जहा और जिस अवस्था मे हमे उपस्थित करने की गुस्ताखी आप क्यो कर रहे है ? कभी उनके आर्यसतीत्व ने सन्तप्त होकर उन्हे चेतावनी दी है कि बस, यही तक, अब आगे नही ! मेरी राय मे अब वह समय आगया है कि समाज इस प्रवृत्ति पर अपना अकुश रखने लगे। दम्पती के अन्त पुर के ऐकान्तिक जीवन के प्रसगो के अतिरिक्त चित्रकारो के लिए ऐकान्तिक जीवन के ही ऐसे अनेक दूसरे प्रसग मिल सकते है जिनके द्वारा वे अपनी कला का सदुपयोग कर सकते है।

यह तो हुई प्रकृति की प्रतिलिपि करनेवाले चितेरो की बात। इनकी कला नाम से प्रचलित वस्तु को कला-तत्वविद् यथार्थदर्शी कला कहते है। एक दूसरे प्रकार के कलामर्मज्ञ है। वे भाव-सुन्दरता के उपासक है। वे कहते है, रूप तो क्षणिक और गौण चीज है। भाव मुख्य वस्तु है। कुदरती चीजो की नकल कर देना कौन बडी बात है ? हाथ और आख को जरा अभ्यास होजाय तो बस है। उसमे बुद्धि, कल्पना, प्रतिभा के बल से काम नही लिया जाता। भाव-सुन्दरता के लिए चित्रकार को अपनी नई ही सृष्टि रचनी पडती है। वह अपने हृदय के भाव-विशेष को मूर्त्ति का, व्यक्ति का रूप देता है, जिसे देखते ही यह मालूम होता है कि यह कोई प्राकृत व्यक्ति नही साक्षात् करुणा या भक्ति की ही मूर्ति है। वह उस भाव दर्शन के अनुरूप आदर्श अवयवो को अपनी प्रतिभा के साम्राज्य से खोज-खोजकर लाता है और एक आदर्श भाव-सृष्टि खडी कर देता है। इसलिए ऐसे चित्रकार आदर्शदर्शी-कला के अनुगामी माने जाते हैं। आदर्शदर्शी चित्रकार भावो को व्यक्ति का रूप देता है, यथार्थदर्शी चित्रकार प्राकृत ससार के व्यक्तियो का चित्र खीचकर उसमे भाव आरोपण करने

का प्रयत्न करता है। आदर्शदर्शी चित्रकार का ध्यान हमेशा आदर्श-दर्शन की ओर रहता है। यथार्थदर्शी कलाधर दुनिया की अच्छी बुरी, भद्र-अभद्र, सब चीजे आपके सामने लाकर रख देता है। आदर्शदर्शी कलाकार खुद विवेकपूर्वक चुनाव करके अच्छी चीज आपके सामने पेश करता है। यथार्थदर्शी कलाकार स्वय विवेक का उपयोग करने के झगडे मे नही पडता, चुनाव और पसन्दगी का काम समाज पर छोड देता है। समाज का जी चाहे ऊपर चढे चाहे नीचे गिरे। वह तो अपने मन को जो चीज अच्छी लगी, आपके सामने पेश करके अलग हो गया।

भारतवर्ष स्वभावत और परम्परया आदर्शवादी है। अभी-अभी अग्रेजी सभ्यता की धाक का ऐसा जमाना आया कि और बातो की तरह हम अपनी कला का आदर्श भी भूलने लगे थे। अनेक धन्यवाद है, हैवल साहब को, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर को, डाक्टर कुमारस्वामी को, जिन्होने भारतीय चित्रकला को डूबते हुए बचाया। इस समय भारत मे चित्रकला के दो प्रसिद्ध सम्प्रदाय है—एक बगाल-सम्प्रदाय, दूसरा बम्बई-सम्प्रदाय। बगाल-सम्प्रदाय का झुकाव जितना आदर्शवाद की तरफ है, उतना बम्बई-सम्प्रदाय का नही है। यूरोप मे भी आदर्शवादी, और यथार्थवादी दोनो सम्प्रदाय है। रस्किन, टॉलस्टाय आदर्शवादी है। उनका कहना है कि यूरोप से कला लोप हो रही है। टॉलस्टाय ने What is art? (कला क्या है ?) नामक एक अत्यन्त मार्मिक पुस्तक लिखी है। इसमे उन्होने अपने समय तक के तमाम कला और सौन्दर्य-शास्त्र के प्रधान ज्ञाताओ के मत का निदर्शन करके उनकी समीक्षा की है और कला के सम्बन्ध मे अपना स्वतन्त्र मत प्रतिपादित किया है इस लेखारम्भ मे कला की व्याख्या मे मैने उन्हीके मत को गृहीत किया है। इसे और भी विस्तार से समझने का यत्न करे।

कला की उत्पत्ति जीवन के मृदुल अंश से है। उसका जन्म रस में और परिणति आनन्द मे है। जब जीवन मे सजीवता और स्निग्धता होती है और इतनी होती है कि वह फूटकर बाहर निकलना चाहती है तब कला का उदय होता है। एककी सजीवता और स्निग्धता जिस प्रभावशालिनी विधि या वाहन के द्वारा दूसरे मे जाग्रत होती है उसे कला कहते हैं। इस तरह कला एक माध्यम हुई दो हृदयो को एक रस बनाने का। दो हृदयो को, दो जीवनो का यह मधुर मिलन किसी एक उद्देश से होता है। कला उसीका साधन है। किसी के मन मे एक अनूठा भाव जगा। उससे न रहा गया। उसने कूची उठाई और एक कागज पर लकीरे खीचकर उसे अभिव्यक्त कर दिया। एक सजीव छवि बन गई। यह चित्र-कला हो गई। यदि उस भावावेश मे वह गाने या नाचने लगता तो वह सगीत कला और नृत्य-कला हो गई होती। यदि अभिनय करने लगता तो उसे नाट्यकला कह देते। काव्य मे जिसे चमत्कार कहते है वही कला है। काव्य मे ध्वनि भी कला है। काव्य स्वय भी एक कला है। क्योकि वह भी हृदय के भिन्न-भिन्न भावो की अभिव्यक्ति ही है। रस उसमे सजीवता और आनद ला देता है। भाव जितना ही निर्दोष होगा, उच्च होगा, आनन्द और तन्मयता उतनी ही सात्विक होगी। हृदय उतना ही ऊँचा उठेगा और अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करेगा। हमारे भिन्न-भिन्न भाव हमारे मानसिक व्यापार, हमारे सारे पिण्ड के प्रतिबिम्ब है। हमारे पिण्ड मे जैसे सस्कार सगृहीत हुए होगे वैसी ही भावनाये हमारी होगी। और जैसी हमारी भावनाये होगी वैसी ही हम दूसरो मे प्रेरित और जाग्रत करेगे। अर्थात् जैसे हम होगे वैसे ही हम दूसरो को बनाने मे सफल होगे। इसलिए कलाकार जैसा होगा वैसी उसकी कलाकृति होगी और जैसी उसकी कृति होगी वैसा ही उसका परिणाम दर्शक पर

होगा। कलाकार ने अपने अन्त करण के जिन तारो को छेडा है वही अपनी स्वर-लहरी द्वारा तत्सदृश तारो को दर्शक के अन्त करण मे स्वरित करेंगे। विशुद्ध कलाकृति के लिए कलाकार का अन्त करण निर्दोप होना ही चाहिए। अन्त करण की मलिनता को धोने के लिए मलिन वासनाओ को मिटाने के लिए सत्य की आराधना जरूरी है। भौतिक पदार्थो की आराधना उसे अधोमुख करेगी और क्षुद्रताओ से, रागद्वेप से, ऊपर न उठने देगी। हर जगह से सत्य को ही ग्रहण करने की वृत्ति उसे सत्य से भिन्न और नीची वस्तुओ के लोभ से हटाने की चेप्टा करेगी और इस क्रिया मे उसका हृदय विशुद्ध होता जायगा। उसमे स्वार्थ, भोग, परोप-कार, आदि के सस्कार नप्ट होते जायँगे। क्योकि ज्यो-ज्यो वह सत्य की ओर आगे वढेगा त्यो-त्यो उसे उसमे इतना आनन्द, सुख, और परोपकार देख पडेगा कि स्वार्थ, भोग, आदि से उसका मन अपने आप हटता जायगा। इनकी साधना से मिलनेवाला आनन्द या सुख विल्कुल क्षणिक, भ्रमपूर्ण और परिणाम मे पश्चात्तापात्मक मालूम होने लगेगा। इस तरह कलाकार जितना ही सत्य-पूत होगा, उतनी ही उसकी कृति पवित्र और उज्ज्वल होगी। कला कलाकार की सृप्टि है। वह अपने जीवन के सारे सत्व को कलाकृति के रूप मे जगत् की भेट करता है। उसकी कृति मे जितनी ही सत्य की झलक होगी, सत्य का साक्षात्कार होगा उतनी ही उसकी कला-सृप्टि दिव्य और अमर होगी—उतनी ही वह जगत् को स्फूर्ति, जीवन, चैतन्य, आनन्द, सुख, देगी।

ससार का परम सत्य यह है कि विश्व के अणु-रेणु मे एक ही चैतन्य, एक ही प्रकाश, एक ही तेज, एक ही सत्ता, निखरी और विखरी हुई है। किसी भी वस्तु का अस्तित्व उसके विना सम्भव नही है। हमने इस सत्य को जान तो लिया, किन्तु इसका अनुभव कैसे हो?

हमारे जीवन मे इसकी प्रतीति हमे कैसे हो ? हम अपने अन्दर उस चैतन्य को प्रत्यक्ष कैसे देखे ? हम और वह दोनो जो आज पृथक् है, एक-दूसरे मे मिल कैसे जायँ ? इसका उपाय यह है कि हमारे हृदय का प्रत्येक भाव, हमारे मस्तिष्क का प्रत्येक विचार, हमारे दिल की हर एक धडकन, हमारे फेफडे की हरएक सास, हमारा एक-एक रोम इस स्फूर्ति से भर जाय कि सारे ब्रह्माण्ड मे मैं फैला हुआ हूँ। सारी सृष्टि मेरे अन्दर है। जगत् का सुख-दु ख मेरा सुख-दुख है। जगत् मे कही कष्ट देखू तो ऐसा अनुभव हो कि यह कष्ट मुझे हो रहा है। ससार मे कही आनन्द देखू, किसीको सुखी देखू, तो स्वय कष्ट मे रहते हुए भी उस आनन्द में नाचने लगू। मेरा शत्रु या एक हिस्र पशु सामने आजाय तो मुझे उसमे अपनी ही आत्मा की ज्योति दिखाई दे। जब कलाकार इस स्थिति को पहुँच जाता है—अपने आपमे इतना तल्लीन हो जाता है—या यो कहे कि अपने आपको भूल जाता है, सत्य की स्फुरणा ही अवशिष्ट रह जाती है, तब वह जो सृष्टि रचना करता है, उसे कला कहते हैं। वह सत्य की झलक होती है। शान्ति, करुणा, प्रेम, उदारता, वीरता, शोक, उत्साह, साहस, चिन्ता, किसी भी भाव की अभिव्यक्ति हो, किन्तु होगी सत्य की प्रेरणा का फल। वह भाव मूल मे सत्य से आरम्भ हुआ है, फिर शान्ति, वीरता, चिन्ता या किसी भी भाव मे उसका विकास हुआ है, इस विकास की अभिव्यक्ति कला है। इसका परिणाम दर्शक के मन में उसी भाव की जागृति होगा। यह जागृति उसे उस मूल सत्य की ओर जाने की प्रेरणा करेगी जहा से कलाकार के मन मे वह भाव स्फुरित हुआ है। इस प्रकार कला आदि मे सत्य मूलक और अन्त मे सत्याभिमुख है, मध्य मे वह भाव-विशेप का रूप गृहण कर लेती है। या यो कहे कि एक सत्याश से दूसरे सत्याश को जगानेवाले भाव-विशेष की अभिव्यक्ति का नाम कला है।

इस तरह कला एक कृति है, साधन है, अभिव्यक्ति है, साध्य नही है। उसका परिणाम है भावोन्मत्तता और साध्य है सत्य का साक्षात्कार—सत्य का दर्शन।

व्यावहारिक भापा मे कला का अर्थ है—कुशलता। कला का अर्थ विद्या, हुनर भी है। इस मानी मे कला एक मानसिक गुण हुई। इस अर्थ मे कला हर एक व्यावहारिक मनुष्य के अन्दर परम आवश्यक है। पर कला से अभिप्राय यहा उस कृति से है जो हमारे हृदय को जगा देती है, वार-बार उसे गति देती रहती है, वस इसके आगे उसका काम खतम हो जाता है। कलाकार आपका हाथ पकडकर—आपका साथी या नेता वनकर, आपकी सहायता नही करता। वह तो एक ऐसा दृश्य दिखा देता है जिससे आपके अन्त करण मे एक हलकी मीठी गुदगुदी उत्पन्न होती है और आपकी आत्मा जागृत होने लगती है। मृदुलता कला का जीवन है। समवेदना उसकी जननी है। किसी कल्पना या दृश्य से कलाकार के हृदय को चोट पहुँचती है, क्षोभ होता है, या आनन्द होता है—उससे उसके अन्त करण के कपाट खुलते हैं। वहा से एक रस की धारा फूटती है। समवेदना उसमे मृदुलता की दूसरी धारा छोडती है। दोनो मिलकर किसी उपकरण के द्वारा कोई स्थूल रूप ग्रहण करती है—उसे हम कला कहते हैं। अतएव कला का कार्य केवल दूसरे चित्रो की नकल, या मानव मूर्तियो का चित्रण, अथवा सृष्टि के विविध दृश्यो का दर्शन नही है, वल्कि भावदर्शन के द्वारा भावोद्बोधन है। कलाकार मानव-मूर्तियो मे भाव का प्रवेश नही करता, वल्कि भावो की मानव-मूर्तियो या पार्थिव दृश्यो के रूप मे उपस्थित करता है। जिन दृश्यो को मनुष्य प्राय अपने जीवन मे देखता है उनकी प्रतिकृति उसका कार्य नही है, बल्कि एक नई सृष्टि-रचना उसका कार्य है। उसे एक दूसरा विधाता ही

समझिए। वह हमारे विधाता की रची सृष्टि की नकल नही करता, वल्कि उसमे सुधार करता है, उसमे अधिक परिष्कृत, सुन्दर, कोमल, मनोहर और दिव्य सृष्टि रचना चाहता है। वह एक आदर्श को मानवी हाथ-पाव आदि अग जोडकर हमारे सामने रखता है। इस अग रचना मे वह अपनेको स्वतत्र समझता है। वह यदि यह समझता है कि अँगुलिया लम्बी वनाने से चित्र की सुन्दरता वढेगी तो फिर इस वात का विचार नही करता कि ब्रह्मदेव ने तो इतनी लम्बी अँगुलिया मनुष्य की नही वनाई है, मै कैसे वनाने का साहस करूँ ? इस अर्थ मे कलाकार मौलिक, साहसी ओर स्वतत्र होता है।

कला को उदर-पूर्ति का साधन हरगिज न वनाना चाहिए। पेट जव तक मनुष्य के साथ लगा हुआ है तवतक उसकी पूर्ति अनिवार्य है, परन्तु उसके लिए जीवन के प्रधान और महान् उद्देश को विगाडा नही जा सकता। जो महान् ओर सच्चे उद्देश के लिए जीते है उन्हे न तो पेट की चिन्ता होती है ओर न उन्हे वास्तव मे भूखो मरना ही पडता है, यदि मरना भी पडे तो उसमे भी वे अधिक आनन्दित रहते है और चमकते है। उदर-पूर्ति का भाव प्रधान हुआ नही और कला भ्रष्ट हुई नही। क्योकि कला फिर कलाकार की आत्मा की ज्योति नही रह जाती, अन्नदाता या धनदाता की रुचि की दासी वन गई। कहा की आत्मा की स्वतत्र ज्योति और कहा दूसरे की रुचि की गुलामी ? कितना स्पष्ट पतन ! पेट की चिन्ता, पुरस्कार की इच्छा उन्ही कलाकारो को हो सकती है जिन्होने किसी उच्च या महान् उद्देश के अनुवर्ती होकर कला जीवन नही आरभ किया है। यह कला-मर्मज्ञ और कला-रसिक लोगो का कर्त्तव्य है कि वे कलाकारो की जीविका का उचित प्रवध कर दिया करे। जवतक समाज या कला-रसज्ञ अपने कर्त्तव्य के प्रति जाग्रत नही

हैं तबतक कलाकार के सामने दो ही मार्ग हैं—या तो अपनी कला का दाम लगाकर स्वय धनोपार्जन करे—या कष्ट पाकर समाज को अपने कर्त्तव्य का भान करावे। पहले प्रकार का कलाकार समाज को कुछ कलाकृतिया तो देगा, परन्तु उनसे समाज का मनोरजन विशेषरूप से होगा, समाज मे जागृति कम होगी और उसे बोध उससे भी कम मिलेगा। इसके विपरीत जो कलाकार धनाभाव मे कष्ट सहन करेगा, वह समाज मे एक जागृति उत्पन्न करेगा, और उस कष्ट की भावनाओ से प्रेरित होकर जो कलाकृतिया निर्माण करेगा उनमे अदभुत प्रभाव, वल और जीवन होगा, जिससे समाज को अमित लाभ होगा। आसानी से धनोपार्जन करके हम सिर्फ अपने कुटुम्ब का भरण-पोपण निश्चिन्तता के साथ कर सकते हैं, किन्तु धनाभाव से कष्ट उठाकर हम सारे समाज की आत्मा को जगाने का पुण्य प्राप्त करते है। जो वस्तु हमारे लिए आवश्यक है उसके न मिलने से शरीर या मन को जो क्लेश होता है उसे सहना, उसे कष्ट न समझना, वल्कि इससे भी आगे वढकर उसमे आनन्द मानना कष्ट सहन है। इसके द्वारा हम उन व्यक्तियो, सस्थाओ श्रेणियो का ध्यान आकर्षित करते है, जिनके लिए यह जरूरी है कि वे उस वस्तु को हमतक पहुँचावे। जव उन तक इस वात की खवर पहुँचेगी तो वे फौरन सोचने लगेगे कि फला आदमी ऐसा क्यो कर रहा है ? उसके वाद ही वे यह सोचेगे कि इस विपय मे हमारा क्या कर्त्तव्य है ? इसके पश्चात् वे उसके साधन की पूर्ति करने की चेष्टा करेगे। जवानी या लिखित माग के द्वारा भी इस उद्देश की पूर्ति हो सकती है; किन्तु दोनो के प्रभाव और फल मे अन्तर है। जवानी और लिखित माग उस वस्तु की अनिवार्यता उतने जोर के साथ नही जाहिर करती जितनी कि कष्ट सहन द्वारा की गई माग। फिर कष्टसहन से

अपने मे सन्तोष और सयम का गुण बढता है एव दूसरे मे कर्त्तव्य जागृति का।

इतने विवेचन से पाठक यह अच्छी तरह समझ चुके होगे कि कला वही है जिसकी प्रेरणा आत्मा की सत्यता, स्वतन्त्रता और पवित्रता से मिली हो, और कलाकार वह है जिसने जीविका के बाजार मे बेचने के लिए कला को नही सिरजा हो। इसके विपरीत जो कला दीखती है, या कलाकर कहलाते है, वे नि सत्व होते है और स्वाधीनता की साधना या स्वाधीन भावो की रक्षा मे किसी प्रकार सहायक नही हो सकते।

———

संस्था-सञ्चालन

[६]

[१]

आधुनिक दाता और भिखारी

सार्वजनिक काम विना सस्था के समुचित और सुसगठित रूप से नही चल सकते और सस्था विना धन की सहायता के नही चलती यह स्वयसिद्ध और सर्वमान्य बात है। धन मुख्यत धनी लोगो से ही मिल सकता है। हमारे देश मे ऐसे धनी बहुत कम हैं जो सार्वजनिक कामो मे दिल खोलकर धन लगाते हो। पुराने विचार के धनी मदिरो, गोशालाओ, धर्मशालाओ, कुवो, अन्नक्षेत्रो आदि मे धन लगाते हैं और कुछ सस्कृत-हिन्दी की पाठशालाओ तथा अग्रेजी स्कूलो के लिए भी धन देते हैं। देश की परम आवश्यकता को समझकर सामाजिक सुधार अथवा राष्ट्रीय सगठन के काम मे थैली खोलकर रुपया लगानेवालो की बडी कमी है। फिर जो ऐसे कामो मे दान दिया जाता है वह कीर्ति के लोभ से, मुलाहिजो मे आकर, जितना दिया जाता है

उतना उस कार्य से प्रेम होने के कारण नही। इसका फल यह होता है कि हमे रुपया तो मिल जाता है पर उन कामो के लिए उनका दिल नही मिलता, जो कि धन से भी अधिक कीमती है। जहा धन और मन दोनो मिल जाते हैं वहा ईश्वर की पूरी कृपा समझनी चाहिए।

पर जहा मन नही है, अथवा मन दूसरी बातो मे लगा हुआ है, वहा से अपने कामो के लिए धन प्राप्त करना एक टेढी समस्या है। कार्यकर्त्ता की सबसे बडी परीक्षा यदि किसी जगह होती है, सबसे अधिक मन क्लेश उसे यदि कही होता है, तो अपने प्रिय कार्यो के लिए धन एकत्र करने मे। मैं इस बात को मानता हूँ कि यदि कार्यकर्त्ता अच्छे और सच्चे हो तो धन की कमी से उनका काम नही रुक सकता। मैं यह भी देखता हूँ कि कितने ही देश-सेवक धन प्राप्त करने मे विवेक का कम उपयोग करते हैं। धनवान् प्राय शकाशील होते हैं। यदि वे ऐसे न हो तो लोग उन्हे जिन्दा खा जायँ। धन ही उनका जीवन-प्राण होता है, धन ही उनके सारे परिश्रम और उद्योग का लक्ष्य होता है, इसलिए धन-दान के मामले मे वे कठोर, सशयचित्त और बेमुरौवत हो तो आश्चर्य की बात नही, फिर भी जिस बात मे उनका मन रम जाता है, फिर वह देश-सेवको की दृष्टि मे उचित हो वा अनुचित, वे मुट्ठो खोलकर पैसा लगाते ही रहते हैं। अतएव सबसे आवश्यक बात है धनवानो को यह जँचाना चाहिए कि हमारा काम लोकोपयोगी है, उसकी इस समय सबसे अधिक आवश्यकता है और कार्यकर्त्ता सच्चे, प्रामाणिक और व्यवस्थित काम करनेवाले हैं। यह हम बाते बनाकर उन्हे नही समझा सकते। छल-प्रपच तो कै दिन तक चल सकता है ? हमारी व्यक्तिगत पवित्रता, हमारी लगन, हमारी कार्य-शक्ति ही उन्हे हमारा सहायक बना सकती है।

हमारे देश मे दान देनेवाले तीन प्रकार के लोग होते हैं। (१) एक तो वे धनी जो पुराने ढग के धार्मिक कार्यो मे धन लगाते हैं, (२) दूसरे वे धनी जो देश-हित और समाज-सुधार मे रुपया देते हैं, और (३) सर्व-साधारण लोग। पुराने ढग के लोगो मे धर्म का भाव अधिक है, धर्म का ज्ञान कम है, और देश तथा समाज की स्थिति का ज्ञान तो और भी कम है। पुरानी रूढियो और अन्ध विश्वासो को ही उन्होने धर्म मान रक्खा है—और यह उनका इतना दोप नही है जितना उन लोगो का, जिन्होने उनकी ये धारणाये वना दी हैं, और अव भी जो उन्हे वना रहने देते हैं। दान का भाव उनके अन्दर है, जिस दिन वे अपनी धारणाओ को गलत समझ लेगे, अपने भ्रम को जान जायगे, उसी दिन वे समझ और खुशी के साथ देश-हितकारी कार्य्यो मे दान दिया करेगे। इसका उपाय तो है, उनके अन्दर देश-काल के ज्ञान का प्रचार करना। उनके साथ धीरज रखना होगा, आतुर वनने से काम न चलेगा।

दूसरे दल मे दो प्रकार के लोग है—एक तो वे जो सभी अच्छे कामो मे सहायता देते रहे है, दूसरे वे जो खास-खास कामो मे ही देते है। ये दो भेद हम सार्वजनिक भिखारियो को अच्छी तरह ध्यान मे रखना चाहिए। पहले प्रकार के लोग काम करनेवालो पर ज्यादा दृष्टि रखते है और दूसरे प्रकार के लोग काम और काम करनेवाले दोनो पर। पहले दाता को यदि यह जँच जाय कि आदमी भला और ईमानदार है तो फिर उसका काम न जँचने पर भी वह सहायता कर देता है और दूसरा दाता इतने पर सतोप नही करता। वह यह भी देखता है कि यह काम क्या कर रहा है, अच्छी तरह कर रहा है या नही, जो कार्य स्वय दाता को पसद है वही कर रहा है या दूसरा,

और यदि वह उसके मत के अनुकूल हुआ तो ही सहायता करता है। पहले दाता मे उदारता अधिक है और दूसरे मे विवेक तथा मिशनरी-वृत्ति। पहले मे राजा का मनौदार्य है, और दूसरे में सेनानायक की विवेक-शीलता, तारतम्य-बुद्धि। पहला देने की तरफ जितना ध्यान रखता है उतना इस बात की तरफ नही कि दिये धन का उपयोग कैसा हो रहा है, काम-काज कैसा-क्या चल रहा है, दूसरा पिछली बात के लिए जागरूक रहता है। पहले दाता से बहुतो को थोडा-थोडा लाभ मिलता है, दूसरे से थोडो को बहुत। पहला धूर्तो के जाल मे फँस सकता है, दूसरे से सच्चे भिखारी भी निराश हो सकते हैं। इन मनो-वृत्ति को पहचानकर हमे भिक्षा-पात्र हाथ में लेना चाहिए। राजा-वृत्ति के दाता के पास हर भिखारी बडी रकम की अभिलाषा से जायगा, अथवा बार-बार जाने लगेगा, तो निराशा, पछतावा और कभी किसी समय उपेक्षा या अपमान के लिए उसे तैयार रहना चाहिए। मिशनरी-वृत्तिवाले दाता के पास उसके प्रिय कामो को छोडकर दूसरे कामो के लिए जाने से सूखा इन्कार मिलने की तैयारी कर रखनी चाहिए।

अब रहे सर्वसाधारण दाता। ये दाता भी हैं और दान-पात्र भी हैं। सार्वजनिक काम अधिकाश में सर्वसाधारण के ही लाभ के लिए होते हैं। उन्हीका धन और उन्हीका लाभ। हमारी वर्ण-व्यवस्था ने समाज-हित के लिए धन देना धनियो का कर्तव्य ठहरा दिया। इसलिए अधिकाश धन उन्हीसे मिलता है और उन्हीका दिया होता है। यो देखा जाय तो सर्वसाधारण जनो के ही यहा से वह धन धनियो के यहा एकत्र हुआ है और उसका कुछ अश फिर उन्हीकी सहायता मे लग जाता है। पर इतना चक्कर खाकर आने के कारण वह उन्हे अपना नही मालूम होता। सब से अच्छी मनोवृत्ति तो मुझे यही मालूम होती है कि सर्वसाधारण

अपनी सस्थाये, अपने काम, अपने ही खर्चे से चलावे, दान लेने और दान देने की प्रथा मनुष्य के स्वाभिमान को गहरा धक्का पहुँचाती है। दान देनेवाला अपनेको उपकार-कर्त्ता अतएव बडा सामझने लगता है और अभिमानी हो जाता है। इधर दान लेनेवाला अपनेको उपकृत अतएव छोटा और जलील समझने लगता है। यदि कर्त्तव्य-भाव से दान दिया और लिया जाता है, यदि दाता अपना अहोभाग्य समझता हो कि मेरा पैसा अच्छे काम मे लगा, यदि भिक्षुक भी अपने को धन्य समझता हो कि समाज-सेवा या देश-हित के लिए मुझे झोली हाथ मे लेने का और अपमानित या तिरस्कृत होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ—तब तो इससे बढकर सुन्दर, उच्च, ईर्ष्या-योग्य मनोवृत्ति हो नही सकती। अतएव या तो कर्त्तव्य और सेवा-भाव से दान दिया और लिया जाय, फिर उसमे उपकार या एहसान का भाव किसी ओर न रहे, या फिर दान देने-लेने की प्रथा उठाकर स्वावलम्बन की प्रणाली डाली जाय। वर्तमान दाताओ और भिक्षुको का वर्तमान अस्वाभाविक और उद्वेग-जनक सम्बन्ध किसी तरह वाछनीय नही है।

भिक्षुक भी कई प्रकार के है। पेटार्थी और सेवार्थी—ये दो बडे भेद उनके किये जा सकते है, फिर याचक भिखारी और डाकू भिखारी—ये दो भेद भी उनके हो सकते है। अपने पेट के लिए भीख मागनेवाले—फिर चाहे वे पुराने ढग के भिखमगे हो, चाहे नवीन ढग से चन्दा जमा करनेवाले हो, लोग उन्हे पहचानते है और चाहे तो उन्हे जल्दी पकड सकते है। सेवार्थी वे है जो अपने अगीकृत कार्यो और सस्थाओ के लिए सहायता प्राप्त करते है। अपने भरण-पोषण मात्र के लिए वे सस्था से खर्च ले लेते है। याचक भिखारी वे जो गली-गली चिल्लाते और गिडगिडाते फिरते है, और डाकू भिखारी वे जो मुडचिरे होते है, अथवा अखबारो मे

वदनामी करने की धमकी दे-देकर, या आन्दोलन मचाकर रुपया हड़प लेते हैं।

दाताओ को चाहिए कि वे स्तुति से प्रभावित और निन्दा से भयभीत होकर दान न दे। कार्य की आवश्यकता, श्रेष्ठता और उपयोगिता तथा कार्य-सचालक की लगन, प्रामाणिकता, व्यवस्थितता और योग्यता देखकर धन दिया करे। भिखारियो को चाहिए कि दाता को पहचानकर उसके पास जायँ, आवश्यकता हो तभी जायँ। दाताओ और भिखारियो के लिए नीचे लिखे कुछ नियम लाभकारी साबित होगे—

दाताओं के लिए—

(१) देश, काल और पात्र को देखकर दान दे।

(२) जो देना हो खुशी-खुशी दे—वेमन से या जबरदस्ती कुछ न दे।

(३) आजकल देश-हित और समाज-सुधार के कामो मे ही धन लगावे।

(४) दान देने के पहले भिक्षुक को परख ले। यह जाच ले कि वह अपने, अपने कुटुम्बियो के, आश्रितो के लिए सहायता चाहता है, या अपने अगीकृत कार्य के लिए, अपनी सस्था के सचालन के लिए चाहता है। फिर व्यक्ति और कार्य की जैसी छाप उनके दिल पर पडे वैसी सहायता करनी चाहिए।

(५) हर आगन्तुक की सीधे सहायता करने के वजाय यह अच्छा है कि एक-एक कार्य के लिए एक-एक विश्वसनीय प्रधान चुन लिया जाय और उसकी मार्फत सहायता दी या दिलाई जाय।

(६) जहा-जहा दान दिया जाता है वहा उसका उपयोग कैसा-क्या होता है, इसकी जाच-परताल दाता को हमेशा कराते रहना चाहिए और आवश्यकता जान पड़े तो विना मागे भी सहायता करनी चाहिए।

(७) इतनी बातो की जाच होनी चाहिए—(१) प्राप्त धन का हिसाब ठीक-ठीक रक्खा जाता है या नही, (२) खर्च-वर्च मे किफायत से काम लिया जाता है या नही, और (३) कार्य के अलावा व्यक्ति अपने ऐशो-आराम मे तो खर्च नही कर रहे है न ।

(८) दाता भिखारी का अनादर न करे । स्नेह के साथ उसकी बाते सुने और मिठास से उसको उत्तर दे । इन्कार करने मे भी, जहातक हो, रुखाई से काम न लिया जाय । यह नियम सेवार्थी भिखारियो पर लागू होता है, पेटार्थी या डाकू भिखारी पर नही—उनको तो भिक्षा, दान या सहायता देना घर की लक्ष्मी को कूडे पर फेकना है ।

भिखारियों के लिए—

(१) केवल सार्वजनिक कार्य के लिए ही भिक्षा मागने जायँ ।

(२) अपने खर्च-वर्च के लिए किसी व्यक्ति से कुछ न मागे—सस्था या अपने अगीकृत कार्य पर अपना बोझ डाले और सो भी उतना ही, जितना भरण-पोषण के लिए अति आवश्यक है । भूखो मरने की नौबत आने पर भी अपने पेट के लिए किसीके आगे हाथ न फैलावे ।

(३) जब वह भिक्षा मागने निकला है, तब मान-अपमान, आशा-निराशा से ऊपर उठकर दाता के पास जाय । सहायता मिल जाने पर हर्ष से फूल न उठे, न मिलने पर दुखी न हो । मिल जाने पर दाता को धन्यवाद अवश्य दिया जाय, पर न मिलने पर तनिक भी झुझलाहट न दिखाई जाय—उसे कोसना तो अपनेको भिक्षुक की श्रेष्ठता से गिरा देना है ।

(४) भिक्षा मागने तभी निकले जब काम बिल्कुल ही अड जाय ।

(५) धन के हिसाब-किताब और खर्च-वर्च मे बहुत चौकस और सावधान रहे । कार्य-सचालन मे प्रमाद या आलस्य न करे । अन्यथा उसका भिक्षा मागने का अधिकार कम हो जायगा ।

(६) दाताओ पर प्रभाव जमाने के लिए आडम्बर न रचे। उन्हे फुलसाने के लिए व्यर्थ की तारीफ न करे। डराकर दान लेने का तो स्वप्न मे भी खयाल न करे।

(७) अपने कार्य मे जिन-जिन लोगो की रुचि हो उन्हीके पास सहायता के लिए जाय।

(८) यह समझे कि सस्थाएँ और कार्य धन के वल पर नही, हमारे त्याग, तप और सेवा के वल पर ही चल सकती है। ओर यदि तप और सेवा न होगी तो धन भोग-विलास की सामग्री वन जायगा। स्थायी कोप वनाने के लिए धन सग्रह करने किसीके पास न जाना चाहिए।

मेरा खयाल है कि यदि दाता और भिखारी दोनो इन वातो का खयाल रखते रहेगे तो न कोई अच्छा कार्य धन के अभाव मे विगडने पावेगा, न धन का दुरुपयोग होगा, न दाता और भिखारी को परस्पर निन्दा या तिरस्कार करने का अवसर ही आवेगा। आदर्श दाता और आदर्श भिखारी जिस समाज मे हो वह धन्य है। वह समाज कितना ही पीडित, पतित, पिछडा हो, उसका उद्धार हुए विना रह नही सकता।

[२]

सेवक के गुण

संग्राम मे विजय पाना जिस प्रकार सेना के गुण, योग्यता और नियम-पालन पर वहुत-कुछ अवलवित रहता है, उसी प्रकार देश-सेवा का कार्य देशसेवको के गुण, वल, योग्यता और नियम-पालन के बिना प्राय असम्भव है। केवल व्याख्यान दे लेने, लेख लिख लेने, अथवा सुन्दर कविता रच लेने से कोई देश-सेवक की पदवी नही पा

सकता। ये भी देश-सेवा के साधन है, पर ये लोगो के दिलो को तैयार करने भर मे सहायक हो सकते है, उनके सगठन और सञ्चालन मे नही। अतएव यह आवश्यक है कि हम जान ले कि एक देश-सेवक की हैसियत से हमे किन-किन गुणो के प्राप्त करने की, किन,किन नियमो के पालन करने की आवश्यकता है और फिर उसके अनुसार अपने-अपने जीवन को बनावे।

(१) देश-सेवक मे पहला गुण होना चाहिए सचाई और लगन। यदि यह नही है, तो और अनेक गुणो के होते हुए भी मनुष्य किसी सेवा-कार्य मे सफल नही हो सकता। मक्कारी और छल-प्रपञ्च के लिए देश या समाज या धर्म-सेवा मे जगह नही।

(२) दूसरे की बुराइयो को वह पीछे देखे पर अपनी बुराइया और त्रुटिया उसे पहले देखनी चाहिएँ। इससे वह खुद ऊचा उठेगा और दूसरो का भी स्नेह सपादन करता हुआ उन्हे ऊचा उठा सकेगा।

(३) तीसरी बात होनी चाहिए नम्रता और निरभिमानता। जो अपने दोष देखता रहता है वह स्वभावत नम्र होता है, और जो कर्तव्य-भाव से सेवा करता है उसे अभिमान छू नही सकता। उद्धतता, अहम्मन्यता और बडप्पन की चाह—ये देश-सेवक के रास्ते मे जहरीले काटे है। इनसे उन्हे सर्वदा बचना चाहिए।

(४) देश-सेवक निर्भय ओर निश्चयशील होना चाहिए। सत्यवादी और स्पष्टवक्ता सदा निर्भय रहता है। ये गुण उसे अनेक आपदाओ से अपने आप बचा लेते है।

(५) मित और मधुर-भाषी होना चाहिए। मित-भाषिता नम्रता, और विचार-शीलता का चिन्ह है और मधुरता दूसरे के दिल को न दुखाने की सहृदयता है। मधुरता की जड़ जिव्हा नहीं, हृदय होना

चाहिए। जिव्हा की मधुरता कपट का चिन्ह है, हृदय की मधुरता प्रेम, दया और सौजन्य का लक्षण है। भाषा की कटुता और तीखापन या तो अभिमान का सूचक होता है या अधीरता का। अभिमान स्वय व्यक्ति को गिराता है, अधीरता उसके काम को धक्का पहुचाती है।

(६) दुख मे सदा आगे और सुख मे सबसे पीछे रहना चाहिए। यश अपने साथियो को दो और अपयश का जिम्मेवार अपने को समझने की प्रवृत्ति रहे।

(७) द्वेष और स्वार्थ से दूर रहना चाहिए। अपने योग्य साथियो को हमेशा आगे बढने का अवसर देना, उन्हे उत्साहित करना और उनकी बताई अपनी भूल को नमृता के साथ मान लेना द्वेप-हीनता की कसौटी होती है। अपने जिम्मे की सस्था या धन-सम्पत्ति को या पद को एक मिनट की नोटिस पर अपने से योग्य व्यक्तियो को सौंप देने की तैयारी रखना नि स्वार्थता की कसौटी है।

(८) सादगी से रहना, कम-से-कम खर्च मे अपना काम चलाना और अपना निजी बोझ औरो पर न डालना चाहिए। सादगी की कसौटी यह है कि अन्न-वस्त्र आदि का सेवन शरीर की रक्षा के हेतु किया जाय, स्वाद और शोभा के लिए नही। सेवक के जीवन मे कोई काम शोभा या शृगार के लिए नही होता, केवल आवश्यकता के लिए होता है। खर्च-वर्च की कसौटी यह है कि आराम पाने या पैसा जमा करने की प्रवृत्ति न हो।

(९) जो सेवक धनी-मानी लोगो के सपर्क मे आते रहते है या उनके स्नेह-पात्र है उन्हे इतनी बातो के लिए खास तौर पर सावधान रहना चाहिए—

(अ) बिना प्रयोजन उनके पास बैठना और बातचीत न करना चाहिए।

(आ) अपने खर्च का वोझ उनपर डालने की इच्छा न पैदा होनी चाहिए—हुई तो उसे दवाना चाहिए ।

(इ) वे चाहे तो भी विना काम उनके साथ पहले या दूसरे दरजे मे सफर न करना चाहिए ।

(ई) उनके नौकर-चाकर, सवारी आदि पर अपने काम का वोझ न पडने देने की सावधानी रखनी चाहिए ।

(उ) मान पाने की इच्छा न रखनी चाहिए—उसका अधिकारी अपनेको मान लेना तो भारी भूल होगी ।

(ऊ) उनके धनैश्वर्य मे अपनी सादगी और सेवक के गौरव को न भुला देना चाहिए ।

(ए) थोडे मे यो कहे कि अपने सार्वजनिक कामो मे सहायता प्राप्त करने के अतिरिक्त अपना निजी बोझ उनपर किसी रूप मे न पड जाय इसकी पूरी खवरदारी रखनी चाहिए । यदि उनके यहा किसी प्रकार की असुविधा या कष्ट हो तो उसका प्रवध स्वय कर लेना चाहिए—इसकी शिकायत उनसे न करनी चाहिए ।

(१०) अपने खर्च-वर्च का पाई-पाई का हिसाव रखना और देना चाहिए । अपने कार्य की डायरी रखना चाहिए ।

(११) घरू काम से अधिक चिन्ता सार्वजनिक काम की रखनी चाहिए । एक-एक मिनट और एक-एक पैसा खोते हुए दर्द होना चाहिए । खर्च-वर्च मे अपने और साथियो के सुख-साधन की अपेक्षा कार्य की सुविधा और सिद्धि का ही विचार रखना चाहिए । सार्वजनिक सेवा सुख चाहनेवालो के नसीव मे नही हुआ करती, इस गौरव के भागी तो वही लोग हो सकते है जो कष्टो और असुविधाओ को झेलने मे आनन्द मानते हो और विघ्नो और कठिनाइयो का प्रसन्नता-पूर्वक स्वागत

और मुकावला करते हो। सेवक का कार्य उसके कष्ट-सहन और तप के वल पर फूलता-फलता है। सेवक ने जहा सुख की इच्छा की नही कि उसका पतन हुआ नही। सेवक दूध, फल और मिष्टान्न खाकर नही जीता—कार्य की धुन, सेवा का नशा उसकी जीवनी-शक्ति है।

(१२) व्यवहार-कुशल वनने की अपेक्षा सेवक साधु वनने की अधिक चेष्टा करे। साधु वननेवाले को व्यवहार-कुशल वनने के लिए अलहदा प्रयत्न नही करना पड़ता। व्यवहार-कुशलता अपनेको साधुता के चरणो पर चढा देती है। व्यवहार-कुशलता जिस भय से डरती रहती है वह साधुता के पास आकर उसका सहायक वन जाती है। मनुष्य का दूसरा नाम है साधु। सेवक और साधु एक ही चीज के दो रूप है। अतएव यदि एक ही शब्द मे देश-सेवक के गुण, योग्यता और नियम वताना चाहे तो कह सकते है कि साधु वनो। साधुता का उदय अपने अन्दर करो, साधु की सी दिनचर्या रक्खो। अन्न पर नही, भावो पर जिओ। स्वीकृत कार्य के लिए तपो। विघ्नो, विपत्तियो, कठिनाइयो, मोहो और स्वार्थो से लडने मे जो तप होता है वह पचाग्नि से वढकर और उच्च है। अतएव प्रत्येक देश-सेवक से मैं कहना चाहता हूँ कि यदि तुम्हे सचमुच सेवा से प्रेम है, सेवा की चाह है, अपनी सेवा का सुफल ससार के लिए देखना चाहते हो और जल्दी चाहते हो, तो साधु वनो, तप करो। दुनिया मे कोई काम ऐसा नही जो साधु के लिए असम्भव हो, जो तप से सिद्ध न हो सके। अपने जीवन को उच्च और पवित्र वनाना साधुता है और अगीकृत कार्यो के लिए विपत्तिया सहना तप है। इन दो वातो का सयोग होने पर दुनिया मे कौनसी वात असभव हो सकती है?

---

[३]

जीवित रहने का भी अधिकार नहीं ?

सार्वजनिक सस्था, सगठन और जीवन मे यह एक प्रश्न है कि दूसरे के मतो और विचारो को किस हद तक सहन किया जाय ? आप एक बात को सही मानते है, मै दूसरी बात को। आप कहते है, ठहरने और काम करने का समय है; मै कहता हू, लडने और आन्दोलन करने का है। एक कहता है, फला आदमी को सभापति बनाओ, दूसरा कहता है, नही फला को बनाना चाहिए। एक के मत मे यह प्रणाली अच्छी है, दूसरे के विचार से दूसरी। एक एक व्यक्ति को नेता मानता है, दूसरा दूसरे को। कोई एक सस्था पर कब्जा करना करना चाहता है, कोई वहा से हटना नही चाहता। धार्मिक झगडो को छोड दे तो सार्वजनिक जीवन मे ऐसी ही बातो पर विवाद, वैमनस्य और झगडे हुआ करते है। यदि हम हर छोटी-बडी बात पर लडते और एक-दूसरे पर हमला करते रहे तो सार्वजनिक जीवन एक घृणित वस्तु हो जाय। हमें एक ऐसी मर्यादा बाधनी ही होगी, जहा तक हम एक-दूसरे को बरदाश्त करे और उसके बाद विरोध या प्रतीकार। फिर हमे यह भी निश्चय करना होगा कि विरोध या प्रतीकार कैसा होना चाहिए ? मेरी समझ मे हमे सबमे पहले यह देखना चाहिए कि मत-भेद का आधार कोई सिद्धान्त, आदर्श या उच्च लक्ष्य है, अथवा स्वभाव, व्यवहार, द्वेष, मत्सर आदि है ? इसी प्रकार मतभेद रखनेवाले व्यक्ति का भाव शुद्ध है, नीयत साफ है, या धोखा और फरेब से काम लिया जाता है ? यदि मतभेद के मूल मे सिद्धान्त, आदर्श या लक्ष्य है और

भावना शुद्ध है, तो वहा वैमनस्य नही पैदा हो सकता। जहा शुद्ध और उच्च भावना है वहा छोटी-छोटी व्यवहार की, तफसील की, या स्वभावगत गुण-द्वेष की बातो पर झगडा और तू-तू, मैं-मै नही हो सकती। जहा दिल मे एक बात हो और बाहर दूसरी कही जाती हो, वसा विश्वास जमना कठिन होता है और झगडा हुए विना नही रहता। अब इसकी क्या पहचान कि मतभेद सिद्धान्त-मूलक है या व्यक्तिगत कारणो से, अथवा भावना शुद्ध है या अशुद्ध ? यदि सिद्धान्तगत है तो व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हानि-लाभ, उतार,चढाव, मान-अपमान को सिद्धान्त के मुकाबले मे तरजीह न देगा। सिद्धान्त की रक्षा के लिए उसे महल में रहने की आवश्यकता होगी तो वहा रहेगा, और यदि जगल मे एकाकी मारे-मारे फिरने अथवा फासी और सूली पर चढने की जरूरत होगी तो उसके लिए भी खुशी से तैयार रहेगा। वह कठिनाइयो में सदा आगे और सुख-भोग मे पीछे रहेगा। वह ऐसे समय पर अवश्य अपनेको जोखिम में डाल देगा, जब सकट और साहस का अवसर होगा, जब बुराई और बदनामी का ठीकरा सिर पर फूटनेवाला होगा। पर यदि मतभेद का कारण व्यक्तिगत महत्वाकाक्षा है, तो वह सिद्धान्त को कुचल कर अपने व्यक्तित्व को आगे बढाने के लिए चिन्तित रहेगा। पद न मिलने से अप्रसन्न होगा, मान न मिलने से सहयोग छोड देगा, सहायता न मिलने से बुराई करने लगेगा, गुणो को भूलकर दुर्गुणो की चर्चा करने लगेगा, सिद्धान्त-पालन का मजाक उडावेगा। सिद्धान्त-वादी सिद्धान्त को छोडकर लोकप्रियता या लोकनिन्दा की परवा न करेगा। वह टीका-टिप्पणी और निन्दा से चिढेगा नही, बल्कि नम्र बनकर प्रत्येक बात से शिक्षा ग्रहण करने की चेष्टा करेगा।

इसी तरह सच्चाई छिपी नही रहती। आप बोले या न बोले,

सच्चाई सदा बोलती रहती है। सच्चाई है क्या चीज ? अन्त करण और आचरण का सामञ्जस्य, एकता। सच्चाई ही एक ऐसी चीज है, जो मतभेद रहते हुए भी परस्पर आदर वढाती है। सच्चाई अपने अवगुण को अधिक ओर पहले देखती है, दूसरे के को कम और वाद मे। जहा सच्चाई है, वहा नम्रता अवश्य मिलेगी। उद्दण्डता और अभिमान, यदि सच्चाई हो भी तो, उसे मुरझा देते है। उद्दण्डता और अभिमान दूसरो पर शासन करना चाहते है, अपने अपात्र होने पर भी दूसरो को दवाना चाहते है, परन्तु सच्चाई सदा विनत रहकर, अपनेको 'मिटा कर, दूसरो को वढाना चाहती है।

यह तो हुई सिद्धान्त या आदर्शगत मत-भेद तथा सच्चाई की पहचान। अव प्रश्न यह रह जाता है कि मत-भेद किस हद तक सहन किये जायँ ? सो प्रथम तो यह मनुष्य की सहनशीलता पर अवलम्वित है। मतभेद छोटी-वडी वातो पर हो तो वह सर्वथा सहन करने योग्य है। यदि सिद्धान्त और आदर्श-सम्वन्धी है, उसके वदौलत यदि सिद्धान्त और आदर्श की जड कटती है, तो वह सहन करने योग्य नही वल्कि असहयोग करने योग्य है। असहयोग के मूल मे भी व्यक्ति के प्रति तो प्रेम और सहानुभूति ही होनी चाहिए, द्वेष और डाह के लिए उसमे जगह नही हो सकती। असहयोग के आगे की सीढी है कष्ट-सहन। यही तपस्या है। अपने सिद्धान्त और आदर्श के लिए जो व्यक्ति तपता है, निन्दा, कटूक्ति भर्त्सना, अपमान और शारीरिक यन्त्रणाये प्रसन्न रहकर सहता है, वही महान् पुरुष वनता है, वह सार्वजनिक जीवन को ऊँचा उठाता है, पवित्र वनाता है ओर आगे वढाता है।

पर एक यह भी मत प्रचलित है कि यदि तुम्हारा मत न मिलता हो तो उसकी निन्दा करो, उसके खिलाफ जहर उगलो, उसे लोक-दृष्टि

मे गिराओ ओर अन्त मे उसका काम तमाम कर दो। मेरी समझ मे यह भले आदमियो का पथ नही है। मतभेद के कारण गिराना और मारना आसुरी प्रवृत्ति है और सभ्य समाज मे उसको कदापि प्रोत्साहन नही मिल सकता। मनुष्य को स्वेच्छा से जीवित रहने का, स्वतन्त्र रहने का और सुधारने का जन्मजात अधिकार है। बुराई होने पर आप उसकी स्वतन्त्रता को मर्यादित कर सकते है, परन्तु जीवित रहने का अधिकार नही छीन सकते। आपकी तारीफ तो तब है, जब आप मुझे अपने मत का कायल कर दे, अपने मत मे मिलाले। मुझे मार डालने मे आपकी कोनसी बहादुरी है ? एक बैल भी सीग मारकर मनुष्य को मार डाल सकता है। इसलिए सच्ची वीरता किसीको अपने मत का कायल कर देने मे है, न कि उसको गिराने या मार डालने मे है। कुचलना या मार डालना नही, बल्कि मत-परिवर्तन ही सच्ची सिद्धान्तवादिता और वीरता की कसौटी है। यह मनुष्य का कितना बडा अन्याय और अत्याचार है कि वह अपने मत को इतना श्रेष्ठ अटल, निर्भ्रम और सत्य समझे कि उसके लिए दूसरे को जिन्दा रहने का भी हक न रहने दे ? यह मनुष्यता का व्यभिचार है। यह मनुष्यता को लज्जित ओर कलकित करना है। यह मनुष्य का घोर स्वार्थ और मदान्धता है। इससे समाज मे कभी न्याय और स्वतन्त्रता का विकास नही हो सकता। यह एकतन्त्रता, अत्याचार और स्वेच्छाचार का परवाना है। इसका यह अर्थ है कि तुम्हारे हाथ मे यदि गिराने और मारने की शक्ति है तो बस। तुम अपने गुणो और खूबियो पर नही जीना चाहते, अपनी पशुता के बल पर जीना चाहते हो। अपनी मनुष्यता को नही, पशुता को बढाकर जग मे पशुता की वृद्धि करना चाहते हो ! क्या तुम यह मनुष्यजाति की सेवा कर रहे हो ? क्या इसपर कुछ सोचने की जरूरत नही है ?

[४]

देश-सेवक और तनख्वाह

देश-कार्य को सुव्यवस्थित और सुसगठित रूप से सचालित करने के लिए हजारो की तादाद मे देश-सेवको की आवश्यकता रहती है। जबतक इनके गुजर का नियमित प्रबध न हो तबतक इतनी बडी कार्यक्षम सेना मिलना असभव है। फिर भी कई लोग उन देश-सेवको या सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ को, जो वेतन लेते हैं, बुरा समझते हैं, उनकी निन्दा करते है, समय-असमय उनपर टीका-टिप्पणी करते है। इसलिए हम यह भी देखले कि यह आक्षेप कहातक ठीक है।

तनख्वाह के मानी है नियमित और निश्चित रुपया अपने खर्च के लिए लेना। देशभक्त या सार्वजनिक कार्यकर्ता सिर्फ उतना ही रुपया नियमित रूप से लेता है जितना महज जीवन-निर्वाह के लिए काफी हो। ऐश-आराम और मौज-शौक के लिए एक पाई भी लेने का उसे हक नही है। कोई नियमित-रूप से ले या अनियमित-रूप से, निश्चित रकम ले या अनिश्चित, किसी सस्था से ले या व्यक्ति से, किसी देशसेवक या लोक-सेवक को मैंने फाके कर-करके काम करते हुए नही देखा है। यदि उसके साथ उसका कुटुम्ब भी है तो उसे कही-न-कही से, किसी-न-किसी तरह, गुजर-बसर के लिए रुपया लेना ही पडता है। तो जब कि तनख्वाहदार या बेतनख्वाहदार सभी लोगो को खर्च-वर्च या गुजर-बसर के लिए रुपयो की जरूरत होती है तब जो निश्चत और नियमित रूप से एक रकम लेकर उसीपर अपना गुजर चलाते है वे बुरे क्यो, और वेतन लेकर सारा समय देश और जन-सेवा मे लगाने की प्रणाली बुरी क्यो?

जो लोग वेतन न लेकर देश या जन-सेवा करते है वे या तो अपने बाप-दादो की कमाई मे मे खर्च करते है, या धनी मित्रो की सहायता पर गुजर करते है, या बीमा, अखबार, वकालत, डाक्टरी अथवा ऐसा ही कोई निजी धन्धा खोलते है और उसमे मे अलौंस लेते है, परन्तु जीवन-निर्वाह के लिए रुपया सब लेते है। यदि कोई निश्चित और नियमित रकम नही लेता हो तो मेरी राय मे यह गुण की नही बल्कि दोप की बात है। इसके अलावा व्यक्तियो की अनियमित और अनिश्चित रूप से सहायता लेने की अपेक्षा तो किसी सुयोग्य और मान्य सस्था से नियमित रकम महज अपनी मामूली जरूरियात भर के लिए लेना क्यो श्रेयस्कर और वाञ्छनीय नही है? यो तो मै ऐसे भी देशसेवको या सार्वजनिक कार्यकर्ता कहलानेवालो को जानता हूँ, जो एक ओर वेतन शब्द का तिरस्कार करते है पर जो दूसरी ओर या तो चन्दा लेकर खा जाते है, या डरा-धमकाकर लोगो से रुपया लाते है, या कर्ज लेकर फिर मुह नही बताते, या पैसा न मिलने पर अखबारो मे गाली-गलौज देते और गिराने की कोशिश करते है। पर यहा इनका विचार नही करना है, क्योकि ये तो वास्तव मे समाज के चोर है और लोकहित के नाम पर चोरी और ठगी करते फिरते है। अस्तु।

तो अब यह समझ मे नही आता कि जब कि हर देशभक्त और समाज-सेवक को अपने गुजर के लिए रुपयो की या धन की कुछ-न-कुछ आवश्यकता होती ही है तो फिर नियत रकम से अपनी गुजर करने की प्रणाली क्यो बुरी है? आप कहेगे, निजी धन्धेवाला अधिक स्वतन्त्र है। पर किस बात के लिए? अधिक खर्च कर देने के लिए और किसी भी एक काम मे न लगा रहने के लिए ही न? पर इस स्वतन्त्रता मे या अनियम मे रहकर काम करनेवाले की अपेक्षा एक नियम के अधीन रह

कर नियत और निश्चित रुपया लेने और काम करनेवाला आदमी क्या अधिक कठिनाइयो मे काम नही करता है ? उसे अधिक सयम और शक्ति मे काम नही लेना पडता है ? और क्या इसी कारण वह निन्दा का पात्र है ? फिर अपने निजी धन्धो मे अधिकाश समय देनेवालो की मुख्य शक्ति तो अपने धन्धे मे ही चली जाती है—राष्ट्र या समाज के कामो के लिए नाममात्र का अवकाश उन्हे मिलता है । इसमे उन्हे 'देश-सेवक' बनने का श्रेय भी भले ही मिल जाय, देश को उनसे पूरा लाभ नही मिलता । इसके विपरीत तनख्वाहदार लोक-सेवक को 'वेतन-भोगी' कहकर आप चाहे 'देशभक्ति' से खारिज कर दीजिए, पर उसके सारे समय और शक्ति पर देश और समाज का अधिकार होता है और उसका पूरा एव सारा लाभ देश या समाज को मिलता है । इसके सिवा जहा देशसेवको के निर्वाह का कोई प्रबन्ध नही होता है वहा का सार्वजनिक जीवन अक्सर गन्दा पाया जाता है । अतएव मेरी मन्दमति मे तो वेतन की प्रथा निन्दनीय नही, प्रोत्साहन देने योग्य है । गुजरात मे जो इतना सुदृढ सगठन हुआ है, वह वेतनभोगी देशसेवको का ही ऋणी है । आज देश मे जितनी राष्ट्रीय शिक्षा-सस्थाये चल रही है, श्री गोखले की भारत-सेवक-समिति, लालाजी की पीपल्स सोसायटी, श्रद्धानन्दजी का गुरुकुल, कर्वे का महिला-विद्यापीठ, देवराजजी का जालन्धर-कन्या-महाविद्यालय, टैगोर की विश्वभारती, मालवीयजी का हिन्दू-विश्वविद्यालय गाधीजी का चरखा-सघ, हरिजन सेवक-सघ, जमनालालजी बजाज का गाधी सेवा-सघ, ये सब अपने खर्च के लिए निश्चित और नियमित रकम अर्थात् वेतन पानेवालो के ही बल पर चल रहे है और अपने-अपने क्षेत्र मे भरसक सेवा कर रहे है । देश मे ठोस और रचनात्मक कार्य कभी हो ही नही सकता, यदि आपके पास हजारो की तादाद मे नियत और निश्चित रकम

लेकर सेवा करनेवाले लोग न हो। कांग्रेस का काम आज से कही अधिक सुव्यवस्थित और सुसगठित रूप से चलने लगे, वह कही अधिक बलशालिनी, इस सरकार से भी बहुत अधिक शक्तिशाली सस्था हो जाय, यदि उसमे 'राष्ट्र-सेवक-मडल' की योजना पर अमल होने लगे।

इन बातो और स्थितियो की उपेक्षा करके यदि हम राष्ट्रीय क्षेत्र मे वेतन-प्रथा का पैर न जमने देने का उद्योग करेगे, तो हम या तो देश-सेवा और जन-हित के नामपर चोरी और ठगी को प्रोत्साहन देने का या देश-सेवा के उत्सुक नवयुवको को निजी काम-धन्धो के द्वारा स्वार्थ-साधना मे या सरकारी नौकरियो की गुलामी मे लगाने का ही पुण्य प्राप्त करेगे।

आन्दोलन और नेता

[७]

[१]

राजसंस्था

राजनीति समाजनीति का एक अग है। मनुष्यो ने मिलकर समाज बनाया समाज ने राज्य बनाया । मनुष्यो के पारस्परिक व्यवहार-नियम को नीति कहते है । नीति शब्द का अर्थ है वे नियम जो आगे ले जाते है । जो नियम या व्यवस्था समाज को आगे ले जाती है वह समाज-नीति, जो राज्य को आगे ले जाती है वह राजनीति कहलाती है । समाज कहते है एक व्यवस्थित मानव-समूह को । यह मानव-समूह जब अपने शासन-कार्य के लिए सरकार नाम की एक अलहदा सस्था बना लेता है तब शासन-सस्था और मानव-समूह मिलकर राज्य (State) कहलाता है। अर्थात् राज्य के दो भाग है—एक तो शासन-सस्था और दूसरा शासित मानव-समाज । राज्य का अर्थ केवल सरकार यानी शासन-मडली नही है । राज्य की उत्पत्ति समाज से हुई है । समाज ने अपनी सत्ता के एक अश

ने शामन-मस्था यानी मरकार खडी की है । जब मनुप्य-ममाज व्यवस्थित होने लगा तो महज ही इन बातो की सुव्यवस्था की ओर उसका ध्यान गया—दूमरे ममाज के आक्रमणो मे अपनेको कैमे बचावे ? आपम के लडाई-झगडो का निपटारा कैमे करे ? ममाज का भरण-पोपण और उन्नति कैसे हो ? शामन-सम्था इन्ही कठिनाइयो का हल है । आरम्भ मे ममाज के लोग मिलकर इन कामो के लिए कुछ लोगो को चुन लिया करते थे—एक मुखिया या सरपच बना लेते थे और ममाज का काम चला लेते थे । दूमरो पर काम साप देने मे स्वभावत खुद निश्चित रहने लगे । इसका फल यह हुआ कि मुखिया राजा बन बेठा और समाज की मम्पत्ति मे राज-काज करने के बदले ममाज को अपने डण्डे से हाकने लगा । जब समाज जाग्रत हुआ तो उसने राजा को उखाडने की चेप्टा की ओर आज हम जगह-जगह प्रजा-मत्ता की स्थापना देख रहे ह ।

स्वतत्रता का व्यवहारिक अर्थ है राजनैतिक स्वतत्रता अर्थात् शासन-विपयक म्वतत्रता । इमकी प्राप्ति या उपयोग के माफ अर्थ दो है—एक तो मीधे राज-काज मे हाथ बँटाना, और दूसरे राजनैतिक जागृति या आन्दोलन करना । या यो कहे कि एक तो शासन-सस्था मे सम्मिलित होकर काम करना, दूसरे उसमे म्वतत्र रहकर लोक जागृति करना ओर आवश्यकता पडने पर शामक-मडली का विरोध करना । यह बात सच है कि राज-सस्था समाज का ही एक अग है ओर समाज-हित ही उसका एक-मात्र लक्ष्य है, किन्तु कई बार शासन-मस्था म्वय अपने अम्तित्व की चिन्ता मे इतनी डूब जाती है कि उमे समाज-हित का ख्याल नही रहता, तब ममाज के प्रतिनिधियो का कर्तव्य होता है कि वे ममाज के हित की ओर उसका ध्यान दिलावे और यदि शासन-मडली इतने मे न माने तो लोगो को सजग करे और उनके बल मे उममे आवश्यक सुधार या परि-

वर्तन करावे। इस प्रकार राजसंस्था के दो अंग अपने आप हो जाते हैं—एक तो शासक-वर्ग, दूसरे प्रतिनिधि-वर्ग। इनमें से ही प्राय आन्दोलनकारी लोग उत्पन्न होते हैं। प्रतिनिधियों का काम है समाज-हितकारी नियम बनाना और शासक-वर्ग का काम है उनका व्यवहार करना। वास्तव में तो इन प्रतिनिधियों में से ही शासक भी उत्पन्न होते हैं। जो प्रतिनिधि शासन की जिम्मेवारी लेते हैं वे शासक और जिन पर शासन-सुधार की जिम्मेवारी आ जाती है वे आन्दोलनकारी हो जाते हैं। कभी-कभी ये एक-दूसरे के घोर विरोधी भी बन जाते हैं, परन्तु दोनों का उद्देश एक ही होना चाहिए, समाज-हित। इसके बदले जब व्यक्तिगत स्वार्थ इनके मूल में प्रविष्ट कर जाता है तब दोनों अपने उच्च उद्देश से गिर जाते हैं और समाज के दण्ड-पात्र होते हैं।

तो स्वतंत्रता-प्रेमी के सामने सबसे पहले दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—सरकारी अधिकारी बनें या लोक-सेवक बनें? जहां सरकार सुव्यवस्थित है—लोकहित के लिए लोक-प्रतिनिधियों द्वारा संचालित होती है वहां तो सरकारी अधिकारी बनना उतने ही गौरव की बात है जितनी कि लोक-सेवक बनना, परन्तु जहां राज-संस्था ऐसे लोगों ने हथियाली हो जो अपनी स्वार्थ-साधना के लिए उसका उपयोग कर रहे हों, न लोक-हित की परवा है, न लोक-मत की पूछ, वहां सरकारी अधिकारी बनना लोक-द्रोह करना है। वहां तो लोक-सेवक बनना ही प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है। सरकारी नौकरियों के लिए—भिन्न-भिन्न उच्च पदों के लिए परीक्षायें नियत होती हैं। पहले उन्हें पास करके अपनी रुचि और योग्यता के अनुकूल काम ग्रहण करना चाहिए और उसे ईमानदारी के साथ समाज-हित का पूरा ध्यान रखते हुए, अपनेको समाज का एक तुच्छ सेवक समझते हुए करना चाहिए। एक ओर से कठिन आपदाओं का

भय ओर दूसरी ओर से अनेक प्रलोभनो की मोहिनी के रहते हुए भी अपने कर्तव्य-पालन से न चूकना चाहिए। इन दोनो विपत्तियो से सदा सावधान रहना चाहिए। द्रव्य, स्त्री और नशा ये तीन चीजे ऐसी हैं जिन्हे स्वार्थी लोग दूसरे को कर्तव्य-भ्रष्ट करने के लिए इस्तेमाल करते है। जो इनसे बचता रहेगा, वही सफल और विजयी होगा। शिक्षा और न्याय विभागो के द्वारा समाज की शारीरिक—सुख—सुविधाओ की पूर्ति होती हैं किन्तु इन दो विभागो के द्वारा उनकी मानसिक, बौद्धिक और नैतिक प्रगति की जाती है। फिर भी चुनाव तो व्यक्ति को अपनी रुचि ओर योग्यता को देखकर ही करना चाहिए। भारतवर्ष मे अभी ऐसी स्थिति नही उत्पन्न हुई है कि किसीको सरकारी पद ग्रहण करने की सिफारिश की जा सके।

लोक-सेवक के बारे मे अगले प्रकरण मे विस्तार से विचार करना ठीक होगा।

[२]

नेता और उसके गुण

लोक-सेवक के तीन विभाग किये जा सकते है—(१) नेता, (२) सयोजक और (३) कार्यकर्त्ता या स्वयसेवक। नेता का काम है—लोगो का ध्यान लक्ष्य की ओर बनाये रखना, लक्ष्य की ओर बढने के लिए आवश्यक बल और उत्साह की प्रेरणा करना, स्वय उनके आगे रहकर लक्ष्य-सिद्धि के लिए उद्योग करना, लडना और उन्हे सफलता की ओर ले जाना। सयोजक का काम है नेता के बताये कार्यक्रम के अनुसार ग्राम, जिला या प्रान्त मे सगठन करना, प्रचार करना और लोगो को एक सूत्र

मे बाधना एव लक्ष्य सिद्धि के लिए सामूहिक बल एकत्र करना। स्वय-सेवक का काम है सयोजक की हर प्रकार मे सहायता करना। नेता ही इनमे मुख्य होता है, इसलिए उसकी योग्यता का हम अच्छी तरह विचार करले। नेता मे इतने नैतिक, बौधिक, शारीरिक और व्यावहारिक गुण आवश्यक है।

नैतिक गुण—सत्यशीलता, न्यायपरायणता, प्रेममयता, साहस, निर्भयता, उत्साह, सहनशीलता, उदारता, गभीरता, स्थिर और शान्त चित्तता, आशावादिता, निःशकता, निर्व्यसनता।

बौद्धिक गुण—दूरदर्शिता, प्रसगावधान, समयसूचकता, शीघ्र निर्णयता, विवेकशीलता, आज्ञादायित्व।

शारीरिक गुण—नियमनिष्ठा, कष्टसहिष्णुता, आरोग्यता, फुर-तीलपन,

व्यवहारिक गुण—मिलनसारी, साधन-प्रचुरता, भाईचारापन, कुशलता, सभाचातुरी, हरदिल-अजीजी,

नेता अपने युग की आत्मा समझा जाता है—इसलिए न केवल अपने समाज की तमाम अच्छाइयो का प्रतिबिम्ब उसमे होना चाहिए, बल्कि उसके कष्ट और पीडा का भी वह दर्पण होना चाहिए एव उसके अभावो की आशा-ज्योति उसमे जगमगनी चाहिए। वह प्राय हर गुण मे अपने अनुयायियो मे आगे रहता है। **सत्य शीलता** उसका सबसे बडा गुण है। वह सत्य को शोधेगा, सत्य को ग्रहण करेगा, सत्य पर दृढ रहेगा, सत्य का विस्तार करेगा, सत्य के लिए जीयेगा, सत्य के लिए मरेगा। व्यवहार मे हम जिसे न्याय कहते है, वह सत्य का एक नाम है। दो आदमी लडते हुए आये, उसमे किसकी बात सच है, कौन सच्चा है और कौन झूठ बोलता है इसी निर्णय का नाम है न्याय। न्याय का नाम

है सत्य-निर्णय। जो न्यायी है उसे सत्य का अनुयायी होना ही पड़ेगा। वह नेता कैसे जन-समाज के आदर को प्राप्त कर सकता है यदि वह न्यायी और सत्य-परायण नहीं है। सत्यशीलता के द्वारा वह अपने दावे को मजबूत कर लेता है और शत्रु तथा प्रतिपक्षी तक को उसे मन में मानना ही पड़ता है। इस कारण लोकमत दिन-दिन उसके अनुकूल होता ही चला जाता है। अपने राष्ट्र और समाज की दृष्टि से सत्य किस बात में है, हित किस बात में है इसका निर्णय उतना कठिन नहीं है जितना इस बात का निर्णय कि प्रतिपक्षी, या शत्रु, या कोई तटस्थ व्यक्ति जिससे हमारा मुकाबला है, या साबका पड़ा है वह किस हद तक सत्य और न्याय से प्रेरित हो रहा है, उसके व्यवहार में कौनसी बात शुद्ध भाव से की जा रही है और कौनसी अशुद्ध भाव से। क्योंकि यदि किसी नेता ने इसकी परवा न की और उसके प्रत्येक व्यवहार को असत्य और दुर्भाव-पूर्ण ही वह मानता चला जायगा तो वह असत्य और अन्याय के पथ पर चल पड़ेगा, जिसका फल यह होगा कि एक तो उसके पक्ष में ही सत्य और न्याय पर चलनेवाले लोग उससे उदासीन हो जायँगे और दूसरे विपक्षी दल के भी उससे सहानुभूति रखनेवाले लोग विरक्त हो जायँगे। स्वयं शत्रु भी जो मन में उसकी सच्चाई को मान रहा होगा और इसलिए उसे आदर की दृष्टि से देख रहा होगा, उसके दिल से दूर हट जायगा। जो तटस्थ होंगे उनकी सहानुभूति शत्रु की ओर होने लगेगी। इस प्रकार क्रम-क्रम से उसका बल निर्बल होता जायगा और फिर केवल पशुबल ही भले उसका साथ दे सके। सो नेता को सबसे अधिक सावधानी इस बात की रखनी चाहिए कि विपक्षी के प्रति अन्याय न हो। परन्तु यदि इतनी उदारता से काम लिया जाय तो संभव है, शत्रु हमारी सज्जनता से लाभ उठाकर हमको चमका देता रहे—हम

तो रहे अपनी सज्जनता मे और वह दिन-दिन प्रबल होता रहे। सो सज्जनता का अर्थ, अन्धता नहीं है। सत्य और न्याय अन्धा नही होता। हा उसके पास पक्षपात नही होता। यही उसकी विशेषता और सबसे बडा गुण है। इसीके कारण सबके हृदय पर इनका राज्य है। और इस आशका से बचने के लिए सरल उपाय यह है कि आप प्रत्येक मनुष्य के व्यवहार को अच्छी और बुरी दोनो दृष्टियो से देखने की आदत डाल ले। भले ही पहले आप उसके व्यवहार को बुरे भाव मे ग्रहण कर ले। यह सोचिए कि इस बुरे उद्वेग का मुझ पर बुरे से बुरा क्या परिणाम हो सकता है? आवश्यकता पडने पर यहा तक कल्पना कर लीजिए कि इससे आप और आपका सारा काम चौपट हो जायगा। अब इस दुष्परिणाम के लिए अपने मन को, अपने साथियो को तैयार कर रखिए। यह भी सोच लीजिए कि यदि हार ही हो गई, यदि असफलता ही मिली, यदि अन्त तक दुख और क्लेश मे ही जीवन बीता, तो परवा नही—दुनिया मे हमेशा ही सबको सफलता और विजय नहीं मिला करती। इससे दो लाभ होगे—एक तो आप सतर्क हो जायेगे और दूसरे विफलता मिलने पर हताश न होगे। अब यह सोचिए कि इससे बचने का क्या उपाय है? कितनी तैयारी की जरूरत है? कहा-कहा मजबूती रखना जरूरी है? कहा कैसी पेशबन्दी करनी चाहिए? जैसी जरूरत दीखे वैसा प्रबन्ध कर लीजिए।

इसके बाद यह विचार कीजिए कि ऐसे दुर्भाव की कल्पना करके हम उसके साथ अन्याय तो नहीं कर रहे है? तब यह कल्पना कीजिए कि उसने यह शुभ भाव से किया होगा। अब अन्दाज लगाइए कि क्या शुभ भाव हो सकता है? शत्रु, उदासीन, मित्र, की स्थिति का विचार करके आप भिन्न-भिन्न निर्णयो पर पहुँचेगे। यदि व्यवहार शत्रु का है तो

शुभ भाव की आशा कम रखिए, यदि तटस्थ पुरुष का है तो उससे अधिक और मित्र का हो तो उससे भी अधिक रखनी चाहिए। हर दशा में, बुरे परिणाम की पूरी तैयारी करके, शुभ भाव की ओर झुकता हुआ निर्णय करना अच्छा है। यह व्यवहार परोक्ष मे हुआ है तो बिलकुल शुद्ध निर्णय कठिन है, इसलिए संशय का लाभ दूसरे को देना सज्जनता और वीरता दोनो है। हा, विपरीत परिणाम की अवस्था मे अपनी तैयारी पूरी रखनी चाहिए—इसमे गफलत न रहे। ऐसा करने मे आपकी सत्यशीलता और न्याय-परायणता को किसी प्रकार आघात न पहुँचेगा—इतना ही नही, बल्कि उनकी वृद्धि होगी और वृद्धि के साथ ही साथ नेता को उनका वर्धमान लाभ भी मिलेगा।

नेता का हृदय **प्रेम-परिपूर्ण** होने की आवश्यकता इसलिए है कि वह मनुष्य है। मनुष्य प्रेम का पुतला है। वह नेता है इसलिए उसमे प्रेम भी उतना ही अधिक होना चाहिए। प्रेम के जादू से ही अनुयायी उसकी ओर खिचते है—बरबस खिचते चले आते है। सत्य अन्त करण का बल है तो प्रेम हृदय का बल है। सत्य और न्याय हमे कायल कर देता है कि हम इसका साथ दे। परन्तु प्रेम हमे दौडाकर उसके पास ले जाता है और खुशी-खुशी बलिवेदी पर स्वाहा करवा देता है। प्रेम के ही कारण नेता समाज के दु ख को अनुभव करता है और उसे मिटाने के लिए व्याकुल रहता है। नेता का प्रेम व्यक्ति, कुटुम्ब मे सीमित नही होता। राष्ट्र और समस्त विश्व मे व्याप्त होता है। इस कारण उसके प्रेम का प्रभाव तटस्थ और शत्रु पर भी पडे बिना नही रह सकता। वास्तव मे उसकी शत्रुता किसी से नही होती। वह तो बहुतो के दु खो को दूर करने के लिए, बहुतो को सुधारने के लिए, कुछ लोगो को कष्ट पहुँचने देता है—उसके वश मे हो तो वह इतना भी कष्ट न पहुँचने दे। परन्तु एक तो

खुद ही वह अपूर्ण है और दूसरे सारी प्रकृति पर उसकी सत्ता नही चलती है। बिना इस प्रेम के नेता एक मशीन का पुतला है, जिसमे किसीको जीवन, उत्साह और स्फूर्ति नही मिलती।

यदि नेता मे **साहस और निर्भयता** न हो तो वह खतरे के मौके पर पीछे हट जायगा और बलवान् शत्रु हो तो दब जायगा। खतरे के मौके पर नेता को सदा आगे रहने का साहस होना चाहिए। जनता को भी उसे विकट परिस्थितियो मे साहस दिखाने और प्राण तथा शरीर का जहा भय हो वहा बेखटके आगे कदम बढाने के लिए प्रेरित करना चाहिए। उसे सदा यह ध्यान मे रखकर चलना चाहिए कि मै कोई काम किसीसे दबकर, किसी खतरे से डरकर तो नही कर रहा हूँ और यदि कही ऐसा प्रतीत हो तो फौरन् अपने को सँभालना चाहिए।

उत्साह नेता का जीवन है। उसका शरीर और मन ऐसा होना चाहिए जो थकावट को न जानता हो। उत्साह आत्मविश्वास से उत्पन्न होता है। आत्मविश्वास अपने कार्य की सत्यता से आता है। जब उत्साह-भग होने का अवसर आवे तो उसे सोचना चाहिए कि मेरा कार्य गलत तो नही है। यदि मूलत कार्य सही है तो फिर अनुत्साह या तो उसकी मानसिक दुर्बलता है या किसी शारीरिक रोग का परिणाम है। उसे चिन्ता रखकर इनका उपाय करना चाहिए। उत्साह उस गुण का नाम है जो मनुष्य को सदा सक्रिय और तेज-तर्रार बनाये रखता है। वह जिसकी ओर देखता है उसमे जीवन आने लगता है। वह सोते हुओ को जगा देता है, जागे हुओ को खडा कर देता है और खडे हुओ को दौडा देता है। उत्साह के ही कारण नेता उम्र मे बूढा होने पर भी जवान मालूम होता है।

दुर्दमनीयता वह गुण है जो बाधाओ और कठिनाइयो को चीरकर अपना रास्ता निकाल लेता है। दुर्दमनीय यह नही कहता कि क्या करूँ,

परिस्थिति ही ऐसी थी। उचित और सत्य बात पर वह परमेश्वर से भी दबना न चाहेगा। परन्तु यदि वह गलत बात पर अड जायगा तो उसकी अदम्यता अधिक दिनो तक न चलेगी। आवेश, आवेग, क्रोध, उन्माद या मिथ्याभिमान ठढा होने पर अपने आप उसका दिल बैठने लगेगा। उसका तेज कम पडने लगेगा।

प्रतिज्ञा-पालन के बिना वह अपने साथियो और अनुयायियो का विश्वास-पात्र न रहेगा और इस विश्वास-पात्रता के बिना उसका नेतापन एक दिन नही टिक सकता। प्रतिज्ञा करने के पहले वह सौ दफा विचार करले, पर कर चुकने पर उसे हर तरह निभावे। यदि कोई ऐसा ही विशेष कारण आ पडा हो तो वह इतना सबल होना चाहिए कि साथियो और अनुयायियो को भी जँच सके। यदि कोई व्यक्तिगत कष्ट या असुविधा उसके मूल मे हो तो यह बहुत कमजोर कारण समझा जायगा।

निश्चलता, दृढ़ता और **धीरज** कठिनाइयो, सकटो के समय में महौषधि का काम देते है। तूफान के समय मे लगर जो सेवा जहाज और यात्रियो की करता है वही ये गुण विपत्ति और खतरे के समय करते है। चचल मनुष्य यो भी विश्वास और आदर-पात्र नही हो सकता। एक काम को पकड लिया तो फिर उसे जबरदस्त कारण हुए विना न छोडने का नाम है दृढता। काम की शुरूआत करने के पहले खूब सोच लो, शुरू करने के बाद उसी अवस्था मे उसे बदलो या छोडो जब यह विश्वास हो जाय कि अरे यह तो अच्छाई के भरोसे बुराई कर बैठे, पुण्य के खयाल से पाप कार्य मे लिप्त हो गये। कठिनाइयो मे न घबराने का नाम धीरज है। फल जल्दी न निकलता हो तो शान्ति रखने और ठहरने का नाम धीरज है। कठिनाइया तो तबतक आती ही रहेगी जबतक कुछ लोग तुम्हारे विरोधी होगे फिर प्राकृतिक विघ्न भी

तो आते रहते हैं । दोनो दशाओ मे घबराने की क्या जरूरत है ? यदि विघ्न मनुष्य-कृत है तो उनका मूल और उपाय कठिन नही है । यदि प्राकृतिक हैं और हमारे बस के बाहर है तो फिर घबराने से क्या होगा ? बस की बात हो तो उसका उपाय करो—घबराकर बैठ जाना तो पशु से भी नीचे गिर जाना है । फल तो किसी कार्य का समय पा कर ही निकलता है । जितनी ही हमारी लगन तेज होगी, जितने ही अधिक हमारे साथी और सहायक होगे, जितने ही कम हमारे विरोधी होगे, जितनी ही अधिक हमारी तपस्या होगी, जितने ही अधिक अनुकूल अन्य उपकरण होगे, उतनी ही जल्दी सफलता मिलेगी । सो यदि फल वाछित समय तक न निकलता हो तो पूर्वोक्त बातो मे से ही एक या अधिक बातो की कमी उसका कारण होगी । वह हमे शोधना चाहिए और यह विश्वास रखना चाहिए कि कार्य का फल अवश्य मिलता है ।

सहनशीलता, विपक्षियो को नि शस्त्र करने मे और अपने बडप्पन का प्रमाण जगत् को देने के लिए बहुत आवश्यक है । जब कोई हम पर वार करता है, या हमे कष्ट पहुँचाता है, तब हम यदि बदले मे उस पर वार नही करते है, या उसे कष्ट नही पहुँचाते हैं, उस कष्ट या वार को शान्ति से पी जाते है तो उसे सहनशीलता कहते हैं । परन्तु यदि हमने डरकर या दबकर ऐसा किया तो वह सहनशीलता नही, दब्बूपन है । सहनशीलता तभी कही जायगी जब उसे कष्ट पहुँचाने या प्रहार करने का सामर्थ्य या साधन हमारे पास हो और फिर हम सहन कर जायँ । किसीके अपराध को सहन करने के बाद भूल जाना क्षमा कहलाती है और जब हम उसके साथ पूर्ववत् ही सज्जनता का व्यवहार करते हैं तब वह **उदारता** हो जाती है । सहनशीलता और उदारता की जितनी आवश्यकता अपने लोगो के लिए है उससे अधिक तटस्थो या विपक्षियो

के लिए है। क्योकि अपनो की ओर तो इन गुणो का प्रवाह सहज ही होता है, परन्तु जब दूसरो की ओर हो तब उनकी विशेषता और मूल्य बढ जाता है। लोग जितना ही अधिक यह अनुभव करेगे कि तुम अपने प्रति पक्षी से अधिक न्यायी, अधिक शान्तिमय अधिक नीतिमान्, अधिक सभ्य, अधिक सज्जन हो, उतना ही तुम्हारा पक्ष अधिक प्रबल होगा, उतनी ही तुम्हारी अधिक सहायता वे करेगे और यह सहनशीलता और उदारता के ही बल पर हो सकता है।

गम्भीरता एव स्थिर और शान्त चित्तता मे नेता का ठोसपन और मानसिक समतोलता सूचित होती है। गम्भीरता का मतलब कपटाचरण नही है, बल्कि किसीकी बात को पेट मे रखने, उसके सब पहलुओ पर धीरज के साथ विचार करने की शक्ति है। यदि आपके साथियो और अनुयायियो को यह शका रहती है कि आपके मन मे बात समाती नहीं है, आप चटपट ही बिना आगा-पीछा सोचे और गहरा विचार किये ही कुछ कह डालते और कर डालते है तो आपके निर्णयो पर उनकी श्रद्धा नही बैठेगी और आपकी बातो को वे शका की दृष्टि से देखते और दुविधा मे पडते रहेगे।

आशावादिता और निःशंकता अन्त करण की स्वच्छता का चिन्ह है। जिसका हृदय मलिन नही है, उसे अपने कार्य की सफलता पर अवश्य ही श्रद्धा रहेगी और दूसरो की ओर से उसे सहसा खटका न रहेगा। जिसका चित्त शुद्ध है, वह दूसरो की सत्प्रवृत्तियो को ही अधिक देखता है और इसलिए आशावान् तथा नि शक रहता है। जिसे दूसरो की दुष्प्रवृत्तिया अधिक दिखाई देती है वह निराशावादी क्यो न होगा? परन्तु दूसरे के दोषो को देखनेवाला नायक नही बन सकता। जो खुद ही आशा-निराशा से पद-पद पर चलित होता रहता है उससे दूसरे आशा का सन्देश कैसे पा सकते है?

व्यसनो मे फँसना इन्द्रियो के अधीन होना है । जो इन्द्रियो का गुलाम है, समझ लीजिए, उसे दूसरो से अपने साथियो या अनुयायियो से एव विरोधियो से भी कही न कही अनुचित रूप से दब जाना पडेगा और विरोधी तो उसके इस रोव से जरूर बहुत फायदा उठा सकता है एव उसे पछाड सकता है।

ये तो हुए नेता के आवश्यक नैतिक गुण। बौद्धिक गुणो मे **दूरदर्शिता** इसलिए आवश्यक है कि वह अपने साथियो और अनुयायियो को दूर के खतरो से बचाता और सावधान करता रहे । **प्रसंगावधान** इसलिए उपयोगी है कि कठिन समय पर, विषम परिस्थिति मे, ठीक निर्णय कर सके। **शीघ्रनिर्णयता** के अभाव मे 'समय निकल जाने पर' पछताना पडता है। जो निर्णय करने मे मन्द तथा आलसी है उसका प्रभाव अपने तेज-तर्रार सैनिको पर नही पड सकता और उसे खुद भी सदा आनन्द और उत्साह की प्रेरणायें नही हुआ करेगी। बल्कि यो कहना चाहिए कि हृदय के सर्वदा सजीव और जाग्रत आनन्द तथा उत्साह से ही शीघ्र निर्णय-शक्ति मनुष्य मे आती है। जो सदा प्रसन्न और जागरूक रहता है उसकी बुद्धि खाडे की धार की तरह दोनो तरफ के तर्कों और विचारो को काटती हुई खट् से निर्णय कर देती है। **विवेक शीलता** के मानी हैं सदा सार और असार का, लाभ और हानि का, कर्तव्य और अकर्तव्य का औचित्य और अनौचित्य विचार करते रहना, अपनी मर्यादाओ एव देश, काल, पात्र का विचार रखना। जो इतना विवेक और विचारशील नही है, वह पद-पद पर सकटो, निराशाओ और असफलताओ से घिरा रहता है। शीघ्र निर्णय तो हो पर हो वह विवेक पूर्वक । विवेक की मात्रा जितनी अधिक होगी, निर्णय भी उतना ही शीघ्र और शुद्ध होगा। **आज्ञादायित्व** के विना तो नेता का काम एक मिनिट नही चल सकता। उसे दूसरो से काम

कराना पडता है और सो भी बहुतांश मे आज्ञा देकर ही। इसमे वही सफल हो सकता है जो आज्ञा-पालन के महत्व को जानता हो, जो स्वय स्वेच्छया दूसरो की आज्ञा मे रह चुका हो। यदि हमने कोई आज्ञा दी और पालन करनेवाले के सिर पर वह एक बोझ बनकर बैठ गई तो उसमे न लाभ है न लुत्फ। नेता की आज्ञा, और अनुयायी की इच्छा, दोनो घुल-मिल जानी चाहिए। अनुयायी की भाषा मे वह आज्ञा भले ही हो, नेता के स्वभाव मे वह प्रेम का सन्देश हो जाना चाहिए। अनुयायी की स्थिति, शक्ति, योग्यता का सतत विचार करते रहने मे ही ऐसी मानसिक स्निग्धता आ जा जाती है कि नेता का इगित, तृषित अनुयायी के लिए पानी की बूद हो जाती है। ऐसे स्नेह-मय सम्बन्ध के बिना आज्ञा-दायित्व 'फौजी कानून' का दूसरा नाम हो जाता है और केवल पेट-पालू ही, यन्त्र की तरह, उसका किसी तरह पालन कर देते है। नेतृत्व की सफलता के लिए यह स्थिति बिल्कुल हानिकर है।

शारीरिक और व्यावहारिक गुणो के लाभ स्पष्ट है। ये बौद्धिक और नैतिक गुणो से उत्पन्न होने या बननेवाली प्रवृत्तिया अथवा आचार है। **नियमनिष्ठा** सत्यशीलता का एक उप-गुण है और सुव्यवस्थित रहने और रखने के लिए बहुत उपयोगी है। प्रकृति मे नियम और व्यवस्था है। नियमित जीवन से सुव्यवस्थितता आती है। बाहरी अव्यवस्था जरूर ही किसी अन्दरी बिगाड की सूचक है। ऐसे लोग भी पाये जाते है जो अन्दर से बिल्कुल अच्छे किन्तु बाहरी बातो मे उदासीन होते है। लेकिन उनमे और अनियमित, या अव्यस्थित आदमी मे भेद होता है। उनकी उदासीनता बाह्य बातो से विरक्ति का फल है। वह उनके जीवन मे हर जगह दिखाई देगी। परन्तु अव्यवस्थितता और अनियमितता मानसिक दुर्बलता का चिन्ह है और दोष है। **कष्ट सहिष्णुता** साहस का परिणाम है।

जिसके शरीर को कष्ट उठाने का अभ्यास नही है वह साहस से जी चुराने लगेगा और अन्त को कायर बनजायगा । **आरोग्यता-फुरतीला-पन** नियम-पूर्ण जीवन से आता है और शरीर को कार्यक्षम बनाये रखने के लिए अनिवार्य है । बीमार और सुस्त नेता अपने साथियो और अनुयायो के सिर पर एक बोझ हो जाता है । **मिलनसारी** और **हरदिल अजीजी** प्रेममय जीवन और सहनशीलता से बननेवाला स्वभाव है । जिसने अपने हृदय को मधुर बना लिया है, उसकी तमाम कटुता, तीखापन और मलिनता निकाल दी है वह मिलनसार और जिसने दूसरो के लिए अपनी घिसाई और पिसाई को जीवन का धर्म बना लिया है वह हरदिलअजीज क्यो न होगा ? इनके बिना दूसरो के हृदय को जीतने का अवसर नेता को नही मिल सकता । **भाईचारापन** मिलनसारी और कौटुम्बिकता का दूसरा नाम है । भ्रातृभाव मे समान और स्नेहपूर्ण व्यवहार तथा कौटुम्बिकता में समान-स्वार्थ की भावना है । यह नेता की विशाल हृदयता का सूचक है । इस भावना के कारण नेता किसी-को अपना शत्रु नही समझ सकता और वह अजेय हो जाता है । **कुशलता** सत्य और अहिसा के सम्मिश्रण से पैदा होती है । तेज के साथ जब हृदय की मिठास मिलती है तो जीवन मे कुशलता अपने आप आने लगती है । कोरा सत्य-व्यवहार उद्दण्डता मे परिणत हो सकता है, अहिंसा की मिठास उसको मर्यादा मे रखती और रुचिकर बना देती है । प्रसग को देखकर बरतने, निश्चित प्रभाव डालने और इच्छित परिणाम निकालने के यत्न का नाम कौशल है । यह चित्त की समता से प्राप्त होता है । **सभाचातुरी** कुशलता का ही एक अग है । जिसे समाज के शिष्टाचारो का ज्ञान नही है, जिसे मानसिक जगत् के व्यापारो से परिचय नही है, वह सभा-चतुर नही हो सकता । और जिसे समाज

के भिन्न-भिन्न मनोवृत्तियो, रुचियो और विचारो के लोगो से काम लेना है, सामूहिक रूप मे काम करना ओर कराना है, उसमे सभाचातुरी का गुण बहुत आवश्यक है ।

[३]

नेता के साधन

संयोजक और कार्यकर्ता या स्वय सेवक तो नेता के साथी हुए, उसके गुण उसकी मूल सम्पत्ति हुई, उसका व्यावहारिक ज्ञान, धन और ससाचार-पत्र उसकी सफलता के जबरदस्त साधन है । जनता को *ज्ञान-दान करने के लिए उसे विद्वत्ता की और उत्थान-सामग्री* देने के लिए भावुकता की आवश्यकता है । उसमे मौलिकता भी होनी चाहिए । हम मानते है—'सत्य ज्ञानमनन्तम्'—अर्थात् यह जगत् सत्यमय है, ज्ञानमय है, ब्रह्ममय है । ऐसी दशा मे इस ज्ञान से बढकर मौलिकता और क्या होगी ? पर सत्य, ज्ञान, ब्रह्म, या आत्मा के समस्त स्वरूपो को, अगो को, सम्पूर्ण प्रकाश को समय की आवश्यकता के अनुसार समाज के सामने रखने मे अवश्य मौलिकता आती है । महात्मा गाधी का ही उदाहरण लीजिए । अहिसा का सिद्धान्त आर्य-जीवन मे कोई नई बात नही है, किन्तु उन्होने उसे सर्वसाधारण राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन मे प्रविष्ट करके एक नई ज्योति ससार को दी है ।

पर यह मौलिकता केवल अध्ययन से नही आ सकती । मनन उसका मुख्य आधार है । अध्ययन मनन के लिए किया जाता है । अध्ययन से ज्ञान मे व्यापकता आती है—किन्तु मनन ज्ञान मे व्यक्तित्व लाता है । अध्ययन और मनन की पूर्णता की कसौटी यह है कि उस विषय मे हम

विना किसीसे पूछे स्वय निश्चित राय और निर्णय दे सके और विना किसी ग्रन्थ या गुरु के वचनो के प्रमाण के स्वत अपने वल पर अपने मत को प्रतिपादित और सिद्ध कर सके। इतनी पूर्णता के वाद ही ज्ञान मे नवीनता या मौलिकता आ सकती है।

अपनी मानसिक अवस्था से जगत् की मानसिक अवस्था की सतत तुलना करने रहने से ही व्यावहारिक ज्ञान आता है। अपना और जगत् का—समाज का—समन्वय ही व्यावहारिकता है। नेता को इतनी वातो का व्यावहारिक ज्ञान अवश्य होना चाहिए—

(१) समाज को कहा ले जाना है ?

(२) समाज की वर्तमान दशा क्या है ?

(३) कौन-कोन-से पुरुष या सस्था समाज को प्रभावित कर रहे हैं ?

(४) उनसे मेरा सम्वन्ध, या उनके प्रति मेरा रुख क्या होना चाहिए ?

(५) कौन लोग मेरे विचार या कार्यक्रम के विरुद्ध है ?

(६) उन्हे मैं अपने अनुकूल किस तरह वना सकता हूँ ?

(७) जो अनुकूल है उनसे किस-किस प्रकार से सहायता लीजाय ?

(८) सर्व-साधारण शिक्षा और सस्कार की किस सतह पर है ?

(९) समाज के सूत्र जिनके हाथो मे है उनका समाज पर कितना और कैसा प्रभाव है।

(१०) मेरे प्रति, या मेरे विचारो के प्रति उनके क्या भाव है ?

(११) किस हद तक उनका विरोध करना होगा ?

(१२) विरोध मे जनता कहा तक सहायक होगी ?

(१३) जनता को विरोध के लिए कैसे तैयार किया जाय ?

(१४) वे कौन-सी बाते है जिनसे जनता को कष्ट है और जिनके कारण जनता उनसे दुखी या अप्रसन्न है ?

(१५) विरोधी प्रबल हुए, तो सकट-काल मे क्या-क्या करना उचित है ?

(१६) उस समय जनता क्या करे ?

(१७) दूसरे समाज या देश के कौन लोग या सस्थाये मेरे उद्देश से सहानुभूति रखती है ?

(१८) उनका मेरे समाज या राज्य से क्या और कैसा सम्बन्ध है ?

(१९) मेरे उद्देश या कार्यक्रम के पोषक पूर्ववर्ती ग्रन्थ, व्यक्ति कौन-कौन है और युक्तिया क्या-क्या है ?

(२०) समाज मे प्रचलित धर्म, सस्कृति, परपरा और रूढिया क्या-क्या है, लोगो की मनोभावनाये कैसी है, वे भावक है, ठोस है, बहादुर है, पोच है, अक्खड है,—उनके त्योहार और मान्यताये क्या-क्या है ?

(२१) उनके दोष और दुर्व्यसन क्या-क्या है ? आदि, आदि ।

धन भी नेता का एक साधन जरूर है, पर मानसिक और नैतिक साधन-सम्पत्ति तथा विश्वासी साथियो के मुकाबले मे यह बहुत गौण है । फिर भी उसके ऐसे धनी मित्र जरूर हो जो समय-समय पर उसके अर्थभार को घटाते रहे । किन्तु उसके धन का असली जरिया तो जनता का हृदय ही होना चाहिए । अधिकारियो मे भी उससे मित्रता और सहानुभूति रखनेवाले कई लोग होने चाहिए । ये उसके चरित्र की उच्चता से ही मिल सकते है । चरित्र मे मुख्यत तीन बाते आती है (१) बात की सचाई, (२) गाठ की (धनकी) सचाई और (३) लगोट की सचाई ।

उद्देश तो नेता का महान् और जन-हितकारी होता ही है । स्वभाव भी उसका मधुर और प्रकृति मिलनसार होनी चाहिए । सच्चाई, अच्छाई

और गुण के प्रति प्रीति और अत्याचार, अन्याय, झुठाई, बुराई के प्रति मन मे तिरस्कार ओर प्रतिकार का भाव होना चाहिए। पहला गुण उसे भले आदमियो का मित्र बनावेगा और दूसरा बुरो को मर्यादित तथा हतबल। सकट का अवसर हो तो पहले सबसे आगे होने की और यश तथा पुरस्कार का प्रसग हो तो पीछे रहने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। आत्म-विज्ञापन उतना ही होने दे जितना कि उद्देश सिद्धि के लिए आवश्यक है। सदा अपने हृदय पर चौकी बिठा रक्खे कि अपनी निजी प्रशसा या बडाई का भाव तो आत्म-विज्ञापन की प्रेरणा नही कर रहा है।

[४]

पत्र-व्यवसाय

समाचार-पत्र यो तो साहित्य-जीवन का एक अग है। साहित्य का जीवन मे वही स्थान ओर काम है जो मनुष्य-शरीर मे दिल ओर दिमाग का होता है। साहित्य न केवल ज्ञान-सामग्री ही समाज को देता है, बल्कि हृदय-बल भी देता है। मनुष्य के मन मे एक बात पैदा होती है वह उसे लिखकर या कहकर प्रकट करता है। उसका भाव या विचार अक्षर-बद्ध कर लिया जाता है, यही साहित्य है। ससार मे जो-कुछ वाक्मय=वाङ्मय—है वह सब साहित्य है। इसमे आध्यात्मिक ज्ञान देनेवाले वेद, दर्शन, उपनिषद् भी है, भौतिक और लौकिक ज्ञान देनेवाले विज्ञान तथा आचार-शास्त्र है और हृदय को उत्साहित, आनदित रमणीय एव बलिष्ठ बनानेवाले काव्य-नाटकादि भी है। इस तरह सार्वजनिक जीवन के बहुत बडे आधार सामयिक पत्र-पत्रिकाये भी साहित्य के ही अन्तर्गत है। साहित्य के बिना जीवन यदि असभव नही तो सस्कारहीन

और निर्जीव होकर रहेगा । यदि साहित्य न हो तो मानव-शिक्षा और सुधार कठिन होजाय । साहित्य जीवन का केवल पथ-प्रदर्शक और उत्साही साथी ही नही, वल्कि उसकी आखे भी है । साहित्य समाज का प्रतिबिव भी होता है । जो कुछ हमारे जीवन और समाज मे होता है उसे हम साहित्य के द्वारा ही देख सकते है । प्राचीन जीवन को हम इतिहास-साहित्य के द्वारा देखते और लाभ उठाते है एव वर्तमान जीवन को सामयिक पत्रो के द्वारा बनाते है ।

इस कारण पत्र-व्यवसाय भी नेता के कार्य का एक बृहत् अग हो गया है । आधुनिक जगत् मे समाचार-पत्र एक महती शक्ति है । वह जन समुदाय की बलवती वाणी है । अपने विचारो, भावो को जन-समुदाय तक पहुँचाने के वाहन है । लोकमत को जाग्रत करने के साधन है । जन-शक्ति के प्रतिकार-अस्त्र है । इनका उपयोग, प्रयोग या व्यवहार करना साधारण बात नही है । जो चीज जितनी ही प्रभावशालिनी होगी उसका उपयोग उतना ही जिम्मेवारी और सोच-समझ के साथ करना होगा । यदि किसी बात का असर सैकडो लोगो पर पडनेवाला हो तो उसका उपयोग करने के पहले पत्रकार को बीस दफा उस अक्षर पर विचार करना होगा । आजकल पत्र-व्यवसाय बहुत मामूली धन्धा बन गया है । जिसे और कोई काम न मिला, उसने झट एक अखबार निकाल लिया—ऐसी कुछ दशा हो रही है । या जरा चटपटा लिखने की कला सध गई, किसीकी धूल उडाने की जी मे आ गई, किसीसे झगडा हुआ और विरोध करने को तबीयत चाही और अखबार निकाल दिया । ऐसी हलकी हालत असल मे पत्र-व्यवसाय की न होनी चाहिए । यह स्थिति समाज की समझदारी के प्रति कोई ऊँचा खयाल नही बनने दे सकती । वास्तव मे पत्र-व्यवसाय उन्ही लोगो के हाथो मे होना चाहिए जो बहुत, दूरदर्शी,

प्रभावशाली, अनुभवी, विश्वासनीय, विचारक, आदर्श चरित और विवेक शील हो ।

पत्र-व्यवसाय मे सपादक मुख्य है । यह काम या तो नेता स्वय करता है, या उसका कोई विश्वस्त साथी । पत्र-व्यवसाय दो भागो मे बँट जाता है एक तो दैनिक और सप्ताहिक पत्र दूसरे मासिक और त्रैमासिक पत्र—या यो कहे कि एक तो समाचार-पत्र और दूसरे विचार-पत्र । दोनो के सपादक भिन्न-भिन्न श्रेणी के होते है । पहले प्रकार का सपादक प्रधानत आन्दोलनकारी होता है और दूसरे प्रकार का विचार-प्रेरक । सामाजिक पत्रकार समस्याओ को सुलझाता है, दूरवर्ती परिणाम निकालनेवाली घटनाओ की विवेचना करता है, विचार-जगत् मे काम करता है, तहा समाचार-पत्रकार प्रत्यक्ष या कार्य-जगत् मे काम करता है, घटनाओ का सग्रह करता है और उन्हे अपने प्रभाव के साथ जनता तक पहुँचाता है । समाचार-पत्रकार जो सामग्री उपस्थित करता है उसके दूरवर्ती परिणामो और तत्वो की छान-बीन सामयिक पत्रकार करता है । या यो कहे कि सामयिक पत्रकार जिन बीजो को विचार-जगत् मे बोता है उन्हे समाचार-पत्रकार कार्य-जगत् मे पल्लवित, पुष्पित और फुल्लित करता है । समाचार-पत्र की दृष्टि आज पर रहती है और सामयिक पत्र की कल पर । एक योद्धा है और दूसरा विचारक । एक क्षत्रिय है दूसरा ब्राह्मण । एक मे शक्ति है, दूसरे मे शान्ति । चूकि दोनो के क्षेत्र और कर्तव्य भिन्न है इसलिए दोनो की योजना भी भिन्न-भिन्न होनी चाहिए । एक कर्म-प्रधान और दूसरा विचार-प्रधान होना चाहिए । दोनो दशाओ मे सम्पादक उच्च कोटि का होना चाहिए । क्योकि हजारो के जीवन के सुख-दु ख की जोखिम उसके हाथ मे है । लेखक के गुणो के साथ-साथ सपादक मे प्रचारक के गुण भी होने चाहिए । उसमे ऊँचे दर्जे के मानसिक

नैतिक, और बौद्धिक गुण होने चाहिएँ। नेता मे और सपादक मे इतना ही अन्तर है कि नेता कार्यों मे प्रत्यक्ष पडकर जनता को अपने साथ ले जाता है और संपादक केवल पत्र-द्वारा उन्हे प्रेरित और जाग्रत करता है। आजकल की आवश्यकताये ऐसी है कि नेता प्राय सपादक होता है। जिसके पास पत्र नही वह सफल नेता नही हो सकता। इसका यह अर्थ नही है कि सभी सपादको मे नेता की योग्यता होती है। परन्तु नेता में सम्पादक की योग्यता अवश्य होनी चाहिए।

सपादक के पास एक अच्छा पुस्तकालय और एक अच्छा विद्वानो ओर प्रभावशाली लोगो का मित्र-मण्डल होना चाहिए। समाचार लाने-वाले स्थानिक तथा प्रान्तीय कई सवाददाता होने चाहिएँ। ये उसकी आखे है। इसलिए ये वहुत जँचे हुए आदमी होने चाहिएँ। प्रभावशाली सपादक के पास अपना 'निजी प्रेस होना बहुत आवश्यक है। कम से कम एक साथी ऐसा जरूर हो जिसके भरोसे वह वाहर जा-आ सके। एक ऐसा विश्वसनीय साथी भी हो जो प्रबध-विभाग की ओर से सपादक को निश्चिन्त रखता रहे।

लेखन-शैली स्पष्ट, ओजस्विनी और तीर की तरह सीधी दिल की सतह तक पहुँचनेवाली हो। कैसा भी क्षोभ और घवराहट का समय हो उसे शान्त और एकाग्र चित्त से लेख लिखने का अभ्यास होना चाहिए। लेख और टिप्पणी के विषयो को महत्व के अनुसार छाटने की त्वरित-शक्ति उसमे होनी चाहिए। थोडे मे उनकी मुख्य-मुख्य वाते अपने साथियो को समझा देने की योग्यता होनी चाहिए। शीघ्र-निर्णय का गुण सपादक मे होना आवश्यक है। एक सरसरी निगाह मे सब कुछ देख लेने का अभ्यास होना चाहिए। सपादक अपने दफ्तर मे आख खोलकर आता है और अपने कमरे में एक एजिन की तरह बैठता है।

दफ्तर मे दो आदमियो से उसका काम विशेप पडता है—व्यवस्थापक और उपसपादक। इन दोनो के सुयोग्य होने से सपादक का बोझ वहुत कम हो जाता है। वडे सौभाग्य से ही ये दो व्यक्ति सपादको को मिला करते है। इन्हीके द्वारा वह सारे दफ्तर और पत्र के तमाम कामो का सचालन करता है।

ताजे अखवार सपादक का जीवन है। दफ्तर मे आते ही सपादक सव से पहले डाक और ताजे अखवार पर हाथ डालता है। खास-खास लेख, पत्र-सपादक खुद अपने हाथो से लिखता है। सपादक रोज चाहे अपने दफ्तर की छोटी-छोटी वातो को न देखे, परन्तु उसे हर छोटी-से-छोटी वात का स्वय ज्ञान और अनुभव होना चाहिए। छोटी वातो की उपेक्षा तो वह हरगिज न करे। आलस्य और गफलत ये दो सपादक के शत्रु है। वह फुरतीला हो, पर लापरवाह नही, वेगार काटने की आदत विल्कुल न हो। उसे सदैव स्मरण रखना चाहिए कि उसके सारे गुण-दोषो का असर अकेले दफ्तर पर ही नही, उसके सारे पाठक वर्ग पर पडता है। इसलिए उसे अपने आचार-विचार के वारे मे सदा जागरुक और सदा सावधान रहना चाहिए। वह खुद जैसा होगा वैसा उसका पत्र, उसका दफ्तर और अन्त मे उसके पाठक होगे। इसलिए सपादक के लिए यह परमावश्यक है कि वह सदा अपने आदर्शो से अपनी तुलना करता रहे और उसतक पहुँचने का प्रयत्न वडी तत्परता से करे। जितना ही वह ऐसा करेगा उतना ही अपने पाठको—अपने समाज—को उस तरफ ले जा सकेगा। हम निश्चय रक्खे कि हमारी कृति हमसे वढकर नही हो सकती। हम विश्वास रक्खे कि हमसे वढकर योग्य पुरुप सहसा हमारे पास नही टिकेगा। इसलिए अपनी योग्यता वढाने की चिन्ता सदैव सपादक को रखनी चाहिए। उसका यह स्वभाव ही

बनजाना चाहिए कि इस नये आदमी के मुकावले मे मुझमे किन-किन बातो की कमी है। अपनी कमी को उसे प्रसगानुसार स्वीकार भी करते रहना चाहिए। इससे उसमे वृथा अभिमान भी न पैदा होगा और उससे अधिक योग्य साथी उससे सच्चा प्रेम रक्खेगे। मिथ्याभिमानी पुरुष योग्य साथियो को खो देता है।

सम्पादक रोज अपने दफ्तर के सब कर्मचारियो से चाहे मिले नही, पर किसे कोई कष्ट तो नही है, किसीके यहा कोई बीमार तो नही है, इसकी जानकारी उसे अवश्य रखनी चाहिए। और ऐसे अवसरो पर बिना उनके चाहे भी उसकी प्रकृत सहानुभूति उनपर प्रकट होनी चाहिए।

सम्पादक को चाहिए कि जो-कुछ लिखे परिश्रम करके, सोच समझ कर लिखे। ऊट-पटाग या अनुपयोगी कुछ न लिखे। उसके ज्ञान मे यदि मौलिकता न हो तो उसके प्रतिपादन और विवेचन मे अवश्य उसके व्यक्तित्व की छाप होनी चाहिए। कुछ-न-कुछ चमत्कार या विलक्षणता होनी चाहिए। किसीकी लेखन शैली या भाषा-प्रणाली का अनुकरण करने की अपेक्षा उसे अपनी विशेषता का परिचय देना चाहिए। वह अपने विषय मे गरकाव हो जाय—उसे आत्मसात् करले। फिर हृदय मे जैसा स्फुरण हो वैसा लिख डाले। उसमे जरूर विशेषता होगी—अपना पन होगा। मन मे मन्थन होते-होते एक बात दिल मे उठी। जिस जोर के साथ वह पैदा हुई, जिस सचाई के साथ आपके दिल मे वह रम रही, जिस गहराई के साथ वह जड पकडे हुए है उसीके साथ आप लिख दीजिए—आपका लेख प्रभावशाली होगा, उसमे ओज होगा, उसमे चमत्कार होगा। यदि चीज पूरे बल के साथ आपके हृदय की तह से निकली है तो वह जरूर दूसरे के दिल पर चोट कर देगी। बस आप सफल लेखक हुए। जिन-जिन कारणो से आप अपने निष्कर्ष पर पहुँचे है

उन्हे भी आप लोगो को समझाने के लिए दीजिए—आपका लेख युक्ति-सगत होगा। क्यो आप उस लेख या पुस्तक को लिखे विना और समाज मे उसे उपस्थित किये विना रह नही सकते—यह आप लोगो को समझाएँ, आपके लेख या पुस्तक को वे चाव से पढेगे। आपको यह भी सोचना होगा कि भाषा कैसी हो। यदि लेख सर्वसाधारण के लिए है तो भाषा वहुत सरल, सुवोध लिखनी होगी। लेख लिखकर आप अपने घर की स्त्रियो को पढ सुनाइए—उनकी समझ मे आ जाय तो अपनी भाषा को सरल समझ लीजिए। एक-एक वात खोलकर समझनी होगी। ठेठ तह तक पाठक को पहुँचा देना होगा। यह आप तभी कर सकेगे जव आप खुद उस चीज को अच्छी तरह समझे हुए होगे। छोटे-छोटे वाक्य और वोलचाल के शव्द होगे। क्लिष्ट शव्दो और लम्वे-लम्वे वाक्यो का प्रयोग एव उलझी हुई भाषा लिखना आसान है। सरल शव्द, छोटे वाक्य और सुलझी हुई स्पष्ट भाषा लिखना वहुत कठिन है। भाषा मे यह गुण चिन्तन-मनन से आता है। जव कोई चीज हमारी आखो के सामने हो तो उसका सीधा-सादा वर्णन करना आसान होता है। इसी तरह जव किसी विषय का सारा चित्र हमारे मन की आखो के सामने खिचा रहे तो उसका परिचय पाठको को वहुत सरलता से कराया जा सकता है। पर यह तभी सभव है जव उस विषय पर इतना आधिपत्य कर लिया हो कि विषय का ध्यान आते ही उसकी तसवीर सामने खडी हो जाय।

यदि श्रेणी विशेष के लिए लिखना हो तो भाषा उनकी योग्यता के अनुरूप होनी चाहिए। फिर गहन और शास्त्रीय विषय की भाषा मे थोडी-वहुत क्लिष्टता आ ही जाती है। पारिभाषिक शव्दो का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। किन्तु आम तौर पर भाषा मे तीन गुण होने चाहिएँ—सरलता, सुन्दरता, सक्षिप्तता। सरलता का अर्थ ऊपर आ चुका

है। सुन्दरता का अर्थ है रोचकता और प्रभावोत्पादकता। भाषा ऐसी मनोहर हो कि हृदय मे बैठती चली जाय। भाषा हमारे अन्त करण का प्रतिविब है। दूसरे से हमारे हृदय को मिलानेवाला साधन है। अतएव भाषा को मनोहर बनाने के लिए अन्त करण को मनोहर और रुचिर बनाना चाहिए। हृदय जितना ही सुरुचिपूर्ण, सुसस्कृत, मधुर होगा उतनी ही भाषा मनोहर होगी। सुन्दरता का अर्थ कोरे शब्दालकार नही, वागाडम्बर नही। सच्चे हृदय की व्याकुल वाणी मे असर होता है। शब्द-सौन्दर्य की अपेक्षा भाव-सौन्दर्य पर मुख्य ध्यान देना चाहिए। भाव भाषा को अपने आप चुन लेते हैं और अपने साचे मे ढाल लेते है। भाषा पर अधिकार पाने के लिए सब से जरूरी बात है शब्दो, मुहावरो, लोकोक्तियो का सग्रह। यह अच्छे-अच्छे लेखको की रचनाओ को पढते रहने से होता है। एक ही अर्थ के कई शब्दो की ध्वनियो को अच्छी तरह समझना चाहिए। पुनरुक्ति से भाषा को बचाना चाहिए। ग्राम्य शब्दो का प्रयोग बिना आवश्यकता के न करना चाहिए।

सक्षिप्तता का अर्थ यह है कि काम की और आवश्यक बाते ही लिखी जायँ। सक्षिप्त भाषा वह जिसमे से न एक शब्द निकाला जा सके, न जोडने आवश्यकता रहे। लिखते समय मुख्य और गौण बात का भेद सदैव करते रहना चाहिए। यह सोचना चाहिए कि यह बात यदि न लिखी जाय तो क्या काम अट जायगा ? अत्यन्त महत्वपूर्ण बाते ही लिखी जायँ। साधारण बाते तभी लिखी जायँ जब वे महत्वपूर्ण बातो की पुष्टि के लिए आवश्यक हो। बात जो लिखी जाय वह सच्ची हो। क्रोध मे कोई बात न लिखनी चाहिए। क्रोधावेश मे जितना लिखा गया हो उसे बेरहम बनकर काट देना चाहिए। क्रोध या द्वेषवश लिखी गई भाषा यदि सुन्दर बनगई हो तो भी वह अभीष्ट परिणाम न पैदा रेगीक। वह पाठक

के मन मे क्रोध और द्वेष पैदा करेगी। भाषा का यह गुण है कि आप जिस भाव से लिखेगे वही वह पाठक के मन मे पैदा करेगी। जो भाषा हमारे हृदय के भाव दूसरे के हृदय मे तद्वत् जाग्रत कर देती है उसे प्रभावशालीनी कहते हैं। लेखक जितना ही समर्थ होगा उतना ही उसकी भाषा मे प्रभाव होगा। क्रोध, द्वेष, असूया ये मानव हृदय के दुर्विकार हैं और इनसे लेखक या पाठक किसीका लाभ नही है। अपने हृदय की बुराई सैकडो-हजारो घरो मे पहुँचना साहित्य और समाज की घोर असेवा करना हैं। इसलिए लेखक को सदैव इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके भाव समाज का कल्याण करनेवाले हो। उत्साह और प्रसन्न चित होकर निर्विकार भाव से लिखने वैठेगे तो भाषा साधु, सजीव और प्रभावोत्पादक होगी। हम जैसे होगे वैसी ही हमारी भाषा होगी। इसलिए भाषा-सौन्दर्य के वाह्य साधनो की अपेक्षा लेखक को अपने आन्तरिक सौन्दर्य की वृद्धि का ही सदा ध्यान रखना चाहिए।

लेख मे सरलता और सक्षिप्तता लाने के लिए दिमाग मे हर चीज को टुकडे-टुकडे करके देखने का गुण होना चाहिए। इससे विषय का असली स्वरूप और महत्व समझ मे आ जाता है और गेहूँ मे से भूसी को अलग करना आसान हो जाता हैं। अव आप अपने मतलव की वाते चुनकर ठीक सिलसिले से रख दीजिए। आपका लेख सक्षिप्त रहेगा और सरल भी वन जायगा। जैसे एक डाक्टर शरीर को चीरकर हरएक रगोरेंशे को देख लेता है उसी तरह सम्पादक को अपने विषय की एक-एक नस देख लेनी चाहिए।

सम्पादको को चाहिए कि वह अपने को जनता का सेवक समझे। सम्पादक यो तो सुधारक होता है; परन्तु सुधारक की भावना से अहम्मन्यता वढ सकती है। अहम्मन्यता से मनुष्य उच्छृखल वन जाता है

और फिर अन्याय एव अत्याचार तक करते हुए नही हिचकता। सेवक मे नम्रता होती है। जनता के पथदर्शक होने की योग्यता होते हुए भी जब वह उसके सेवक के रूप मे रहता है तब उसपर यह जिम्मेवारी रहती है कि वह अपनी सेवा का अच्छा हिसाब जनता को दे। जनता को अपनी बात समझाने का भार उस पर रहता है। इस कारण वह स्वेच्छाचारी नही हो सकता। उसे सर्वदा जनता के हित का ही विचार करना पडेगा। जिसका हित-साधन उसे करना है उसकी राय भी उसे लेनी पडेगी। इस तरह अपनेको सेवक माननेवाले पर लोकमत का अकुश रहता है जो कि दोनो के हित के लिए उपयोगी है।

सुधार या परोपकार का भाव है तो अच्छा ही; परन्तु सेवा का भाव इससे अधिक निर्दोष और सात्विक है। दूसरे की सेवा की अपेक्षा आत्म-विकास की भावना और भी निरापद एव उच्च है। सेवा मे फिर भी दूसरे का भला करने का 'अह' भाव छिपा हुआ है, किन्तु आत्म-विकास मे वह नही रह जाता। मै जो कुछ करता हूँ अपनी आत्मा के विकास या कल्याण के लिए करता हूँ, यह भावना मनुष्य को मान-बडाई आदि बहुत-से गड्ढो और खाइयो मे गिरने से बचा लेती है। उसके लिए समाज-सेवा, देश-भक्ति, राष्ट्र-हित ये सब आत्म-विकास के साधन है। वह अपने प्रत्येक कार्य को अन्त मे यह हिसाब लगाकर देखता है कि इससे मेरे आत्मिक-विकास मे क्या सहायता मिली? लोग ऐसे मनष्य को बडा देशभक्त, समाज-सेवक, राष्ट्रोद्धारक मानेगी, पर वह अपनेको आत्म-कल्याण का एक साधक मानेगा और इन विशेषणो को अपनी साधना के मार्ग की मोहिनी विभूतिया समझकर 'कृष्णार्पण' कर देगा।

परन्तु इसमे एक बात की सावधानी रखने की जरूरत है। यदि परोपकार का भाव प्रबल रहा तो जिस प्रकार अभिमान, मान-बडाई

के फेर मे पड जाने का डर है उसी प्रकार आत्म-हित की दृष्टि प्रधान होने से स्वार्थ-साधुता आने या बढ जाने की आशका रहती है। इन गड्ढो से बचने का सब से बढिया उपाय यह है कि आत्म-हित और समाज-हित को हम मिला ले। समाज-हित मे ही हमारा आत्म-हित छिपा या समाया हुआ है अथवा समाज-हित करते-करते ही हम आत्म-साधना मे सफल होगे, यह धारणा इसका स्वर्ण-मार्ग है। सात्विक दृष्टि से भी इनमे कहने लायक अन्तर नही है। यदि दूसरे के और हमारे अन्दर एक ही आत्मा है तो दूसरे का हित मेरा ही हित है। गुण-विकास भी दूसरे का हित-साधन करते हुए जितना हो सकता है उतना कोरी आत्म-साधना—ध्यान-धारणा—से नही। दूसरे मे अपनेको सब तरह मिला देना आत्मार्पण है, दूसरे के लिए अपने को सब तरह मिटा देना निर्भयत्व है। आत्मार्पण और निर्भयत्व ये आत्म-प्रकाश, चैतन्य, निर्वाण, कैवल्य, मोक्ष, पूर्ण स्वातन्त्र्य, परमपद, निरानन्द, ब्राह्मीस्थिति, स्थित-प्रज्ञता, के मुख्य द्वार है।

कर्त्तव्य का भाव भी सपादक के मन मे हो सकता है। न तो आत्म-कल्याण के लिए, न परोपकार के लिए, मै तो अपना कर्त्तव्य समझकर सपादन-कार्य कर रहा हूँ, ऐसा कोई सपादक कह सकता है। पर यह पूछा जा सकता है कि आखिर इसे आपने कर्त्तव्य क्यो बनाया? धन के लिए, कीर्ति के लिए, जन-हित के लिए, आत्म-सतोष के लिए या और किसी बात के लिए? यदि धन और कीर्ति इसका उत्तर है तो वह सपादक नीचे दरजे का हुआ। यदि दूसरे दो उत्तर है तो उनका समावेश परोपकार, सुधार, सेवा, आत्म-कल्याण इनमे हो जाता है। इसलिए परोपकार या आत्मकल्याण यही दो भावनाये असली है। साधारण व्यवहार की भाषा मे इन्हे परमार्थ और स्वार्थ कहते है। स्वार्थ की

परिधि की ओर जावे तो वह परमार्थ हो जाता है और परमार्थ के केन्द्र की ओर चले तो वह स्वार्थ हो जाता है। दोनो दृष्टियो से हम एक ही सत्य पर पहुँच जाते है—इसीसे कहते है कि जगत् मे अन्तिम सत्य एक है। अस्तु।

एक यह भी प्रश्न है कि सम्पादक जनता का प्रतिनिधि है या पथदर्शक ? प्रतिनिधि तो मनुष्य अपने आप नही बन सकता। किसी सम्पादक को जनता ने अपना प्रतिनिधि बनाकर सम्पादक चुना हो, ऐसा तो कोई उदाहरण नही देखा जाता। हा, वरसो की सेवा के बाद कोई सम्पादक जनता के किसी एक विचार, आदर्श या कार्यक्रम का नैतिक प्रतिनिधि हो सकता है—पर सभी सम्पादको को यह पद नही मिल सकता। पथदर्शक तो अपने पास की कोई चीज हमे दिखाता है—वह हमे अच्छी मालूम देती है और हम उसके पीछे जाते है। वफादार और सच्चा पथदर्शक बाद को भले ही प्रतिनिधि बन जायँ या बना दिये जाये। जिनके पास न तो कोई अपनी चीज जनता को देने के लिए है, न जनता ने जिन्हे अपने प्रतिनिधित्व का अधिकार दिया है, उन्हे सम्पादक इसीलिए कहा जा सकता है कि वे एक अखवार निकालते है, सनसनी भरी खबरे छापते है, जोश-खरोश भरी टिप्पणिया लिखते है और कुछ कापिया बेच लेते है। न तो समाज पर, न राज्य पर उनका कोई असर होता है।

नेता लोकरजन के लिए नही बल्कि लोक कल्याण के लिए पत्रकार बनता है। बल्कि मेरी राय मे तो एकमात्र लोक-कल्याण ही सब प्रकार के पत्रो का उद्देश होना चाहिए। मनोरजन को पत्रो के उद्देश मे स्थान नही मिल सकता, न मिलना चाहिए। लोक-हृदय ठहरा बाल-हृदय। जटिल और गूढ ज्ञान-तत्त्व यदि नीरस और क्लिष्ट भाषा मे उसके सामने उपस्थित किये जायँ तो उन्हे सहसा आकलन और ग्रहण

नही कर सकता। इसलिए कुशल लेखक मनोरजन की पुट लगाकर उसे उसके अर्पण करता है। यही उसकी कला है। यही, और इतना ही, मनोरंजन का महत्व है।

इसके सम्बन्ध मे दो मत है। एक मत के लोग कहते है, पत्र-सचालन ओर व्यवसायो की तरह एक व्यवसाय है। यद्यपि वह औरो से श्रेष्ठ है, उसके द्वारा ज्ञान और शिक्षा-लाभ होता है, तो भी वह है व्यवसाय ही। व्यवसायी का मुख्य काम होता है ग्राहक की रुचि देखना, उसकी रुचि और पसन्दगी के अनुसार तरह-तरह की चीजे रखना। चीजो को वह सजाता भी इस तरह है कि लोग उसीकी दूकान पर खिचकर चले आवे। इसके लिए उसे अपनी चीज की खास तौर पर तारीफ भी करनी पडती है। इन सब बातो के करने मे उसे इसी बात का सबसे बडा खयाल रहता है कि ग्राहक कही नाराज न हो जाय, कही हमारी दुकान न छोड दे। यह निर्विवाद बात है कि सर्वसाधारण जन उस चीज की ओर ज्यादा आर्कर्षिक होते है जो चमकीली हो, चटकीली हो, फिर वह घटिया हो तो परवा नही। इसलिए व्यवसायी ऐसी ही चीजो को अपनी दुकान मे ज्यादा रखता है। दूसरी बढिया, अच्छी, और ज्यादा उपयोगी चीजे भी वह रखता है, पर वे उसके नजदीक गौण है, क्योकि वह कहता है, इसके खरीददार थोडे होते है।

दूसरे मत के लोग पत्र-सचालन को एक 'सेवा' समझते है। वे कहते है कि पत्र-सम्पादक साहित्य के चौकीदार है, जनता के वैद्य है, शिक्षक है, पथ-दर्शक है, नेता है। वे अपने सिर पर बडी भारी जिम्मेवारी समझते है। उन्हे सदा सर्वदा इस बात का खयाल रहता है कि कही ऐसा न हो, हमारे किसी वचन, कृति, या सकेत मे जनता का अकल्याण हो, वह बुरे रास्ते चली जाय, बुरे और गदे भावो, विचारो और कार्यो

को अपना ले, ऐसे कामो मे लग जाय जो उसे प्यारे मालूम होते हो, पर जो वास्तव मे उसके लिए अकल्याणकारी हो । वे इस बात की तरफ इतना ध्यान नही देते कि लोगो को कौन-सी बात प्रिय है, बल्कि इसी पर उनका मुख्य ध्यान रहता है कि उसका कल्याण किस बात मे है ? वह अपनेको प्रेय नही, श्रेय साधक मानते है । इसलिए वे लोक-रुचि का अनुसरण उसी हद तक गौण या प्रधान रूप मे करते है जिस हद तक उसके द्वारा वे जनता के कल्याण को सिद्ध होता हुआ देखते है । बहुत बार ऐसा भी होता है, और इतिहास इस बात का खूब साक्षी है कि उन्हे लोक-रुचि के खिलाफ जबरदस्त आवाज उठानी पडती है और लोग पीछे से मानते है कि हा, उनकी बात ठीक थी । ऐसे पत्रकार पत्र-सचालन का उद्देश्य, फिर वह दैनिक हो, मासिक हो, या साप्ताहिक हो, 'लोकरजन' नही 'लोक-कल्याण' मानते है और इसीलिए वे लोकरजन या मनोरजन को गोण स्थान देते है । लोकरजनो से जनता शुरू मे खुश भले ही हो, लोकरजन कुछ काल के लिए लोकप्रिय भी भले ही हो, वह सफल भी भले ही होता हुआ दिखाई दे, लाखो रुपये भी भले ही पैदा करले, परन्तु उससे सर्वसाधरण की सेवा ही होती है, कल्याण ही होता है, वह बात नही । तुलसी और सूर की लोक-प्रियता पर कोई सवाल उठा सकता है ? क्या वे 'लोकरजन' के अनुगामी थे ? लोक-कल्याण किस बात मे है इसके जानने का आधार 'लोक-रुचि' नहीं, बल्कि लोक-शिक्षक की विद्या-बुद्धि, ज्ञान और अनुभव है । लोक-शिक्षक जितना ही अधिक त्यागी, सयम, नि स्वार्थ, कष्ट-सहिष्णु, सदाचारी, और प्रेम-मय होगा उतना ही अधिक वह पत्र-सचालन के योग्य होगा ।

ससार मे दो तरह के आदमी देखे जाते है । एक कल पर दृष्टि रखता है, दूसरा आज मे मगन रहता है । एक ऊपर देखता है, आगे उँगली दिखाता

है, दूसरा आसपास देखता है। एक देने के लिए तैयार रहता है छोडने मे लेने से वढकर सुख देखता है, दूसरा रखने मे और चखने मे आनन्द पाता है। एक सयम मे जीवन की सार्थकता मानता है, दूसरा स्वच्छन्दता मे। एक त्यागी है, दूसरा भोगी है। ये दोनो एक दूसरे के सिरे पर रहने वाले लोग है। इनके बीच मे एक तीसरा दल भी रहता है। उसे एक की उग्रता और दूसरे की शिथिलता, दोनो पसन्द नही। इधर त्याग की आग के पास जाने की भी हिम्मत उसे नही होती, उधर भोग के रोग से भी वह घबराता है। कल उसे वहुत दूर—इतना दूर कि शायद उसे पहुँचने की भी आशा न हो—दिखाई देता है और आज नीरस मालूम होता है। आगे उँगली उठाने मे उसे खतरा मालूम होता है और आस-पास देखते रखना निरर्थक। देने और देते रहने मे उसे अपने दरिद्र हो जाने का डर रहता है और केवल रखने और चखने से उसे सन्तोष नही होता। यह जीवन को सग्राम-भूमि बनाना चाहता है, न असहयोग का अखाडा, और न फूलो की सेज। वह न इधर का होता है न उधर का। वह आराम मे चाहे रह सके, पर उन्नति ही करता रहेगा यह नही कह सकते। वह सन्तुष्ट चाहे रहे, पर पुरुषार्थ भी दिखावेगा, यह निश्चय नही। विना खतरे का सामना किये, विना जान जोखिम मे डाले, दुनिया मे न कोई आदमी आगे वढ सकता है, न दूसरे को वढा सकता है। परन्तु यह मध्य-दल तो अपने आसपास हमेशा किलेवन्दी करता करता है, फूक-फूक कर कदम रखता है सम्हल-सम्हलकर चलता है। इसे वह विवेक समझता है। जो हो। 'लोक-रञ्जन' के अनुगामी अधिकाश मे दूसरी और तीसरी श्रेणी मे हुआ करते है। 'लोक-शिक्षक' पहली ही श्रेणी मे अधिक होते है। दोनो मे मुख्य भेद यही है कि एक का मुख्य ध्यान 'लोक-कल्याण' की ओर होता है और दूसरे का मुख्यतः 'लोक-रुचि' की

ओर। सच्चा कलावित् ही सच्चा शिक्षक हो सकता है और सच्चे शिक्षक होते है कला-मर्मज्ञ। यह सच है कि वे अपने आसन से उतरकर जनता के पास जाते है, उससे मिलते है, और उससे अपनी सहानुभूति जोडते है, पर उतरते है, उसे अपने आसन पर—ऊपर लाने के लिए, सहारा देने के लिए, उनपर अपना रग जमाने के लिए, जाकर रह जाने के लिए नही, और उन्हीके रग मे रग जाने के लिए तो हरगिज नही।

जहा पत्रकार या शिक्षक 'लोक-रजन' के फेर मे पडा कि वह 'लोक-सेवक' न रहा, व्यवसायी हो गया।

[५]

नेता की ज़िम्मेवारियाँ

नेता युगधर्म की प्रेरणा होता है। युगधर्म जनता की पीडा की पुकार है। वह मनुष्य नही है जिसके मन मे उसे सुनकर हलचल न हो। हा, पीडा से व्याकुल होकर नेता को उसका इलाज जल्दी या क्रोध मे आकर ऐसा न करना चाहिए कि जिसमे जनता का जीवन अन्तिम लक्ष्य से इधर-उधर हो जाय। एक तरह की पीडा मिटने लगे तो दूसरी पीडा की नीव पड जाय। इसीलिए समाज मे दूरदर्शी नेताओ की आवश्यकता होती है। नेता समाज की तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति होता है—पीडा का वैद्य होता है।

जीवन का मूल-भूत तत्व चाहे एक हो, किन्तु जीवन जगत् मे आकर विविध हो गया है। वह एक से अनेक हुआ है और अनेक से एक होने की तरफ जा रहा है। यह दो तरह से होता है—विविध भावो के विकास के द्वारा अथवा भाव-विशेष की एकाग्र साधना के द्वारा।

एक का उदाहरण भक्ति और दूसरे का योग हो सकता है। नेता के जीवन मे भक्ति ओर योग का सम्मेलन होना चाहिए व्यापकता ओर एकाग्रता दोनो ओर उसकी गति और विकास होना चाहिए।

एक वैद्य, योगी, योद्धा, सुधारक, किसी भी स्थिति मे नेता की जिम्मेवारिया महान् है। वह यदि सचमुच अपनी जिम्मेवारियो को पूरा करना चाहता है, अपने गौरव की रक्षा करना चाहता है अपने पद को सार्थक करना चाहता है तो उसे यह मानकर ही चलना चाहिए कि उसका जीवन सदा सकटो से घिरा हुआ है। यदि काम आसानी से हो जाय और सकट मे न पडना पडे तो उसे आनद नही आश्चर्य होना चाहिए और ईश्वर का एहसान मानना चाहिए*। निन्दा कटूक्ति आर्थिक कष्ट, गालिया, मार, जेल, अपमान और अन्त मे मृत्यु—एव मृत्यु से भी अधिक दुखदायी असफलता ये पुरस्कार अपनी सेवाओ का पाने के लिए उसे सदा तैयार रहना चाहिए। यह समाज की अनुदारता पर टीका नही है, बल्कि नेता किन-किन कसौटियो पर कसा जा सकता है ओर प्राय कसा जाता है उनका दिग्दर्शन है। समाज के पास नेता की सच्चाई की परीक्षा के यही सधान है। इनका सामना करते हुए भी नेता जब अपने उद्देश्य से पीछे नही हटता, तब समाज उसकी बात मानता है। सच्चे

---

* यहाँ देशभक्तों के जीवन के सम्बन्ध मे महाराष्ट्र में प्रचलित दो गान उपयोगी होंगे—

(१) जो लोक कल्याण, साधावया जाण देई करी प्राण, त्या सौख्य कैचे ?
निन्दाजनी त्रास, अपमान उपहास, अर्थी विपर्यास, हें व्हावयाचे।
बहूकष्ट जीवास दुष्टान्न उपवास, कारागृहीवास हे भोग त्याचे॥

(२) देशभक्तां प्रासाद बन्दिशाळा। शृगळेच्या गुंफिल्या पुष्प-माळा॥
चिता-सिंहासन शूल राजदण्ड। मृत्यु दैवत दे अमरता उदण्ड॥

आदमी को इतने कष्ट-सहन के बाद समाज अपनावे—यह है तो एक विचित्र और उलटी बात पर समाज में झूठे पाखडी, स्वार्थ-मात्र लोग भी होते हैं—उनके धोखे में बचने के लिए समाज के पास यही उपाय रह गये हैं। उनके अस्तित्व का दण्ड सच्चे आदमी को तब तक भुगते छुटकारा नहीं है जब तक समाज में झूठो, पाखडियो और ठगो का जोर बना रहेगा।

दूसरे, जानता के स्वागत, सहयोग और अनुकरण पर से अपने कार्य की शुद्धता का अनुमान या निर्णय न करना चाहिए। जानता तो सदा अपने तात्कालिक लाभ को देखती है। आपके मूलत अशुद्ध कार्य में भी उसका उस समय लाभ होता हुआ दीखेगा तो वह आपके पीछे दौड पडेगी, परन्तु, इसी तरह जब उसका कुफल भोगने का अवसर आवेगा, तब वह आपको कही का न रहने देगी। समाज मे आम तौर पर सब अच्छे के साथी होते हैं—बुरे के बहुत कम—और होने भी क्यो चाहिए? कार्य की शुद्धता जानने के लिए एक तो उसे अपने हृदय को देखना चाहिए और दूसरे यह देखना चाहिए कि कार्य का स्वरूप अनैतिक तो नहीं है। वह ऐसा तो नहीं है जो उसके ध्येय और निश्चित नीति तथा दावो के प्रतिकूल हो। मनुष्य कुटुम्ब समाज और जगत् को धोखा दे सकता है, परन्तु उसके हृदय मे छिपे सतत जाग्रत चौकीदार को धोखा नही दे सकता। मैं किसीके घर मे चोरी करने के भाव मे गया हूँ। अथवा उसका कोई भला करने गया हूँ, इसे मेरा दिल जितना अच्छी तरह जान सकता है उतना और कोई नही। हा, कर्तव्य-मूढता की बात दूसरी है। कभी-कभी मनुष्य की समझ मे ठीक-ठीक नहीं आता कि इस समय मेरा क्या कर्तव्य है। कभी-कभी उसके निर्णय मे भूल भी हो जाती है। पर यह तो क्षन्तव्य और सुधारणीय है। यदि

नेता तनिक भी विचारशील है तो फ़ौरन उसे अपनी गलती मालूम हो सकती है।

यदि स्वयं भूल न मालूम हो, पर दूसरा दिखा दे तो उसे सरल और कृतज्ञ हृदय से मान लेना चाहिए। भूल मालूम होने पर उसे न मानने, न सुधारने में खुद अपनी ही हानि है। अभिमान, मिथ्या बड़प्पन का भाव, कई मनुष्यों को भूल-स्वीकार करने से रोक देता है, परन्तु नेता को तो इसके लिए सदा तैयार रहना चाहिए। कभी-कभी ऐसे प्रसंग आते हैं कि भूल सुधारने के लिए मनुष्य तैयार हो जाता है, परन्तु उसे प्रकट होने देना नहीं चाहता। इसमें क्षणिक लाभ हो सकता है—परन्तु वृत्ति तो, तुरन्त स्वीकारने, आवश्यकता है तो उसे प्रकट करने, और सुधारने—जिसके प्रति भूल हुई है, या जिसको उससे हानि पहुँची हो उससे, क्षमा चाहने की ही अच्छी है। क्षमा-याचना से केवल दूसरे को ही सन्तोष नहीं होता,—हमारे हृदय की शुद्धता का ही इत्मीनान नहीं होता, बल्कि हमारे मन को भी शिक्षा मिलती है। जहाँ तक अपने मन पर होनेवाले असर से ताल्लुक है क्षमा-याचना एक प्रकार का प्रायश्चित्त ही है। प्रायश्चित्त का वह भाव, जो दूसरे की हानि को अनुभव करता है और इसलिए उस पर अपनी ओर से खेद और पश्चात्ताप प्रदर्शित करता है, क्षमा-याचना कहलाता है। कभी-कभी स्थिति को सुलझाने के लिए भी मस्लहतन् माफी माँग ली जाती है, परन्तु इसमें दोनों के दिलों पर कोई अच्छा असर नहीं होता। न क्षमा माँगनेवाले का सुधार होता है, न क्षमा चाहनेवाले को सच्चा सन्तोष। उल्टा उसके मिथ्याभिमान की वृद्धि होने का भय रहता है। कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता है जब मनुष्य भूल सुधारने के लिए तो तैयार हो जाता है किन्तु क्षमा माँगना नहीं चाहता। उसमें वह अपनी मान-हानि

समझता है। इसका सरल अर्थ यह है कि वह सिर्फ अपनेको सन्तुष्ट कर लेना चाहता है, अपना लाभ कर लेना चाहता है, परन्तु दूसरे के दुःख, हानि की उसे उतनी परवा नही है। यह एक प्रकार की अहम्मन्यता ही है। यह अमानुषता भी है। अपने हाथ से किसीकी हानि हो गई हो, किसीके दिल को चोट पहुँच गई हो, हमने समझ भी लिया कि हमने ठीक नही किया, फिर भी उसके प्रति हम इतने भी विनम्र न हो—यह अमानुपता नही तो क्या है ? सच पूछिए तो इसमे हमारी अधिक हानि है—अधिक अपमान है—क्योकि हरएक समझदार और जानकार आदमी हमसे मन मे घृणा करने लगता है। अतएव नेता को यह सदैव ध्यान मे रखना चाहिए कि हृदय की सरलता और स्वच्छता से वढकर सफलता और विजय का अमोघ साधन ससार मे नही है। युक्तियो और तर्को से आप मनुष्य को निरुत्तर कर सकते है, दिमागी चालाकी से आप साफ-पाक बेलौस दिख सकते है, परन्तु आप किसीके हृदय को नही जीत सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि दिमाग की अपेक्षा दिल मे ही अन्तरात्मा ने अपना डेरा डाल रक्खा है। कई वार यह अनुभव होता है कि दिमाग साथ नही देता, समझा नही सकता है, किन्तु दिल मे बात जँच गई है। यदि हमने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया है कि वल आखिर सच्चाई मे है, भला आखिर सच्चाई में है, तो फिर दिमागी कतर-व्योत व्यर्थ है। सच्चाई और झुठाई छिप नही सकती।

नेता का एक सहकारी-वर्ग तो होता ही है। वही आगे चलकर एक दल वन जाता है। जब दल सुसगठित होने लगता है तब नेता पर विशेष जिम्मेवारी आजाती है। जनता के हित के साथ उसे अब अपने दल के हित का भी खयाल रहने लगता है। फिर वह यह मानने लगता

है कि मैं अपने दल को बढाकर और मजबूत रखकर ही जनता की सेवा अच्छी तरह कर सकता हूँ—इसलिए जनता के हित से भी अधिक चिन्ता दल की रखने लगता है। कभी-कभी ऐसा भी अवसर आता है कि दल के हित और जनता के हित मे विरोध दीखने लगता है। यदि जनता के हित पर ध्यान देता है तो दल से हाथ धो बैठना पडता है, यदि दल का हित देखना है तो जनता के हित की उपेक्षा करनी पडती है। ऐसी दशा मे सच्चे नेता का कर्तव्य है कि वह जनता के हित पर अडा रहे। दल जब कि जनता के ही हित के लिए बना है तब दल का ऐसा कोई स्वतत्र हित नही हो सकता जो जनता-हित का विरोधी हो। दल मे यदि व्यक्तिगत महत्वाकाक्षाये नही है तो ऐसे विरोध की सभावना बहुत कम रहेगी। नेता के लिए यह परीक्षा का अवसर है। दल से उसे अपनेको पृथक् करना पडे, अथवा दल को तोड देना पडे—तो उसे इसमे जरा भी हिचपिचाहट न होनी चाहिए। दल जनता-हित का साधन है और उसे सदा इसी मर्यादित स्थिति मे रहना चाहिए।

समाज या देश मे दूसरे दल भी हुआ ही करते हैं। वे भी उतने ही जनता-हित का दावा और कार्यक्रम रखते हैं। एक दल अपनेको श्रेष्ठ और दूसरे को कनिष्ठ दिखाने की गलती न करे। जनता का हित जिस दल के द्वारा अधिकाधिक होगा उसे जनता अपनाती चली जायगी। सब दल जनता के सेवक है इसलिए उनके परस्पर विरोधी बनने का सहसा कोई कारण नही है। उनका मार्ग जुदा हो सकता है, परन्तु परस्पर विरोध करके, लडके और आपस मे तू-तू—मैं-मैं करके अपना मार्ग अधिक सच्चा और हितकर साबित करने की अपेक्षा प्रत्येक जनता-हित को सिद्ध करने का अधिक यत्न करे। धन या सख्या का बल दल का वास्तविक बल नही होता, बल्कि सेवा की मात्रा होता है। जो दल

वास्तविक सेवा करेगा उसका बल अपने आप बढ़ेगा—लोग खुद आ-आकर उसमे शामिल होगे। आज भारत मे काग्रेस दिन दूनी बढ रही है और दूसरे दल पिछड रहे है। इसका रहस्य यही है। अतएव नेता को चाहिए कि दलबन्दियो की अनुदारता और एक देशीयता से अपने को बचावे। देशभक्ति और सच्चाई का जितना श्रेय वह अपने दल को देता है उतना ही वह दूसरे दलो को भी देने के लिए तैयार रहे। उनके प्रति अधिक उदारता और सहिष्णुता का परिचय दे। अपने दल के साथ चाहे एक बार अन्याय होना मजूर कर ले, परन्तु दूसरे दलवालो के साथ न होने दे। इस वृत्ति से अपने दल के सकुचित और एकागी लोगो के असन्तुष्ट होने का अन्देशा अवश्य है, परन्तु यह जोखिम उसे उठानी चाहिए। अन्यथा उसका दल कभी फैल न सकेगा, प्रतिकूल या भिन्न मत रखनेवालो को अपने मत की श्रेष्ठता आप नही जँचा सकते यदि आप उनके प्रति सज्जनता, न्याय, सहिष्णुता और उदारता का व्यवहार नही रखते है। भिन्न या विरोधी मत होने के कारण हमारे हाथो उनके प्रति अन्याय हो जाना सहज है—इसीलिए इस बात की बहुत आवश्यकता है कि हम इस विषय मे बहुत जागरूक रहे। यदि हम सदैव सत्य पर दृष्टि रखेगे, सत्य की रक्षा, सत्य के पालन से बढकर व्यक्तिगत या दलगत लाभो और हितो को समझेगे तो हम खतरे से बहुत आसानी से बच जायँगे। सत्य की साधना हमे कभी गलत रास्ते नही जाने देगी। हा, इसके लिए हमारे अन्दर काफी साहस, जोखिम उठाने का धीरज, बुरा, बेडा गर्क कर देनेवाला कहलाने की हिम्मत होनी चाहिए। ऐसे प्रसग आ जाते है जब विरोधी की बात ठीक होती है, पर हमारे दल के लोग नहीं पसन्द करते कि उस औचित्य को स्वीकार किया जाय। ऐसी स्थिति मे नेता यदि अपने दल की बात मानेगा तो विरो-

घियो को अपने नजदीक लाने का अवसर क्यो देगा—क्योकि उसकी न्यायपरायणता पर से उनका विश्वास हटने लगेगा, यदि अपने दल को खुश नही रखता है तो सारी जमीन ही पाव के नीचे मे खिसकी आती है। अपने दल मे मे उसकी जगह चली जा रही है और विरोधी दल मे पाव रखने की गुजायश नही। वह 'न घर का न घाट का' रहने की स्थिति मे अपनेको पाता है। ऐसी दशा मे एकमात्र सत्याचरण, न्याय-निष्ठा ही उसकी रक्षिका हो सकती है। उसे यह विश्वास रखना चाहिए कि आखिर सत्य और न्याय को अनुभव करने की प्रवृत्ति सबमे होती है। आज यदि क्षणिक लाभ या सकुचित हित हमारे सत्य और न्याय के भावो को मलिन कर रहा है तो कल अवश्य दोनो दल के लोग उसे अनुभव करेगे। यदि सार्वजनिक प्रतिष्ठा-भग होने का गलत खयाल उन्हे गुमराह करके उनसे उसी समय उसे न कहलावे तो कम-से-कम दिल उनका गवाही जरूर देगा कि इसने सच्चाई का साथ दिया है और यह बहादुर आदमी है। जो सच्चाई के खातिर अपना दल, मान, बडाई, छोड देने के लिए तैयार हो जाता है, विरोधी ही नहीं, सारा जगत् उसको माने बिना नही रह सकता। इसलिए नेता सदा यह देखे कि भिन्न या विरोधी मत रखनेवालो का दिल मेरे लिए क्या कहता है? वे सर्वसाधारण के सामने, अपने व्याख्यानो लेखो और वक्तव्यो मे उसके लिए क्या कहते है, इसकी अपेक्षा अपने मित्रो मे, घर मे तथा क्लबो मे, खानगी बातचीत मे मेरे लिए क्या राय रखते है यह जानना अधिक सत्य के निकट पहुँचावेगा। यदि मै सच्चा हूँ, यदि मै न्याय-प्रिय और सत्पुरुष हूँ तो दूसरे लोग मुझे और क्या कैसे समझेगे? हा, उन्हे मुझे पहचानने मे देर चाहे लगे, पर अन्त मे उन्हे मेरे इन गुणो की कद्र करनी ही पडेगी। सत्य और न्याय के खातिर की गई मेरी साधना, मेरी तपस्या उन्हे सत्य की ओर लाये बिना न रहेगी।

अन्त मे नेता को अपनी भूलो, गलतियो के प्रति बहुत कठोर परन्तु साथियो और सहयोगियो के प्रति उदार होना चाहिए। अपने प्रति कठोरता उन्हे अपने आप गाफिल न रहने की प्रेरणा करेगी और उनके प्रति उदारता उन्हे अपने हृदय-शोधन मे लगावेगी—नेता के प्रति स्नेह बढावेगी। पर इसका अर्थ यह नही है कि उनकी गलतिया उन्हे बताई न जाये। भूल भयकर भी हो—पर अच्छा असर तभी होता है जब वह मधुरता, आत्मीय भाव और सहृदयता के साथ बताई गई हो। बिगाड हो जाने पर बदले मे साथी को हानि पहुँचाना किसी भी दशा मे नेता का कर्तव्य नही है। भूल होना मनुष्य के लिए सहज बात है। बल्कि भूल के दुष्परिणाम से अपने साथियो और मित्रो को बचाने के लिए आवश्यक हो तो नेता को खुद सकट मे पडजाना चाहिए।

नेता को अपने व्यक्तिगत और सामाजिक आचार मे भेद को स्थान न देना चाहिए। साधारण लोग आचार के दो भेद कर डालते है—एक, व्यक्तिगत आचार और दूसरा, सामाजिक आचार। वे समझते है कि मनुष्य का सामाजिक आचार शिष्टता, सभ्यता और शुद्धतापूर्ण हो तो बस! सामाजिक बातो मे व्यक्तिगत आचार पर ध्यान देने की जरूरत नही। जैसे यदि कोई आदमी अपने घर पर गाजा या शराब पीता हो, या चुपके-चुपके व्यभिचार करता हो, पर यदि वह खुले आम ऐसा न करता हो, समाज मे उसका प्रचार या प्रतिपादन न करता हो, तो इसे वे दोष न मानेगे। यदि मानेगे तो क्षम्य मानेगे। मै इस मत के खिलाफ हूँ। मेरी राय मे यह भ्रम-पूर्ण ही नही, सदोष ही नही, महापाप है। मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवत से जुदा नही हो सकता। व्यक्तिगत जीवन का असर सामाजिक जीवन पर पडे बिना नही रह सकता। जो मनुष्य व्यक्तिगत जीवन को शुद्ध नही रख सकता वह सामाजिक जीवन को क्या शुद्ध रख सकेगा? जो खुद

अपने, एक आदमी के आचार पर कब्जा नही रख सकता, वह सारे समाज के आचार पर कैसे रख सकेगा ? मनुष्य खुद जैसा होता है वैसा ही वह औरो को बनाता है, चाहे जान मे, चाहे अनजान में। और व्यवहार मे भी हम देखते है कि समाज पर उसीका सिक्का जमता है जो सदाचारी होता है, जसका व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो प्रकार का आचार शुद्ध होता है। एक दृष्टि से व्यक्तिगत जीवन उसी मनुष्य के जीवन को कह सकते है जिसने समाज से और कुटुब से अपना सब तरह का सम्बन्ध तोड लिया है, जो अकेला किसी जगल मे या पहाड की गुफा मे जाकर रहता हो और खाने, पीने, पहनने तक के लिए किसी मनुष्य-प्राणी पर आधार न रखता हो, शिक्षा तक न ग्रहण करता हो। परन्तु जिस मनुष्य ने इतना भारी त्याग और सयम कर लिया हो उसका जीवन सच पूछिए तो व्यक्तिगत न रहा, सामाजिक से भी बढकर सार्वभौमिक हो गया। उसके चरित्र का असर सारे भूमण्डल पर हो सकता है, और होता है। इस दृष्टि से देखे तो मनुष्य की कोई भी ऐसी अवस्था नही दिखाई दे सकती जिसे हम 'व्यक्तिगत' कह सके। इसीलिए कहा जाता है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सदाचार से जहा तक सम्बन्ध है, सेवा से जहा तक सम्बन्ध है, उसके जीवन या आचार मे व्यक्तिगत और सामाजिक ये भेद हो ही नही सकते। यदि हो भी सके तो व्यक्तिगत आचार की सदोपता क्षम्य नही मानी जा सकती, न मानी जानी चाहिए। इसी भ्रमपूर्ण और गलत भावना का यह परिणाम हम देखते है कि आज देश-सेवा के क्षेत्र मे कितने ही ऐसे लोग मिलते है, और मिलेगे जिन्हे हम सदाचारी नही कह सकते, पर जो बडे देश-सेवक माने जाते, और जिनका जीवन समाज के सामने गलत आदर्श उपस्थित कर रहा है और समाज को गलत राह दिखा रहा है। हा, मै यह बात मानता हूँ कि समाज को यह उचित है कि

सेवक के दुर्गुणो पर ध्यान न दे, दोषो की उपेक्षा करता रहे। दुराचार से अपनेको बचाता रहे, पर समाज का यह सौजन्य, यह उदारता, सेवक के आत्म-सतोष का कारण न होनी चाहिए। इससे तो उलटे उसके मन मे अधिक शर्म, अधिक ग्लानि उत्पन्न होनी चाहिए। उसे इस बात पर खुशी न होनी चाहिए, फूलना न चाहिए, फख्र न होना चाहिए कि देखो मैं ऐसा होते हुए भी समाज का प्रीति-पात्र हो रहा हूँ, बल्कि इस खयाल से उसकी आखो से अनुताप के आसू निकलने चाहिए कि समाज कितना सहिष्णु है, कितना उदार है, कितना गुण-ग्राहक है कि मुझ-जैसे पतित और नराधम को भी इतने आदर की दृष्टि से देखता है। तभी उसके कार्यों को देश-सेवा की श्रेणी मे स्थान मिलने की सम्भावना हो सकती है। तभी वह समाज और राष्ट्र को उसके लक्ष्यतक पहुँचा सकता है।

भारत स्वतंत्रता की ओर—

[८]

१—भारतीय आन्दोलन

२—गृह-कलह की आशङ्का

३—भारत का संदेश

४—रूसी और भारतीय संदेश

५—भारत की पहली सरकार

६—ग्राम-रचना

७—उपसंहार

८—परिशिष्ट (५)
सामाजिक आदर्श

९—परिशिष्ट (६)
गावों की ओर

[१]

भारतीय आन्दोलन

मनुष्य ओर ममाज के जीवन से मम्वन्ध रखनेवाली वुनियादी वातो के इतने विवेचन के वाद अब हम इम स्थिति पर पहुँचे है कि भारतीय आन्दोलन और उमके दूरगामी परिणामो पर विचार कर सके। पूर्ण स्वाधीनता, और उसके अटल साधन सत्य और अहिसा—यह एक ऐसी कमोटी और कुजी हमारे हाथ लग गई है, जिसपर हम वर्तमान आन्दोलन और भावी मरकार को कस मकेगे ओर उसकी गुत्थिया मुलझा मकेगे।

अहिसात्मक और सत्य-प्रधान होने के कारण वर्तमान भारतीय आन्दोलन का निश्चित ओर दूरगामी परिणाम होगा भारतीय स्वतत्रता। हिन्दुस्तान दुनिया का पाचवा हिस्सा है। महान् प्राचीनता, उच्च मस्कृति, दिव्य तत्वज्ञान अनेक महापुरुप विविध प्रान्त, प्राकृतिक देन, आदि

विशेषताओ मे यह ससार के किसी भी हिस्से से महान् है। एक गुलामी की जजीर टूटी नही कि वह विशाल और प्राचीन देश ससार मे भव्य और दिव्य हुआ नही। १५ करोड लोगो के रूस ने अपनी क्रान्ति के द्वारा सारे ससार मे एक हलचल मचादी है। फिर वह क्रान्ति ऐसे साधन—हिसाकाण्ड—के बल पर हुई है, जिसका नैतिक महत्व भारतीय आन्दोलन के वर्तमान साधन—अहिसा—से सारे मनुष्य-समाज की दृष्टि मे कम समझा जाता है। आम तौर पर कोई यह नही कहता कि अहिसा से हिंसा श्रेष्ठ है। सिर्फ इतना ही कहा जाता है कि कभी-कभी हिसा से जल्दी काम बन जाता है और दण्ड तथा युद्ध की आवश्यकता जबतक रहेगी तबतक हिसा-बल से काम लेना पडेगा। अर्थात् जो लोग हिसा-बल के हामी है वे भी उसे एक अनिवार्य अल्पकालीन आपद्धर्म-मात्र मानते है। ऐसी दशा मे भारतीय आन्दोलन का ससारव्यापी प्रभाव स्पष्ट और निश्चित है। भिन्नता और विविधताओ से भरे हुए इतने बडे देश मे यदि अहिसा-बल से ससार के सबसे बडे साम्राज्य के छक्के छूट गये तो एक बार सारा ससार चक्कर खाने लगेगा और चारो ओर उथल-पुथल मचे बिना न रहेगी। हिसाबल का थोथापन तो आज भी लोग समझने लगे है, किन्तु अहिसा के सक्रिय बल पर उनका असीम विश्वास बढ जायगा। फलत हिसाबल पर अवलम्बित रहनेवाले राष्ट्रो, समाजो और समुदायो को अहिसा-बल पर आधार रखना पडेगा। दूसरे शब्दो मे लुटेरे-पन का स्थान उन्हे परस्पर के सहयोग को देना पडेगा, या यो कहे कि वर्तमान प्रजासत्ताओ की जगह विश्व-कुटुम्ब की निकटवर्ती समाज-व्यवस्था का जन्म या अधिकार होगा।

परन्तु मेरी राय मे अभी भारतीय आन्दोलन को सफल होने मे कम-से-कम १० साल जरूर लगेगे। उसके बाद दस-पाच साल शासन-सगठन

और भीतरी सुधारों में लग जायंगे। तबतक और देशों में इस आन्दोलन के नैतिक प्रभावों से जो-कुछ परिवर्तन और सुधार होंगे वे होते रहेंगे। १५,२० साल के बाद भारतवर्ष को दूसरे देशों में अपना सन्देश पहुँचाने की अच्छी फुरसत मिलेगी। भारत का सन्देश संसार को क्या होगा? भारत का जीवन-कार्य क्या होगा? भारत ने समय-समय पर संसार को नये-नये सन्देश दिये हैं—कृष्ण, बुद्ध, महावीर के सन्देश दुनिया में पहुँचे हैं—अब गांधी एक आगे का सन्देश सुनाने आया है। रूस के महान् लेनिन ने एक देन संसार को दी है। उसने शासन-सम्बन्धी एक आदर्श को व्यवहारिक रूप दिया है। रूस की वर्तमान सोवियट-शासन-प्रणाली अब-तक की तमाम प्रणालियों से नवीन और चकित करनेवाली है। उसके द्वारा कहते हैं, वहा की जनता को अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता मिली है। किन्तु अभी, वह भी, स्वतंत्रता के वास्तविक आदर्श से दूर है। अब समय आ रहा है कि भारतवर्ष संसार को उसके आगे की सीढी पर ले जाय। ऐसी दीखता है कि गांधी, अपने सत्य और अहिंसा के प्रकाश के द्वारा, एक नवीन समाज-व्यवस्था का दर्शन संसार को करावेगा। मेरी समझ में वह व्यवस्था हमें पूर्णस्वतंत्रता के निकट शीघ्र ले जानेवाली होगी। मेरे अन्दाज से वह क्या और कैसी होगी, इसका वर्णन आगे किया जायगा। यहा तो अभी हमें अपने आन्दोलन के सफल होने की शर्तों और अवस्थाओं पर विचार कर लेना है।

यह सफलता दो बातों पर सबसे अधिक अवलम्बित है—एक अहिंसात्मक वातावरण का कायम रहना, दूसरे, लोगों में, प्रत्येक वर्ग और समुदाय में परस्पर सहयोग का भाव बढना। यदि हमने पहली बात को खूब समझ लिया है और मजबूती से समझ लिया है, तो दूसरी बात के सधने में अधिक विलम्ब और कष्ट न होगा। अहिंसा के महत्व और

उद्योग को देखने के लिए तो अवतक के उनके बल और फल के दर्शन ही काफी हैं। परस्पर सहयोग बढ़ाने के लिए भिन्न-भिन्न समुदायों के हितों और स्वार्थों पर ध्यान रखने की आवश्यकता होगी।

किन्तु इसमें दो बड़े विघ्न हैं—(१) मुसलमानों की जिद और (२) देशी नरेशों का प्रश्न। मुसलमानों की मांगे यद्यपि न्याय्य नहीं हैं और वे देश के आनबान के अवसर पर बुरी तरह अड़ रहे हैं तथापि, मेरी राय में, कलम उनके हाथ में देकर उन्हें सन्तुष्ट कर लेने में किसी प्रकार हानि का डर नहीं है। इसीसे उनके प्रबल और सुसंगठित होकर खुद हिन्दुओं से लड़ बैठने या अफ्गानिस्तान को हिन्दुस्तान पर चढ़ा लाने की आशंका इस समय करना उचित नहीं है। क्योंकि अव्वल तो वे इतने कृतघ्न न होंगे, उनमें अब राष्ट्रीय विचार रखनेवालों का जोर बढ़ रहा है, और हम उन्हें पूर्ण सन्तुष्ट कर देंगे तो फिर उन्हें हमसे शिकायत ही क्या रह जायगी? यदि हमारे इस सद्‌व्यवहार का उन्होंने दुरुपयोग भी किया तो दुनिया उन्हींको थूकेगी और वे देश के बहुमत से आंखें मिलाने लायक न रहेंगे। इसके विपरीत आज हम उनके साथ तराजू हाथ में लेकर बैठे हुए हैं और बूंद-बूंद उन्हें दे रहे हैं। इसका फल यह हो रहा है कि अपने स्थान से हटकर हम दे भी रहे हैं, बहुत कुछ दे भी चुके हैं—अब सिर्फ पूंछ भर बाकी रह गई है—पर फिर भी उनका असन्तोष बना ही हुआ है और यदि यही हालत रही तो एक तो आन्दोलन की सफलता में विलम्ब होगा और दूसरे जब हमारी सरकार बनने लगेगी तब कई दिक्कतें पेश आ सकती हैं। इसलिए अभी से मुसलमानों के साथ हमें ठीक वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा घर में एक छोटे जिद्दी भाई के साथ ऐसे विकट और नाजुक मौके पर किया करते हैं।

देशी नरेश यों भारतीय स्वाधीनता के विरोधी नहीं मालूम पड़ते,

किन्तु वे अपनी स्थिति के विषय मे सजग और चिन्तित अवश्य है। अतएव उन्हे, जैसा कि नेहरू-रिपोर्ट मे किया गया था, उनकी वर्तमान स्थिति को कायम रहने देने का आश्वासन देते रहना सब प्रकार उचित होगा। इस समय उनकी ऐसी स्थिति है कि भारतीय स्वतत्रता को वे लाभ चाहे न पहुँचा सके, पर उसके बडे विघ्न जरूर बन सकते है—हमे कमजोर बनाने मे उनकी शक्ति बहुत काम दे सकती है। अतएव उनके साथ ऐसा व्यवहार करना, जिससे वे उलटा हमारे प्रतिपक्षियो का बल बढावे, हमारी रणचातुरी का परिचायक न होगा, बल्कि मेरी राय मे तो इस समय देश मे कोई भी ऐसा आन्दोलन उठाना या ऐसी कोई कोशिश करना, जिससे देश के भिन्न-भिन्न दलो और वर्गो मे परस्पर कलह और संघर्ष हो या बढे, बिलकुल ना-समझी और अदूरदर्शिता होगी। यदि अभी से हम इसका अधिक ध्यान रक्खेगे तो स्वराज्य-सरकार के बनते समय भी हमे विशेष कठिनाइयो का सामना न करना पडेगा। पर यदि अभी से हमने तरह-तरह के भय के भूतो से डरकर, भिन्न-भिन्न समुदायो को भडकाते रहने का उद्योग किया तो हमारी सफलता मे ही विघ्न खडे होगे और दूसरे सरकार की स्थापना के समय गृह-कलह का पूरा अन्देशा रहेगा। इसके प्रतिकूल यदि अभी से हम इन्हे सतुष्ट रखते रहेगे तो तब और भी इन्हे शिकायत का, असतोष का, कोई कारण न रहेगा और इतने पर भी कोई अनहोनी बात इनकी तरफ से हुई तो गलती पर ये ही रहेगे, हम नही, और उसका सब 'फल' इन्हीको भोगना पडेगा, हमे नही।

एक और विघ्न रह गया है। वह खुद देश-भक्तो की तरफ से है और उसके मूल मे देश-सेवा तथा स्वराज्य आन्दोलन की सफलता का भाव ही है। वह है अहिंसा-प्रयोग के साथ-साथ यत्र-तत्र हिंसा-प्रयोग। यदि हिंसा के बल पर सुसगठित और सफल युद्ध करने की स्थिति मे

भारत होता तो शायद उसे अहिसा-वल को अजमाने की इच्छा ही न पैदा होती, पर अब जब कि वह रास्ता बन्द है और दूसरे वल से देश मे इतनी जागृति, निर्भीकता, वल और सगठन का परिचय मिल गया है, तव भी सेनापतियो के वार-वार मना करने पर भी वम का फूट जाना और पिस्तौलो का चल पडना अवश्य आश्चर्य और दुख मे डालता है। सरकार के एजेण्टो के भी ये कृत्य हो सकते है, जिससे ख्वामख्वाह यह वताया जा सके कि देखिए, शान्तिमय युद्ध कहा हो रहा है, शान्ति की ओट में मार-काट हो रही है, और दूसरे उन्हे अन्धा-धुन्ध दमनो एव भय प्रयोग के लिए मनचाहा अवसर मिल जाय। किन्तु वडे-वडे सरकारी कर्मचारियो पर वम-पिस्तौल चलने की खवरे सिर्फ इसी नतीजे पर नही पहुँचाती। हमारे ये भाई अधिक नही १० साल और ठहर जावे तो वडी हानि न नही। उनकी जल्दवाजी से आजादी जल्दी नही आवेगी, वल्कि दूर चली जा रही है, विघ्न और असुविधाये वढ रही है और इसका वुरा असर हमारी भावी सरकार के सगठन पर भी होगा।

एक आशका यह भी की जा सकती है कि अपनी सरकार वनते समय यहा गृह-कलह हो जाय ओर वह हिसात्मक हो सकता है। यदि ऐसा हो तो प्रथम तो सरकार की स्थापना ही मुश्किल, दूसरे उसके सगठन मे अहिसा की नही वल्कि हिसा की तूती वोले विना न रहेगी। गृह-कलह या तो हिन्दुओ और मुसलमानो मे हो, या देशी राजाओ और भारतीय जनता मे हो, या अन्य अल्प-सख्यक तथा वहुसख्यक जातियो मे हो। मुसलमानो और हिन्दुओ के कलह मे अफगानिस्तान की सहायता की आशका हो सकती है और कई लोगो को हो भी रही है। यह विषय विस्तार के साथ समझ लेने की जरूरत है, इसलिए इसका विवेचन अगले प्रकरण मे करेगे।

[२]

गृह-कलह की आशङ्का

मेरी राय मे तो यह आशका तबतक बनी रहेगी, जबतक हम अभी से उसके कारणो को दूर करने की हार्दिक चेष्टा न करते रहेगे। हिन्दू-मुसलमानो मे अविश्वास का भाव मौजूद है और हिन्दुओ को यह भय है कि सिन्ध प्रान्त के अलहदा हो जाने, पजाब मे उनको अधिक प्रतिनिधि दिये जाने और सीमा-प्रान्त मे अधिक सुधार हो जाने से उत्तरी भारत का बडा हिस्सा प्राय मुसलमानो के ही कब्जे मे चला जायगा, फिर उनके लिए सुसगठित होकर हिन्दुओ से लडना या अफगानिस्तान को भारत मे चढा लाना आसान होगा। इस सम्बन्ध मे कई बाते विचार करने योग्य है। यदि हम मुसलमानो की मनचाही मागे पूरी कर दे, उन्हे छोटे भाई के से स्नेह से रक्खे, और फिर भी वे दगाबाजी या बेईमानी कर जायँ, तो भारत की दूसरी जातियो और अफगानिस्तान को छोडकर दूसरे पडोसी राष्ट्र जरूर भारत के तरफदार होगे। अव्वल तो मुसलमान इतने नमकहराम होगे नही। दूसरे वे हुए भी तो अफगानिस्तान की सरकार से उन्हे सहायता मिलेगी नही। क्योकि एक तो अफगानिस्तान बिना किसी दूसरे राष्ट्र की सहायता से भारत पर चढाई न करेगा। दूसरा कोई ऐसा प्रबल राष्ट्र नजदीक है नही, जो ऐसे समय उसकी सहायता करे। फिर अफगानिस्तान या उसका कोई पडोसी राष्ट्र ऐसा उद्योग-प्रधान भी तो नही है जिसे अपने बाजार के लिए हिन्दुस्तान पर चढाई करके उसे अपने कब्जे मे रखना पडे। यदि राज्य-विस्तार के लिए मुसलमानो और अफगानो का कोई

प्रयत्न हो तो यह व्यर्थ होगा। क्योंकि एक तो आजकल महज राज्य-विस्तार के लिए अनुकूल वातावरण भूमण्डल पर कही भी नही है। उसके प्रतिकूल अपने ही देश मे सुखी, स्वतन्त्र, स्वावलम्वी रहने की ओर प्रत्येक देश की रुचि बढ रही है। दूसरे सहायक राष्ट्र विना साझे के प्रलोभन के अफगानिस्तान का साथ क्यो देगा ? फिर हिन्दुओ और दूसरी जातियो से वैर बसाकर मुसलमान, अफगान या उनके सहायक राष्ट्र कितने दिनो तक अपनी खैर मना सकते है ? यदि अपने बिरते पर काम न चला तो हिन्दुस्तान, जापान और चीन की मदद ले सकता है। चीन और जापान की तरफ से तो चढाई की सम्भावना हो सकती नही। फिर क्रान्ति की सफलता के चिन्ह नजर आते ही हम पडौसी राष्ट्रो के नाम एक घोषणा निकालेगे, जिसमे उनके साथ मित्रता का व्यवहार रखने, उनके राष्ट्रो के लिए समय पडने पर आवश्यक सामग्री पहुँचाने आदि का आश्वासन दिया जायगा। हम साफ-साफ कहेगे कि हमारी नियत किसी तरह पडौसी राष्ट्रो को दुख देने या उन्हे हडपने की नही है। अतएव अपने हडपे जाने के डर से भी किसीके चढाई करने की सम्भावना न रहेगी। इसके अलावा मुसलमानो की आवादी ६ करोड और दूसरी जातियो की लगभग २८ करोड है। अकेले हिन्दुओ की सख्या ही २४ करोड है। निस्सदेह भारतीय क्रान्ति हिन्दुओ के बल पर अधिक आधार रखती है। प्रभानत उन्ही के बल पर यदि ब्रिटिश सल्तनत को झुकना पडा, तो फिर अफगानिस्तान या किसी दूसरे राष्ट्र की क्या ताब कि वह उसकी ओर आख उठाकर भी देख सके ? मर-मिटने पर तुल जानेवाली एक छोटी जाति को भी नेस्तनाबूद कर देना बडे-से-बडे राष्ट्र के लिए भी सम्भव नही है, तब २१ या २५ करोड के राष्ट्र को मुसलमान किसी तरह नही निगल

सकते, यदि निगला भी तो हजम होना और भारी पडेगा। यहा यह न भूल जाना चाहिए कि यदि जरूरत पडी ही तो हिन्दू या हिन्दुस्तान शस्त्र-बल का सहारा लेने से भी न चूकेगे। यदि ऐसा ही करना पडा तो उस समय बननेवाली सरकार मे बहुत सम्भव है तलवार का जोर रहेगा, जो कि वास्तविक स्वतन्त्रता की ओर उसे ले जाने मे बाधक होगा। बल्कि मेरा तो उलटा यह खयाल है कि यदि मुसलमानो ने ऐसी बेईमानी की ही तो उस स्थिति से लाभ उठाकर अफगानिस्तान के बजाय अग्रेज फिर अपना प्रभुत्व यहा आसानी से जमा सकते है। जो हो, मुझे तो इतनी बात निर्विवाद और असन्दिग्ध मालूम होती है कि यदि हमारा व्यवहार मुसलमानो के साथ भाईका-सा रहा तो यह सब होने की सम्भावना नही रह जायगी।

इस पर एक यह शका उठती है कि इस तरह मुसलमानो की जिद को पूरा कर देने से दूसरी अल्प-सख्यक जातिया भी क्यो न विशेषाधिकारो का अडगा लगावेगी? यदि मान भी लिया जाय कि ३४ करोड मे मे १० करोड छोटी जातिवाले विशेपाधिकार पा गये, या उन्हीके हाथो मे यहा की भावी सरकार चली गई, तो इससे विगडेगा क्या? अग्रेजो की बनाई इस मौजूदा सरकार से तो हर तरह बेहतर ही होगी। ओर क्या किसीको यह डर हो रहा है कि हिन्दू जैसी प्राचीन और प्रबल जाति को उन्हीकी बहन जातिया पीसकर खा जायँगी, जब कि मुख्यत उन्हीकी कुर्बानियो से भारत मे स्वराज्य हुआ होगा?

अब सिर्फ देशी-नरेशो का प्रश्न रह जाता है। इनमे अधिकाश तो मन मे यह जान चुके है कि यदि हमने लोकमत के आगे सिर न झुकाया तो हमारे दिन इने-गिने है। अतएव उनका रुख अपने भरसक तो यही रहेगा कि भारतीय स्वतन्त्रता मे किसी प्रकार बाधक न हो। पर यदि

हम उन्हे उनको निर्मूल कर डालने की धमकिया दे-देकर डराते रहे तो आत्म-रक्षा के लिए, सम्भव है, वे देश-द्रोही भी बन जायें। आज तो यो भी वे, सन्धि-पत्रो के अनुसार, ब्रिटिश सरकार की सहायता करने के लिए बँधे हुए है। पर ज्यो ही वे देखेगे कि भारतीय क्रान्तिकारियो का पलडा भारी हो रहा है, अंग्रेजी सरकार के पाव उखड रहे है, तो वे उनका साथ दिये बिना न रहेगे, क्योकि उसी दशा मे वे उनके हाथो अपने हित की कल्पना करेगे। दूसरे यदि क्रान्ति सफल होने के अवसर पर उन्होने क्रान्तिकारियो के खिलाफ अपना बल लगाया तो उनकी प्रजा मे भी जबरदस्त बगावत हुए बिना न रहेगी, और भारतीय क्रान्तिकारी भी उनमे आग फैलाये बिना न रहेगे। कई देशी-नरेशो की प्रजा जो आज भी उतावली हो रही है—भारतीय नेता अभी खुद ही उन्हे शान्ति धारण करने पर मजबूर कर रहे है और रोक रहे है। पर उस अवस्था मे तो चारो ओर आग फैलाना उनका धर्म हो जायगा। अतएव इस समय हमारा कर्तव्य, बुद्धिमत्ता और होशियारी यही कहती है कि देशी-नरेशो को हम अपने मुखालिफ होने का अवसर ही न दे। किसीको अपना साथी या मुखालिफ बना लेना हमारी रीति-नीति पर ही अवलम्बित रहेगा। यदि हम विश्वास मित्रता और बन्धुता की नीति पर चलेगे तो उनके हृदयो पर स्थायी अधिकार कर लेगे, यदि क्षुद्र बुद्धि और चालबाजियो से काम लेगे तो बहुत खोकर भी, क्या अल्प-सख्यक जातियो तथा क्या देशी-नरेशो, सबको अपना शत्रु बनाये बिना न रहेगे। और इस समय, जबकि दुनिया जाति-पाति तो ठीक, भौगोलिक भेद-भावो से भी आगे बढना चाहती है, मुसलिम-राज या हिन्दू-राज की कल्पना करना तो पागलपन ही कहा जा सकता है।

---

[३]

भारत का सन्देश

भारत का सन्देश दुनिया को क्या होगा ? कब वह दुनिया में उसे फैलाने के लिए तैयार होगा ? यह बहुत कुछ इस बात पर अवलंबित है कि भारत की भावी सरकार कैसी होगी। यदि अपनी सरकार बनाने में भारतीय जनता पूरी स्वतन्त्र रही तो सन्देश जल्दी और अपने वास्तविक रूप मे दिया जा सकेगा। भावी सरकार चाहे समझौता होकर बने, चाहे क्रान्ति सफल होकर बने, एक बात निर्विवाद है कि उसके निर्माण मे महात्मा गाधी और प० जवाहरलाल नेहरू का विशेष हाथ और प्रभाव रहेगा, यदि तब तक इन दोनो नेताओ की उम्र बरकरार रही। दूसरे, यह बात भी उतनी ही निर्विवाद है कि समझौता या क्रान्ति दोनो दशाओ मे इनका मूलाधार होगा जनता की जागृति और कुरबानी। अतएव जिनके बल पर सफलता मिलेगी, उन्हीका प्रभाव भावी सरकार के सगठन मे निश्चित रूप से रहेगा। प० जवाहरलाल समाजवाद का आदर्श रखनेवाले और महात्माजी उनसे एक कदम आगे, अपरिग्रह के पुजारी, है।[१] ऐसी दशा मे यह बेखटके कहा जा सकता है कि भावी सरकार मे सर्व-साधारण की ही आवाज प्रबल रहेगी, धन-बल और शस्त्र-बल की नही। धन-बल या पूजी-वाद भारत मे है भी नहीं। धनियो के द्वारा एक किस्म का सर्व-साधारण का शोषण जरूर होता है, धनी खुद अपनेको धन-बल पर बडा जरूर मानते है। दूसरे भी धन-बल के कारण धनियो से दबते है, पर फिर भी पूजीवाद

---

[१] परिशिष्ट ३ देखिए।

भारत मे नही है। पूंजीवाद के मानी है सगठित धन-बल और उसका वहा की सरकार पर अमित प्रभाव, जिसका फल हो धनियो का दिन-दिन धनी बनते जाना और गरीबो का दिन-दिन गरीब बनते जाना। यह हालत भारत मे नही है। फिर यहा के व्यापारी या धनी अथवा जमीदार स्वराज्य-सग्राम मे भी योग देने लगे है और भावी सरकार की स्थापना के समय वे अपनी महत्ता या प्रभाव जमाने का प्रयत्न बहुधा न करेगे। यदि करे भी तो वे तभी सफल होने की आशा रख सकते है, जब कोई बाहरी स्वतन्त्र पूंजीवादी राष्ट्र उनकी पीठ पर हो। ब्रिटिश साम्राज्य को शिकस्त देने के बाद शायद ही कोई राष्ट्र इनकी सहायता करने के लिए तैयार होगा, दूसरे यहा के व्यापारी या धनी इतने मूर्ख और देशद्रोही नही है, जो ऐसे समय दूसरे राष्ट्रवालो से मिलकर जय-चन्द का काम करे। इसलिए मुझे तो यह आशका बिलकुल नही है कि स्वराज्य-सरकार मे पूंजीवादियो की प्रबलता होगी और सर्व-साधारण जनता को फिर अपनी पहुँच करने के लिए दूसरी लडाई लडनी होगी।' या जनता-क्रान्ति करनी होगी। और यदि करनी पडी भी तो जिस शक्ति ने सुसगठित साम्राज्य को ढीला कर दिया होगा, वह क्या मुट्ठी-भर पूंजीपतियो के कोलाहल या प्रभाव से दब जायगी ?

शस्त्र-बल या सेना-बल यो तो किसीके पास भारत मे रहा नही है, हा, देशी नरेशो के पास थोडी-सी सेना है, वे शस्त्र-बल के प्रतिनिधि कहे जा सकते है। लेकिन इसके बल पर वे भारतीय सरकार का अग बनने मे सफल नही हो सकते। हा वे अपनी जान अलबत्ता बचा लेना चाहते है। सो यह अधिकाश मे अवलम्बित है उनके स्वराज्य-सग्राम-सम्बन्धी रुख पर। यदि उनका व्यवहार महानुभूति-पूर्ण रहा, तो अपनी सरकार बनते समय उनकी सुरक्षा का खयाल लोगो को स्वा-

भाविक तौर पर रहेगा ही, यदि उन्होने इस समय बेरुखापन दिखाया तो उस समय वे अपने लिए सहानुभूति पाने की आशा कैसे रख सकते हैं ? इसके अलावा देशी नरेशो की सख्या बहुत है और उनमे इस पर एका होना मश्किल है कि भारत मे जनता की और जनता के नेताओ की इच्छा के खिलाफ अपना राज्य जमा लिया जाय। शुरुआत मे एका हो भी जाय तो अखीर मे बटवारे के या बडा राजा चुनने के समय आपस मे झगडा हुए बिना न रहेगा। और ऐसे देशभक्त राजा भी है, जो अभी से ऐसी किसी कु-योजना का हृदय से विरोध करेंगे।

इससे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि जो सरकार हमारी बनेगी, वह जनता की बनाई हुई होगी और उसीका बोलबाला उसमे रहेगा। और जबकि घोर युद्ध और क्रान्ति के दिनो मे सत्य-प्रधान और अहिसात्मक साधनो से सफलता मिली होगी, तब सरकार और समाज की बुनियाद इन्ही पर डाली जायगी, यह स्पष्ट है। और जिसके मूलाधार सत्य और अहिसा होगे, वह निस्सन्देह पूर्ण स्वतन्त्रता की इमारत होगी। भले ही शिखर तक पहुँचने मे काफी समय लगे, पर उसकी बुनियाद और खम्भे उसीको लक्ष्य करके खडे किये जायँगे। इस तरह सच्ची और पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर शीघ्र ले जानेवाली सरकार और इसलिए समाज की रचना का नमूना यह ससार को भारत की नजदीकी देन होगी—दूसरे शब्दो मे पूर्ण स्वतन्त्रता और उसके दो बडे पाये सत्य और अहिसा का प्रत्यक्ष ढाचा, यह भारत का सन्देश ससार के लिए होगा। यह रूस के सन्देश से बढकर होगा।

---

[४]

रूसी और भारतीय सन्देश

रूस ने साम्यवाद या कुटुम्ववाद—कम्यूनिज्म—का नमूना ससार को दिखाया है। वह आदर्श समाज मे किसी मरकार की आवश्यकता नही मानता। वह पूजीवाद को या सम्पत्ति के असमान बटवारे को समाज की सारी बुराई की जड मानता है। इसलिए उसने ऐसी सरकार बनाई है, जिसमे किसानो और मजदूरो की ही पहुँच है, धनी-मानी लोग उससे महरूम रक्खे गये है। वहा यह नियम बना दिया गया है कि सरकार मे मत देने का अधिकार उसीको है, जो खुद काम करता हो। जो ठलुए बैठे रहते है, या दूसरो की कमाई पर गुलछर्रे उडाते है, उनकी कोई आवाज सरकार मे नही है। सम्पत्ति का समान बटवारा करने की गरज से उन्होने किसीको खानगी मिल्कियत रखने का अधिकार नही रक्खा है—अभी कुछ समय तक पुराने लोगो को अपनी सम्पत्ति रख छोडने का अपवाद कर दिया गया है, पर मरकार मे उन्हे राय देने का अधिकार नही है। इसके अलावा जमीन-जायदाद, कल-कारखाने सब राज्य के अधीन कर दिये गये है। काम करने के एवज मे नकद पैसा किसीको नही मिलता। सरकार की ओर से दूकाने खुली हुई है, वहा से रसद-कपडे वगैरा जरूरी चीजे सबको मिल जाती है। व्यापार और उद्योग-धन्धे भी सरकार के ही आधीन है। आदर्श समाज मे उन्होने सब तरह की हिसा का वहिष्कार माना है, किन्तु अभी सन्धि-काल मे, हिंसाबल की आवश्यकता मरकार मे समझी गई है। समाज-रचना मे ईश्वर और धर्म के लिए कोई जगह नही रक्खी गई है और

विवाह-प्रथा को उठाकर स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को बहुत आजादी दे दी है। एक स्त्री का कई पुरुष से और भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुषो का भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुषो से सम्बन्ध रह सकता है। सन्तति के पालन-पोषण व शिक्षण का भार राज्य पर है।

जहातक सर्व-साधारण के सुख-सुविधा-स्वतत्रता से सम्बन्ध है, उससे पहले शासन-प्रणालियो की अपेक्षा यह निस्सन्देह बहुत दूर तक जाती है। साधन और ठीक-ठीक जानकारी के अभाव मे यह राय कायम करना अभी कठिन है कि वह प्रयोग रूस मे कितनी सफलता के साथ हो रहा है। अच्छा तो यह हो कि हमारी राष्ट्रीय सरकार बनते ही एक शोधक-मण्डल भारत से रूस को एक साल के लिए भेजा जाय और वहा वह सभी दृष्टियो मे नवीन प्रयोगो का अध्ययन करे और फिर उससे यहा लाभ उठाया जाय। फिर भी शासन के बुनियादी उसूलो के गुण-दोष पर विचार करके इतना निस्सन्देह कहा जा सकता है कि कुटुम्बवाद पिछले तमाम वादो की अपेक्षा, सामाजिक स्वतन्त्रता मे, बहुत आगे का कदम है। किन्तु साथ ही वह पूरा कदम नही है।

पिछले लेखो मे हमने देखा है कि जबतक सत्य और अहिसा को मूलाधार न माना जाय और इन पर अमल न किया जाय, तबतक पूर्ण और सच्ची स्वतन्त्रता का आना और निभना कठिन है। इसके अलावा एक और बात है, जिसमे सोवियट-प्रणाली अधूरी है। सामाजिक अव्यवस्था, विषमता या अशान्ति की असली जड सम्पत्ति का असमान बटवारा नही बल्कि परिग्रह की वृत्ति है। साधारण आवश्यकताओ से अधिक सामग्री अपने पास रखना ही असली बुराई है। दूरदर्शी विचारको ने इसे चोरी कहा है। समान बटवारे के मूल मे भोगेच्छा और उसके फल-स्वरूप कलह शेष रह जाता है पक्षान्तर मे, अपरिग्रह दोनो की

जड मे कुठाराघात करता है। समान बटवारा एक ऊपरी इलाज है, अपरिग्रह मनुष्य की इच्छा पर ही सयम लगाना चाहता है। एक बाहरी बन्धन है, दूसरा भीतरी विकास। समान बटवारा जीवन के स्टैण्डर्ड पर कोई कैद नही लगाता, सिर्फ सम्पत्ति के समान रूप मे बट जाने का निर्णय उसे चाहिए, इसके विपरीत अपरिग्रह जीवन की साधारण आवश्यकताओ तक ही मनुष्य को परिमित बना देना चाहता है। अतएव इसमे मनुष्य के लिए स्वेच्छा-पूर्वक त्याग, सयम और उसके फल-स्वरूप सामाजिक तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता अधिक रहेगी।

पूर्ण-स्वतन्त्रतावादी मे और समाजवादी मे एक यह भी अन्तर है कि पहला अहिसा को शुरू से लेकर अन्त तक अनिवार्य और अटल मानता है। यह कहना कि सक्रमण-काल मे हिसा अनिवार्य है, यही नही बल्कि वह अन्तिम अस्त्र है, पूर्ण-स्वतन्त्रतावादी की समझ मे नही आता। आपद्धर्म के रूप मे जो बात स्वीकार की जाती है उसके समर्थन का और प्रचार का उद्योग कही नही किया जाता—अधिक-से-अधिक उसका तात्कालिक बचाव-मात्र किया जा सकता है, और उसे अन्तिम अस्त्र की महत्ता तो हर्गिज नही दी जा सकती। अन्तिम अस्त्र के मानी है सर्वोपरि अस्त्र। एक ओर हिसा को सर्वोपरि अस्त्र मानना, और व्यवहार मे भी उसका इसी तरह इस्तैमाल करना, इस बात मे कैसे श्रद्धा पैदा कर सकता है कि हा, समाजवाद या कुटुम्बवाद की अन्तिम अवस्था मे हिसा का पूर्ण अभाव रहेगा? अहिसा का वास्तविक लाभ और असली महत्व तो, अधिकाश रूप मे, सक्रमण-काल मे ही है। क्योकि जबतक आप समाज को अहिसा और सत्य की दीक्षा नही दे सकते तबतक आप किसी न-किसी रूप मे सरकार—शासक-सस्था को स्वीकार किये बिना नही रह सकते, जो कि कुटुम्बवाद के आदर्श के विरुद्ध है। और यह आशा करना भी

अभी तो व्यर्थ-सा ही मालूम होता है कि जबरदस्त और घोर हिंसा-बल के द्वारा एक क्रान्ति हो, उसी प्रकार यह आशा करना भी व्यर्थ-सा ही है कि हिंसा-बल के द्वारा आज भी शासन-सस्था का सचालन होता हो, फिर भी समाज मे अहिंसा दिन-दिन बढती ही जायगी। समाज मे अहिंसा तो तभी बढ सकती है, जब समाज के नेता, शासन के सूत्रधार, अपने जीवन मे उसे परमपद दे, अहोरात्र उसके प्रचार मे रत रहे, उससे भिन्न या विपरीत भावो का उत्साह और बल अपनी साधना और व्यवस्था के द्वारा न बढने दे, बाहरी बल से किसी को न दबाया जाय, बल्कि भीतरी परिवर्तन से मनुष्य और समाज को ऊँचा उठाया जाय, शान्ति-प्रिय बनाया जाय। इसके विपरीत यदि अग्रणी लोग खुद ही, उनके दाये-बाये हाथ सभी, मुह से आगे के लिए अहिंसा का नामोच्चारण करे पर क्रिया मे सर्वदा हिंसावादी रहे, तो इसपर कौन तो विश्वास करेगा और किस तरह समाज मे हिंसावृत्ति का लोप हो सकता है? यह तो जहर पिलाकर अमर बनाने का आश्वासन देना है। जहा असहिष्णुता इतनी बढी हुई हो कि विरोधी मत तक नही प्रकाशित किया जा सकता, सो भी लोकमत के बल पर नही बल्कि जेलखाने और पिस्तौल के बल पर, वहा हिंसा के नाश की बात एक मखौल ही समझी जा सकती है। मुझे तो ये बाते परस्पर-विरोधी और एक-दूसरे का घात करनेवाली मालूम होती है। अस्तु।

ईश्वर, और धर्म पर पहले सविस्तर विचार हो ही चुका है। यहा तो सिर्फ इतना ही कहना काफी होगा कि रूस की नकल हिन्दुस्तान मे नहीं हो सकती—महज इसलिए नही कि दोनो जगहो की परिस्थितियो मे अन्तर है बल्कि इसलिए भी कि समाजवाद के माने गये उसूलो मे ही अव्वल तो कमी है और दूसरे उसके साधन भी शुद्ध और आदर्श तक ले

जानेवाले नही है। इस कमीको पूरा करना भारतवर्ष का काम होगा। वह ससार को समाजवाद का नमूना नही, बल्कि पूर्ण-स्वतन्त्रता की झलक दिखावेगा। सत्य और अहिसा उसके पाये होगे और अपरिग्रह उसका व्यवहारिक नियम। वह सिर्फ अमीरो की जगह गरीबो का राज्य नही कायम करेगा, सिर्फ तख्ता नही उलट देगा, बल्कि सर्वोदय का प्रयत्न करेगा—शासन-सस्था बनेगी और रहेगी तो ऐसी कि किसी वर्ग-विशेष या जाति-विशेष से द्वेप न होगा, और जब शासन-सस्था को मिटाने का समय आ जायगा तब कोई किसीका हाकिम या शासक नही रहेगा बल्कि सब अपने-अपने घर के राजा रहेंगे और होगे। यही ससार को भारत का सन्देश होगा।

[५]

भारत की पहली सरकार

भारत की पहली सरकार जनता की सरकार होगी, इसमे मुझे कोई सन्देह नही है और इसके कारण पहले बताये जा चुके है। फिर भी वह ऐसी न होगी, जिसमे किसानो और मजदूरो के अलावा किसीकी पहुच और गुजर ही न हो। उसमे राय देने का अधिकार 'श्रम' पर नही, बल्कि 'सेवा' पर होगा। आलस्य, परोपजीवन, निकम्मा-पन, तिरस्कृत होगा, श्रम, उद्योग, काम, सेवा का आदर-मान होगा। सग्रह की जगह पर अपरिग्रह या त्याग उच्चता की कसौटी होगी। सरकार केन्द्र-प्रधान (Unitary) नही, बल्कि प्रान्त-प्रधान (Federal) होगी अर्थात् सारे देश मे ऊपरी सरकार का दौर-दौरा न होगा, बल्कि भाषा आदि सस्कृति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रान्त या सूबे अपनी शासन

या समाज-व्यवस्था मे स्वतन्त्र होगे और यही नियम तथा प्रवृत्ति ठेठ गाव तक मे पहुँचाई जायगी । हर गाव अपने हर भीतरी काम मे स्वतन्त्र होगा, सिर्फ दूसरे गावो की अपेक्षा से ऊपरी सत्ता के अधीन होगा । अपने काम और विकास के लिए वह स्वतन्त्र होगा, और यो मव गाव परस्पर सहयोगी होगे । यही नियम कुटुम्ब, धन्धा और व्यक्ति पर भी चरितार्थ होगा । हर शख्स अपने काम मे म्वतन्त्र, दूसरे की अपेक्षा मे महयोगी और सयमी होगा । हर चीज अपनी जरूरत के लिए स्वाश्रयी और दूसरे के सम्वन्ध मे परस्पराश्रयी होगी । जिन उमूलो पर आज हमारी राष्ट्रीय महासभा चल रही है उन्हीका म्वतन्त्र और व्यापक विकास हमारी भावी मरकार होगी । मेना कुछ कालतक रखनी पडेगी, पर वह स्थायी नही, राष्ट्रीय स्वयसेवक-मेना होगी । उसका काम अपने ही लोगो को या पडौसियो को दवाना, डराना और हडपना नही वल्कि भीतरी और वाहरी आक्रमणो या ज्यादतियो मे देश और समाज की रक्षा करना होगा । पुलिस हिफाजत के लिए और जेले अपराधियो के सुधार के लिए होगी । उनके भाव राष्ट्रीय सेवा के होगे, न कि तनम्वाह पकाने और जोर-जुल्म करने के । शिक्षा सार्वजनिक होगी—योग्य और समर्थ नागरिक वनाने के लिए न कि कारकुन, गुलाम और गली-गली का कुत्ता वनाने के लिए । स्त्री-पुरुष, गरीव-अमीर, सव समान-रूप से शिक्षा पाने के मुस्तहक होगे । समाज और मरकार मे, मार्वजनिक जीवन मे, मनुष्य मात्र मे समान अधिकार होगे । पेशे या जन्म के कारण कोई अछूत या नीच नही समझा जायगा । व्यापार-धन्धा व्यक्तिहित के लिए नही वल्कि देश-हित और समाज-हित के लिए होगा । व्यापार-उद्योग और भिन्न-भिन्न पेशो मे व्यक्तिगत म्वतन्त्रता होगी, पर उनकी आन्तरिक भावना और वृत्ति स्वार्थ-साधना की न रहेगी । 'मत्य और अहिसा के द्वारा पूर्ण

स्वतन्त्र होना' नागरिकता का ध्येय होगा। मनुष्य-यन्त्र को पूरा काम मिलने के बाद जड-यन्त्रो से काम लेने का नियम रहेगा। देश की आवश्यकता मे अधिक होने पर ही कच्चा माल बाहर भेजा जा सकेगा। और घरेलू उद्योग-धन्धो मे जो चीजे न बन सकेगी और जिनकी राष्ट्र के लिए परम आवश्यकता होगी उन्हीके लिए बडे कल-कारखाने खोले जायँगे। व्यापार-उद्योग स्पर्धा और मालामाल होने के लिए नही बल्कि समाज की सुविधा, सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए होगे। हर व्यक्ति हर काम अपने लिए नही बल्कि समाज के लिए करेगा। अपने काम मे वह स्वतन्त्र तो होगा, पर उसका जीवन अपने लिए नही बल्कि समाज के लिए होगा। जमीन का मालिक किसान रहेगा, पर वह गाव के अधीन रहेगा, अर्थात गाव-हित के विपरीत वह जमीन और पैदावार का उपयोग न कर सकेगा। खेती के खर्च और उसकी साधारण आवश्यकता से अधिक जो रकम बचेगी उसका निश्चित अश लगान के रूप मे लिया जायगा। मनुष्य की साधारण आवश्यकताओ के नियम बना दिये जायँगे और उससे अधिक आय या बचत पर राज्य-कर लगाया जायग। जमीदारो और साहूकारो की पद्धति उठा देनी होगी और गाव की पचायत की तरफ से किसान आदि को प्रसगोपात्त सहायता देने की व्यवस्था कर दी जायगी। गिरी, पिछडी और जरायमपेशा जातियो के सुधार के लिए विशेष प्रयत्न किया जायगा। धार्मिक स्वतन्त्रता और सहिष्णुता रहेगी। ईश्वर और धर्म के सम्बन्ध मे कोई विधि-निषेध न होगा। हा, जीवन को नीतिमय बनाने पर अलबत्ता पूरा जोर दिया जायगा। विवाहित जीवन और कुटुम्ब रहेगा, पर वह शरीर सुख और स्वार्थ के लिए नही, नैतिक और सामाजिक उन्नति तथा आत्मिक सुख के लिए होगा। स्वार्थ नही बल्कि समाज सेवा सबका एक लक्ष्य होगा। दबाव नही, बल्कि निर्भयता सबकी एक

वृत्ति होगी। प्रत्येक कुटुम्ब आर गाव को आवश्यक अन्न, दूध, घी, फल, साग, वस्त्र, शिक्षा, ओपधि, स्थान, जल, हवा आदि भरण-पोपण, शिक्षण और रक्षण की सामग्री अवाध रूप मे मिलती रहे—ऐसा प्रबन्ध होगा। रेल, तार, जहाज, डाक देश को लूटने के लिए नही बल्कि देश की सुविधा, आराम और उन्नति के लिए होगे। ग्राम आवाद करने और बसाने का अधिक उद्योग होगा, शहरो को फैलाने का नही। साराश यह कि मनुष्य-जीवन और जीवन-व्यवस्था सरल, सुगम और सुखकर रहे—इस बात की ओर विशेष ध्यान रक्खा जायगा।

मेरी समझ के अनुसार, भारत की पहली स्वतन्त्र सरकार की रूप-रेखा यही रहनी चाहिए और ईश्वर ने चाहा तो यही रहेगी।

[६]

ग्राम-रचना

अपनी सरकार बनते ही सबसे पहले ग्राम-रचना की ओर ध्यान देना होगा। अभी गाव जिस तरह बसे हुए है उसमे न तो कोई तरीका ही दीख पडता है, न सफाई का ही ध्यान रक्खा गया है। मकानो मे काफी हवा और प्रकाश नही रहता। गाव आसपास की जमीन से कुछ ऊँचाई पर होने चाहिएँ। कतार और सिलसिले मे मकान बने हो, रास्ता काफी चौडा हो, पनाले हो, गोवर और खाद के लिए पूर्व या दक्षिण दिशा मे एक जगह मुकर्रर हो। मनुष्य के पाखाने और पेशाब का कोई उपयोग गावो मे नही होता। इसलिए खेतो पर चलते-फिरते पाखानो का प्रबन्ध हो और यह नियम रहे कि कोई सिवा बीमारी के इधर-उधर पाखाने न बैठे। पशु-शाला भी स्वच्छ-सुघड रहे। ग्राम-पाठशाला मे पशु-

रक्षण और पशु-चिकित्सा पढ़ाई जाय । खेती और उद्योग धन्धो का पुस्तकीय और अमली ज्ञान कराया जाय । सर्व-साधारण का एक उपासना मन्दिर रहे । उपसना ऐसी हो, जिसमे सब धर्मों-मजहबों और जातियो के लोग आ सके । घर मे अपनी-अपनी विशिष्ट पद्धति मे पूजा-अर्चा करने की स्वाधीनता प्रत्येक व्यक्ति और कुटुम्ब को रहेगी । गाव की एक पचायत होगी, जिसमें सभी जाति-पाति और पेशे के बालिग लोगो को चुनाव का अधिकार होगा और प्रतिवर्ष उसका चुनाव हुआ करेगा। प्रतिनिधि-मण्डल की, पचायत की बैठक नियत समय पर होगी, जिसमे आपस के लडाई-झगडे, स्वच्छता, औषधि, पाठशाला, उपासना-मन्दिर, गोशाला, खेती-सुधार आदि ग्राम-सम्बन्धी सभी विषयो पर विचार और निर्णय होगा । अन्याय और अत्याचार की अवस्था मे हलके की बडी पचायत मे अपील हो सकेगी । कई गाव मिलकर हलके होगे और कई हलके मिलकर तहसील । इसी तरह कई तहसील मिलकर जिला ओर जिलो से प्रान्त आदि होगे । प्रान्त-विभाग भाषा और सस्कृत के अनुसार होगा । ग्राम-सभ्यता के विकास की ओर पूरा ध्यान दिया जायगा । ग्रामो के कारण स्वतत्रता बिखरी हुई रहती है । शहरो के कारण एक जगह एकत्र हो जाती है । सत्ता या स्वतत्रता जितनी ही एकत्र या केन्द्रित होगी उतनी ही जनता या सर्व-साधारण की पराधीनता बढेगी । नगरो की वृद्धि मे घनी आबादी, कुटिलता, कृत्रिम साधन, अनीतिमय जीवन, दुर्व्यसन और परावलम्बिता बढती है, इसके विपरीत ग्राम-जीवन मे सरलता, स्वाभाविकता, स्वावलम्बन, सुनीति और सुजनता का विकास होता है ।

प्रत्येक गाव की जमीन निश्चित होगी और वह आवश्यकतानुसार प्रत्येक कुटुम्ब मे बँटती रहेगी । मनुष्य के जीवन का—रहन-सहन का

एक साधारण नमूना बना लिया जायगा और उसके अनुसार सबको सब बाते सुलभ करदी जायँगी। जमीन में किसान सब तरह की आवश्यक चीजे पैदा करेगे और अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति होने के बाद उन्हे बेचेगे। लगान सिर्फ उतना ही होगा, जितना छोटी या बडी पचायतो के खर्च आदि के लिए जरूरी होगा, या बचत का एक उचित अश-मात्र लिया जायगा। किसान खुद ही नियत समय पर पचायत मे लगान दे आया करेगे। लडाई झगडे या अन्याय-अत्याचार की अवस्था में ही पचायत किसीके जीवन में हस्तक्षेप करेगी। परस्पर सहयोग का भाव प्रबल होगा। दूध-घी की इफरात होगी। कोई चीज गाव के बाहर तभी जा सकेगी, जब उसकी आवश्यकता गाववालो को न होगी, या दूसरे गाववालो का जीवन उसके बिना कठिन और असम्भव होता होगा। पचायत या राष्ट्र के खर्च के अलावा ओर किसीका कर या लगान किसान पर न होगा, यो पचायत का सब काम नियमाधीन होगा, परन्तु यदि कोई ऐसा नियम किसी प्रकार बन गया हो जिससे लोगो का अहित होता हो, या अनीतिमय हो, तो व्यक्तियो को उसे तोडने का अधिकार होगा, बशर्ते कि वे उसकी सजा पाने को तैयार हो। ऐसे कानून-भग का अधिकारी वही मनुष्य हो सकता है, जो सब दशाओ मे और नियमो का पूरा-पूरा पालन करता हो। ग्राम मे एक पुस्तकालय होगा, जिसमे प्रान्त के अच्छे अखबार, प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय भाषाओ की आम पुस्तके, मासिक पत्र रहेगें और उसके लिए कोई फीस न रहेगी।

प्रत्येक ग्रामवासी पहले अपने को मनुष्य, फिर हिन्दुस्तानी, फिर किसी जाति या पाति या पेशे का मानेगा। अपने ग्राम-सम्बन्धी कर्त्तव्यो का पालन करते हुए भी वह हलके, तहसील, जिला, प्रान्त या देश-सम्बन्धी कर्त्तव्यो के पालन मे उदासीन न रहेगा। राष्ट्र या प्रान्त की

पुकार पर वह सबसे पहले दौडेगा। ग्राम-कार्यों मे वह स्वतन्त्र और देश-कार्यो मे परस्पराश्रित रहेगा। उसके जीवन मे आवश्यकता की प्रधानता रहेगी, शौक की नही। सुन्दरता, कला और सुघडता का वह प्रेमी होगा, पर विलासिता, कृत्रिमता और इच्छाओ का गुलाम न होगा। तम्वाकू, अफीम, इन दुर्व्यसनो को वह छोड देगा, और चाय, काफी को अपने गाव मे न घुसने देगा। वह परिश्रमी और कार्यरत होगा—ठलुआ, आलसी और वेकार नही। शारीरिक श्रम ही उसका जीवन होने के कारण अलग व्यायामशाला या खेलो की उसे आवश्यकता न होगी। खेतो और जगलो मे काम करना उसके लिए व्यायाम, मनोरजन, और कमाई सव एकसाथ होगे। खेती से जव फुरसत मिलेगी तो वह कपडे, रस्सी, टोकरी, मकान तथा औजार-वनाई मे अपना समय लगावेगा। कताई घर-घर मे होगी और वुनाई गाव-गाव मे। नमक, दियासलाई और मिट्टी का तेल—इन तीन चीजो को छोडकर शेष सव चीजे प्राय प्रत्येक ग्रामवासी अपने गाव मे पैदा कर लेगा। वुननेवाले, जूता वनानेवाले, लकडी का काम करनेवाले यदि अलहदा होगे भी तो उनसे किसी प्रकार की घृणा न करेगा। गन्दगी और वुराई से नफरत होगी, न कि किसी व्यक्ति या जाति से। गाव के कामो के लिए मजदूरी की प्रथा न होगी, वल्कि एक-दूसरे के सहयोग से खेती-वारी के तथा सामाजिक काम होते रहेगे। अव्वल तो जमीन और धन्धो का वँटवारा या प्रवन्ध ही इस तरह होगा कि जिससे गाव मे या आसपास किसीको अपना पेट भरने के लिए चोरी, डाका आदि न करना पडे। फिर भी जवतक ऐसी स्थिति न हो जायगी तबतक गाव के युवक खुद ही वारी-वारी से गाव की चौकी देते रहेगे। सव जगह आवश्यकता-पूर्ति ही मुख्य उद्देश होगा—इसलिए नमक, तेल, दियासलाई, रुई

आदि गावो मे सहज ही न आनेवाली चीजो के अलावा और चीजो की खरीद-बिक्री स्वभावत नही के बराबर होगी। इससे उन्हे सिक्के-नोट आदि की जरूरत भी बहुत कम रह जायगी। जीवन के लिए आवश्यक प्राय सब बातो का सुपास होगा, इसलिए नैतिक जीवन अपने-आप अच्छा और ऊँचा रहेगा। क्योकि जब जीवन की आवश्यकताओ का स्वाभाविक और सीधा मार्ग रुक जाता है तभी मनुष्य नीति और सदाचार से गिरने लगता है। अग्रेजी राज्य मे भारत का जितना नैतिक अध पतन हुआ है उतना न मुसलमानो के काल मे था, न उससे पहले। बल्कि चन्द्रगुप्त के काल मे तो यहा मकानो मे ताले तक न लगते थे। सरकार अपनी और जनता की हो जाने के बाद हर गाव की यह स्थिति हो सकती है कि न मकानो मे ताले लगे, न गाव मे चौकी देना पडे।

कैसा लुभावना है यह गाव का दृश्य! क्यो न हम आज ही से ऐसे गाव बनाने मे अपना दिमाग और दिल दौडावे? किन्तु यह हो किस तरह? इसका रास्ता 'गावो की ओर'[१] मे मिलेगा।

[७]

उपसंहार

पाठको, यह न समझिए कि जीवन की स्वतत्रता या सम्पूर्णता के लिए मुझे जो कुछ कहना या लिखना था वह सब खतम हो चुका। परन्तु, हा, अब इस पुस्तक की समाप्ति हो गई है, यद्यपि इसके आशय की पूर्ति इतने ही से नही हो जाती है। कहने-सुनने या लिखने-पढने से बहुत हुआ तो हमारी कुछ अज्ञान-निवृत्ति हो जाती है,

---

[१] देखिए परिशिष्ट न० ६

कुछ विचार सुलझ जाते हैं, हृदय को कुछ प्रेरणायें मिल जाती हैं, परन्तु इतने ही मे जीवन के उद्देश की सिद्धि नहीं हो जाती। वह तबतक नही हो सकती जबतक अपने विचार या ज्ञान के अनुकूल आचरण नही होता। ज्ञान बहुत हो गया, विचार बहुत अच्छे है, भावनायें बहुत शुद्ध और ऊँची है, परन्तु आचरण यदि वैसा नहीं है तो वह उस खजाने की तरह है जिसका ताला बन्द है। उससे न अपनेको ही विशेप लाभ होता है, न जन-समाज को ही। इसके विपरीत यदि हम कार्य तो बहुतेरे करते रहे, किन्तु यदि वे ज्ञान-युक्त नही है, विवेक और विचार-पूर्वक नही किये जाते है, तो उसका परिणाम भी पहाड खोदकर चूहा निकालने के बराबर हो जाता है। क्योकि यदि निर्णय आपका ठीक नही है। कार्य-प्रणाली निर्दोप नही है, कार्यक्रम विधिवत् नही है, मूल-प्रेरणा शुद्ध नही है तो आपके कार्य का फल हरगिज ऐसा नहीं निकल सकता जिससे आपके या समाज के जीवन का विकास हो, उनकी गति स्वतन्त्रता या सम्पूर्णता की ओर बढे। जैसा आपका सकल्प होगा, वैसे ही आप अपने कार्य को, फलत अपनेको, बनावेगे। सकल्प तभी अच्छा हो सकता है जब चित्त शुद्ध हो। चित्त-शुद्धि का एक ही उपाय है, राग और द्वेष से अपनेको ऊपर उठाना। कहा ही है—

'क्रियासिद्धि सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।

अर्थात्—सफलता बाहरी साधनो पर नहीं बल्कि मनुष्य के सत्व पर यानी शुद्ध चित्त, शुद्ध बुद्धि और शुद्ध भाव पर अवलम्बित है।

ऐसी दशा मे पाठक यह समझने की भूल न करे कि इस पुस्तक को पढ लिया ओर बस अपना कर्तव्य पूरा हो गया। बल्कि, सच पूछिए, तो उसके बाद उनका कर्तव्य आरम्भ होता है। यदि इसके द्वारा उन्हे अपने जीवन की ठीक दिशा मालूम हो जाय, और उन्हे अपना कर्तव्य

मूझ जाय तो तुरन्त ही उन्हे तदनुकूल अपना जीवन-क्रम वनाने मे तत्पर हो जाना चाहिए। उसके विना उन्हे न इस पुस्तक का, न अपने जीवन का ही सच्चा स्वाद मिल सकेगा। उन्हे जान लेना चाहिए कि जीवन कोई खिलवाड या मनोरजन अथवा आमोद-प्रमोद की वस्तु नही है। वह वहुत गम्भीर और पवित्र वस्तु है जो हमे वरसो की सस्कृति के साथ विरासत मे मिली है और हमे, सच्चे और अच्छे उत्तराधिकारी की तरह, उसकी शुद्धि और वृद्धि करनी है। जिस प्रकार एक विद्यार्थी जी-जान से मचिन्त रहकर परीक्षा की तैयारी करता है, या वह पिता जिसकी लडकी का व्याह होता हो, एक क्षण की भी विश्रान्ति या निश्चिन्ति के विना, एक के वाद दूसरे कार्य मे लग जाता है, उसी तरह एक मनुष्य जवतक एक नियत कार्यक्रम लेकर अपने जीवन को वनाने के लिए छटपटायेगा नही तवतक सम्पूर्णता और स्वतत्रता तो दूर मनुष्यता की शुरूआत भी उससे नही सकती। अतएव मेरी उन तमाम भाई-वहनो से, जिनके हाथ मे यह पुस्तक पड जाय, साग्रह प्रार्थना है कि वे पुस्तको के साथ ही महा-पुरुपो के जीवनो को भी पढे। महापुरुष इसीलिए आते है कि अपने महान् उदाहरण और कर्म-कौशल के द्वारा जगत् और जीवन को कर्म की सच्ची दिशा दिखावे। पुस्तके पढने से विचार-जागृति होती है, किन्तु महापुरुपो का जीवन प्रत्यक्ष और सम्पर्क हमे तदनुकूल जीवन वनाने की ओर ले जाता है और हमारा वर्पो का कार्य महीनो और कभी-कभी तो मिनटो मे पूरा हो जाता है। हम सिद्धान्त, आदर्श तथा ज्ञान की वहुतेरी वाते जान और मान तो लेते है, परन्तु हमे उनकी सचाई का, वास्तविकता का, या व्यावहारिकता का इत्मीनान महापुरुषो के जीवनो से ही अच्छी तरह होता है। पुस्तक तो उनके अनुभव या आविष्कृत ज्ञान का एक जड और त्रुटियुक्त सग्रह-मात्र हो सकती है। इसलिए जीवन वनाना हो,

जीवन को सुखी, स्वतत्र और सम्पूर्ण वनाना हो तो अपने काल के महापुरुषो से प्रत्यक्ष जीवन को पढो, उनके स्फूर्तिदायी सम्पर्क और ससर्ग मे अपने जीवन में चैतन्य को अनुभव करो एव अपनी-अपनी आत्मा को विश्वात्मा मे मिला दो। योग-साधक अरविन्द ने क्या खूव कहा है—

'हैं ये तीनों एक—ईश, स्वातन्त्र्य, अमरता,
आज नहीं तो कभी सिद्ध होगी यह समता।'

अरे पामर मनुष्य! कब तेरे जीवन मे यह समता सिद्ध होगी?

परिशिष्ट (५)

सामाजिक आदर्श

कई लोगों का मत है कि भारत के लिए कोरी राजनैतिक स्वाधीनता काफी नही है। जब तक हमारा सामाजिक आदर्श ही नही बदला जायगा तब तक न भारत का भला हो सकता है, न दुनिया का। इस अर्थ मे आज दुनिया की और भारत को एक ही समस्या है। कुछ काल पहले तक यह माना जाता रहा था कि एक राजा हो और वह प्रजा का हित करता रहे। समय पाकर यह राजा प्रजा का भला करने के बजाय आप ही उसका प्रभु और कर्ता-धर्ता बन गया और, अपने स्वेच्छाचारों की पूर्ति के लिए प्रजा पर मनमाना ज़ोरो-ज़ुल्म करने लगा। तब लोगों ने देखा कि यह गलती हुई—कुछ नही, राजा को छोडो, अब से प्रजा का चुना हुआ प्रतिनिधि-मण्डल और अध्यक्ष प्रजा का हित साधन करे। अब इसका भी फल कई जगह यह हो रहा है कि धनी और प्रभावशाली लोग

साँठ-गाँठ लगाकर प्रतिनिधि-मण्डल में पहुँच जाते है और एक राजा के बजाय बीसों राजा, प्रजा के प्रतिनिधि के नाते, प्रजा के हित के नाम पर, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं और उनपर प्रजा को कुरबान करते हुए भी नही हिचकते। गत यूरोपीय महाभारत मे यही अनुभव हुआ। तब लोगों के विचारों ने फिर पलटा खाया। अब कुछ लोग कहने लगे है, नही धनी और प्रभुताशाली लोगों के हाथों में शासन को बागडोर न होनी चाहिए, सर्व-साधारण और जनता के हाथों में होनी चाहिए। इस विचार के लोग, थोडे-थोडे विचारभेद के साथ, सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट और बोल्शेविक कहे जाते हैं। वे कहते है कि केवल राज-काज मे नही बल्कि सारे सामाजिक-जीवन मे सबको अपनी उन्नति और सुख के समान साधन और सुविधाये मिलनी चाहिए, फिर वह राजा हो या रक, धनी हो वा किसान, पढा हो या अपढ, स्त्री हो या पुरुष। यह कोई राजनैतिक ही नही एक भारी सामाजिक क्रान्ति का चिन्ह है। ऐसा जान पडता है कि प० जवाहरलाल नेहरू भारत को यही सन्देश देना चाहते हैं कि तुम्हारा काम खाली राजनैतिक सत्ता ले लेने से नही चलेगा, बल्कि ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए जिससे वह सत्ता मुट्ठीभर प्रभावशाली लोगों के हाथों मे न रहे, जनता के हाथों मे रहे। फिर केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही नही, बल्कि जीवन के सभी विभागों में समता और समानता का दौर-दौरा होना चाहिए। इसी दिशा मे यदि दूर तक विचार करे तो हमे इस नतीजे पर पहुँचना पडता है कि जब तक सरकार अर्थात् सत्ता रखनेवाली कोई भी, किसी भी प्रकार की सस्था, समाज मे रहेगी तब तक सबको समान साधन और समान सुविधा नही मिल सकती—आत्म विकास की पूरी स्वाधीनता किसीको नही मिल सकती। यह तो तभी हो सकता है जब समाज मे सब लोग ऐसे बन जायँ और इस तरह परस्पर व्यवहार

करने लगें जिसमें किसी बाहरी सत्ता की आवश्यकता उनकी रक्षा, शिक्षा और न्याय आदि के लिए न रहे। पर सारे समाज की ऐसी दशा भी उसी अवस्था में हो सकती है जब लोग खुद ब खुद उन तमाम नियमों और कानूनों को मानने लगे जिन्हे सरकार अपनी हुकूमत के अर्थात् दण्ड-भय के बल पर मनवाती है। यहाँ आकर हम देख सकते हैं कि मनुष्य के सामाजिक और राजनैतिक जीवन मे भी सयम का कितना महत्व है। इस विषय पर बहुत दूर तक बारीकी के साथ जिन-जिन विचारकों ने विचार किया है उनका यही कहना है कि समाज मे किसी सरकार का रहना समाज की बे-बसी का सबूत है, समाज के लिए एक तरह से शर्म की बात है। थोरो, टालस्टाय, क्रोपाटकिन, लेनिन और गाधी—ऐसे विचारकों की श्रेणी मे आते हैं। सामाजिक आदर्श से जहाँ तक सबध है यदि मै गलती नही करता हूँ तो, ये सभी प्राय एक-मत है, पर आगे चलकर आदर्श को पहुँचने के साधन या मार्ग मे मतभेद हो जाता है। लेनिन का कहना है कि भाई जबतक मौजूदा सत्ता को जबर्दस्ती तोड-फोडकर बागडोर अपने हाथ मे नही लेली जाती, अपने आदर्श के अनुसार शासन-व्यवस्था बनाने की पूरी सुविधा सब तरह नही प्राप्त करली जाती तबतक अपने मनोवाञ्छित सामाजिक आदर्श को पहुँचना असभव है। अतएव इस सक्रमण-काल—बीच के समय—मे तो हमे हर उपाय से सत्ता अपने पास रखनी ही चाहिए। मुसोलिनो और हिटलर भी इसी भाव से प्रेरित होकर इटली और जरमनी मे आज सर्व-सत्ताधीश बन गये हैं। पर टालस्टाय और गांधी कहते है कि यह तो तुम उल्टे रास्ते चल पडे। तुम उस सामाजिक आदर्श को तब तक नही पहुँच सकते जबतक खास किस्म के गुणों की वृद्धि और दोषों की कमी समाज मे न कर दो। इसके लिए दो शर्तें लाजिमी हैं—(१) सामाजिक नियमों का उल्लघन कोई न करे—सब खुद

व खुद राजी-खुशी उनका पालन करें (२) किसीके उल्लंघन करने पर दूसरा उसका बदला लेना न चाहे, उसे क्षमा करदे। इन्हीं दो शर्तों का नाम है संयम और शान्ति। इसे एक ही शब्द में कहना चाहें तो 'अहिंसा' कह सकते हैं। उनका कहना है कि जबतक तुम अहिंसा को अपना पहला और अन्तिम पाठ नहीं बना लेते तबतक तुम चक्कर में हो—गोते खाते रहोगे। सर्वसाधारण अर्थात् जनता संयम और क्षमा अथवा अहिंसा का अवलम्बन तभी कर सकती है जब तुम समाज के बड़े, नेता कहानेवाले अपने जीवन में उसे प्रधान-पद दो। पर तुम तो मारकाट और हत्याकाण्ड मचाकर उसे मार-काट और हत्याकाण्ड का ही रास्ता बताते हो और कहते हो कि इसके बिना काम नहीं चलेगा तो फिर लोगों में संयम और क्षमा कैसे आवेगी और जबतक ये गुण न आवेंगे तबतक तुम अपने सामाजिक आदर्श को कैसे पा सकोगे? तुम तो बबूल का बीज बोकर उसमें आम के फल की आशा रखते हो। मैं स्वयं इसी दूसरे मत का कायल और अनुयायी हूँ, क्योंकि इसमें विचार की सुलझाहट मालूम होती है।

परिशिष्ट (६)

गावा का ओर—

भारत को वास्तविक शक्ति गांवो मे सोई हुई है। यदि स्वराज्य हमे भारत की जनता के ही लिए मुख्यत पाना है तो यह निर्विवाद है कि वह उन्हीके वल पर हमें पाना होगा। इसका अर्थ यह है कि हमे गांवों मे जाकर उस सुप्त शक्ति को जगाना, सगठित करना और स्वराज्य प्राप्ति के योग्य बनाना होगा। इसी बात को हम दूसरी भाषा मे यों कहे कि जब तक हम अन्यायों, अत्याचारों के प्रतिकार की भावना और शक्ति जनता मे नही उत्पन्न कर देते तब तक स्वराज्य, सच्चा स्वराज्य, कठिन है।

तो, अन्याय के प्रति यह असहिष्णुता गॉववालों मे कैसे पैदा हो ? कुछ लोग कहते है स्वराज्य का सन्देश लेकर गाँवों मे जाओ, कुछ लोग मानते है कि आर्थिक कष्टों को पहले हाथ मे लो, कुछ लोगों का

मत है कि सबसे पहले तो उनके दिल में 'अपने लिए प्रेम, आदर और विश्वास पैदा करो, कुछ लोग सुझाते हैं कि पहले उनकी छोटी-बडी शिकायतों से शुरूआत करो। इनके विषय मे मेरा मत तो यह है कि गाँव के लोग न तो स्वराज्य की भाषा समझते है, न स्वाधीनता की। उनके नजदीक स्वराज्य और स्वाधीनता का कोई स्वतंत्र मूल्य नही है। अधिकारियों के जुल्मों से वे तग और परेशान जरूर रहते है, और उनसे यदि कोई उनकी रक्षा करा सके तो उसे वे जरूर चाहते है। किन्तु यह जुल्मों से रक्षा करने का ही प्रश्न, आगे चलकर, स्वराज्य का प्रश्न बन जाता है। यदि जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड न हुआ होता, तो स्वराज्य की आग लोगों के दिलों मे इतनी तेजी से न लग पड़ती। किन्तु गाँव के लोग अभी यह समझने नही लगे हैं कि उनके छोटे-मोटे दुःखों और कष्टों का प्रश्न किस तरह स्वराज्य का प्रश्न बन जाता है। इसलिए केवल स्वराज्य का सन्देश एकाएक उनके दिल में नहीं बैठेगा।

हाँ, आर्थिक कष्ट उन्हे बहुत हैं। कर्ज की इन्तहा नहीं। यह उनके दैनिक जीवन और सीधे सुख-दुःख से सम्बन्ध रखनेवाला प्रश्न है। यह रोटी और पेट का सवाल है। इसका कोई कारगर इलाज हो तो उनको उसकी जरूरत है। किन्तु हमारे समाजवादी भाई वर्ग-युद्ध और मिल्कियत की जब्ती की पुकार मचाते हुए वहाँ जावेंगे तो वहाँ पैर रखना ही मुश्किल हो जायगा। बनिये-महाजन और पटेल-पटवारी ही उनको परेशान करने के लिए काफी हो जायगे और उनके गाँववालो के हृदय में प्रवेश करने के पहले ही उनमे वे गहरी खाई बना डालेगे।

इसलिए जो लोग यह कहते है कि पहले अपने पैर रखने की जगह करो, गाँववालों के प्रेम और विश्वास पात्र बनो, उनकी सलाह मुझे बहुत व्यवहारिक मालूम पडती है। गांववालों का स्वभाव बहुत शकी हो गया है।

जो भी गाँव मे जाते हैं वे आकर उनको लूटते ही है—चाहे राज्य का हाकिम हो, बनिये-महाजन हों जमीदार हो, राजा-रईस हों, किसी न किसी रूप मे वे उनके सिर पर ही लद जाते है। इन कटु अनुभवों ने उन्हे ऐसा शकाशील बना दिया है कि सहसा उन्हे यह विश्वास नही होने पाता कि ये हमारी सेवा-सहायता के ही लिए आए है। वे एकाएक यह नही समझ पाते कि लोग इतने, परोपकारी क्योंकर हो सकते है ? इनकी इस सेवा के अन्दर कोई पेच, कोई भावी भय जरूर छिपा हुआ है ! इस कारण कार्यकर्ता के सामने सबसे पहला प्रश्न यही आकर खडा होता है कि उनमे अपने शुद्धभाव, अपने सत् हेतु के प्रति विश्वास कैसे पैदा किया जाय ? इसका सीधा और सरल उपाय यह है कि सबसे पहले उनकी भिन्न-भिन्न प्रकार की सेवा से ही शुरूआत की जाय। कार्यकर्त्ता यह समझ ले कि मै भी इन मे से एक हूँ। इनका दु ख मेरा दु ख है और इनका सुख मेरा सुख। ये भूखे है तो मै भूखा हूँ, ये नगे हैं तो मै नगा हूँ। इतने तादात्म्य का अनुभव जब तक वह न करेगा तब तक उनके हृदय मे प्रवेश न पा सकेगा। फिर इस सेवा में बदले की आशा नही होनी चाहिए। उनके साथ उसका व्यवहार सरल और सच्चा होना चाहिए। निष्कपट और सहानुभूति शील हृदय से बढकर किसीके हृदय को जीतने का साधन ससार मे नही है। बीमारी के समय उनके वैद्य, उनके परिचारक, उनके कुटुम्बी बन जाइए, मृत्यु के समय उनके आत्मीय हो जाइए, स्वच्छता, सदाचार और नीति सिखानेवाले गुरु बन जाइए, मामले-मुकदमे मे फँस जाने पर उनके सखा हो जाइए, घरेलू और सामाजिक जीवन मे उनके दाँये-बाँये हाथ बन जाइए—फिर देखिए आपके वे साथ कितना प्रेम करते है और आप पर कितना विश्वास करते है, किन्तु यह सब पालिसी से करोगे तो मुँह की खाओगे और सच्चे हृदय मे करोगे तो जीत जाओगे।

मन मे एक और बाहर एक, यह नीति गाँव में आत्मघातक सिद्ध होगी।

इसके बाद अवस्था आवेगी पचायत के द्वारा उनका सगठन करने की। यदि पहले ही जल्दी करके वहाँ कोई आन्दोलन खडा कर दिया तो समझ लीजिए कि आगे के लिए आपने अपने मार्ग मे काँटे बखेर लिए। इसलिए मेरी यह राय है कि गाँवों मे हम स्वराज्य के बदले मनुष्यत्व का सदेश लेकर जावें। राजनैतिक अर्थ मे स्वराज्य हमारे जीवन का एक अंग है, इस समय उसके बिना हमारा सारा जीवन ही बेकार हो रहा है, यह सच है। किन्तु देहात को यदि आप राजनीति के स्थान पर मनुष्यत्व के सहारे उठावेंगे तो आपका काम अधिक स्थायी और आपका मार्ग निष्कटक होगा। हमारा स्वराज्य इसीलिए हमारे हाथ से चला गया कि हम मनुष्यता से गिर गये, हममे मनुष्योचित गुणों की कमी हो गई। जब तक वे न आवेंगे हमारी गुलामी की बेडियाँ कटना कठिन है।

मनुष्यतत्व के लिए सबसे आवश्यक गुण है तेज। तेज कहते हैं हीन वृत्तियो, अन्यायों या अत्याचारों का विरोध करने की शक्ति को। यह तेज आता है सत्य की आराधना से। यदि हम ग्राम वासियों को अपने आचरण से ही यह शिक्षा दे कि वे सदा सत्य पर दृढ रहे, सत्य से बढकर प्रिय वस्तु मनुष्य के लिए दूसरी न होनी चाहिए और साथ ही यह बतावे कि सत्य की आराधना से उनके आर्थिक कष्ट और राजनैतिक जुल्म किस तरह अपने आप मिट जायँगे, तो सत्य के सन्देश मे स्वराज्य का सन्देश अपने आप ही मिल गया और दुनिया में कौन ऐसा पैदा हुआ है जिसने सत्य के सन्देश को रोकने मे सफलता प्राप्त करली है ?

सस्ता-साहित्य-मण्डल के

प्रकाशन

१—**दिव्य जीवन**। प्रसिद्ध लेखक श्री स्वेट मार्डेन के The Miracle of Right Thought का अनुवाद। जीवन की कठिन समस्याओ से निराश युवक के लिए यह सजीवनी विद्या है। मूल्य ।=)

२—**जीवन-साहित्य**। गुजराती के महान् विचारक काका कालेलकर के शिक्षा, सस्कृति, सभ्यता, राजनीति आदि महत्त्वपूर्ण विषयो पर लिखे निवन्धो का सग्रह। मूल्य १।)

३—**तामिल-वेद**। दक्षिण के अछूत ऋषि तिरुवल्लुवर का उत्तम और उत्कृष्ट नैतिक, धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, शिक्षाओ से भरा हुआ ग्रन्थ है। मूल्य ।।।)

४—**भारत में व्यसन और व्यभिचार**। भारत मे व्यसन और व्यभिचार सम्वन्धी हिन्दी की सर्वोत्तम पुस्तक। इन दुर्व्यसनो में फसे देश का नग्न दर्शन तथा उन व्यसनो को दूर करने का उपाय। मूल्य ।।।=)

५—**सामाजिक कुरीतियां**। [जव्त] मूल्य ।।।)

६—**भारत के स्त्री-रत्न**। प्राचीन भारतीय देवियो के आदर्श जीवन चरित्र, सुवोध और सरल भापा मे। मूल्य १।।।-)

७—**अनोखा**। फ्रास के प्रसिद्ध उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो के The Laughing Man नामक उपन्यास का अनुवाद। अग्रेजी राजाग्रो तथा दरवारियो की कुटिल क्रीडाग्रो का नग्न दर्शन। मनोरजक, करुण और गभीर। मूल्य १।=)

८—**ब्रह्मचर्य्य-विज्ञान**। ब्रह्मचर्य्य पर अत्युत्तम पुस्तक। उपनिपदो, पुराणो तथा वहुत से अन्य धार्मिक ग्रन्थो के प्रमाणो से युक्त। मू० ।।।=)

९—**यूरोप का इतिहास**। यह यूरोप का इतिहास बलिदान, राजनीति, देशप्रेम तथा स्वाधीनता का इतिहास है। मनोरजक, सुबोध, एव सरल। मूल्य २)

१०—**समाज-विज्ञान**। समाज शास्त्र पर हिन्दी मे यह बहुत ही सुन्दर पुस्तक है। समाज की रचना उसके विकास तथा निर्माण पर लेखक ने बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। 'समाज-शास्त्र' पढनेवाले विद्यार्थियो के लिए यह अत्युत्तम ग्रन्थ है। मूल्य १॥)

११—**खद्दर का संपत्तिशास्त्र**। खादी के अर्थशास्त्र पर अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान श्री० रिचर्ड बी० ग्रेग लिखित The Economics of Khaddar का हिन्दी अनुवाद। खादी की उपयोगिता आपने वैज्ञानिक तथा आर्थिक ढग से सिद्ध की है। मूल्य ॥|≡)

१२—**गोरों का प्रभुत्व**। अग्रेजी की Rising Tide of Colour के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई है। इसमे बतलाया गया है कि ससार की सवर्ण जातिया स्वतत्र होने के लिए किस प्रकार गोरी जातियो से लड रही है और अपनेको स्वतत्र कर रही है। मू० ॥|=)

१३—**चीन की आवाज़**। [अप्राप्य] मूल्य |-)

१४—**दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास**। सत्याग्रह की उत्पत्ति तथा उसके प्रयोग का स्वय गाधीजी द्वारा लिखा इतिहास पढे कि किस प्रकार इस शस्त्र द्वारा दक्षिण अफ्रिका वासियो ने अपने अधिकारो की बहादुरी से और बिना दूसरो को तकलीफ पहुँचाते हुए रक्षा की। मूल्य १|)

१५—**विजयी बारडोली**। [अप्राप्य] मूल्य २)

१६—**अनीति की राह पर**। ब्रह्मचर्य तथा अप्राकृतिक सतति-निरोध पर लिखी गई महात्मा गाधी की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक। ब्रह्मचर्य पर

लिखी गई यह सर्वोत्कृष्ट पुस्तक है। मूल्य ।≡)

१७—**सीताजी की अग्नि-परीक्षा।** लका-विजय के बाद सीताजी की अग्नि-शुद्धि का यह वैज्ञानिक विश्लेषण है। विज्ञान का हवाला देकर यह बताया गया है कि वह घटना निरी कपोलकल्पित ही नही है, सच्ची है। मूल्य ।-)

१८—**कन्या-शिक्षा।** छोटी वालिकाओ के लिए यह पुस्तक बडे काम की है। वालिकाओ को अपने बाल्य-जीवन के विषय मे किस तरह शिक्षा देनी चाहिए, इसमे वतलाया गया है। मूल्य ।)

१९—**कर्मयोग।** [अप्राप्य] मूल्य ।=)

२०—**कलवार की करतूत।** महर्षि टाल्स्टाय की चुटीली भाषा मे शराव के आविष्कार की मनोरजक कहानी। मूल्य =)

२१—**व्यावहारिक सभ्यता।** युवको, वच्चो तथा अवस्थाप्राप्त लोगो के लिए रोज के व्यवहार मे आनेवाली शिक्षाओ का सग्रह। वोधप्रद, अनुकरणीय तथा ज्ञानप्रद। मूल्य ।=)

२२—**अंधेरे में उजाला।** महर्षि टाल्स्टाय के अन्तिम नाटक Light Shines in the Darkness का अनुवाद। मूल्य ॥)

२३—**स्वामीजी का बलिदान।** स्वामी श्रद्धानन्द के वलिदान पर श्री हरिभाऊजी द्वारा हिन्दू-मुसलिम समस्या पर लिखा गया निवध। हिन्दू-मुस्लिम एकता पर व्यावहारिक सूचनाये। मूल्य ।-)

२४—**हमारे ज़माने की गुलामी।** [अप्राप्य] मूल्य ।)

२५—**स्त्री और पुरुष।** टाल्स्टाय के Relation of Sexes नामक पुस्तक का अनुवाद। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध तथा ब्रह्मचर्य पर टाल्स्टाय के उत्तम विचार। युवको के पढने योग्य। मूल्य ॥)

२६—**घरों की सफ़ाई** । [छप रही है] मूल्य ।)

२७—**क्या करें ?** टाल्स्टाय की प्रसिद्ध पुस्तक What to do ? का अनुवाद। गरीवो एव पीडितो की समस्याओ का मथन। मूल्य १॥=)

२८—**हाथ की कताई-बुनाई** । [अप्राप्य] मूल्य ॥=)

२९—**आत्मोपदेश** । यूनान के प्रसिद्ध विचारक महात्मा ऐपिक्टेटस के उत्तम और महत्वपूर्ण उपदेशो का सग्रह । मूल्य ।)

३०—**यथार्थ आदर्श जीवन** । [अप्राप्य] मूल्य ॥-)

३१—**जब अंग्रेज़ नहीं आये थे** । तब भारत हरा-भरा था । भारत की दुर्दशा तो अंग्रेजो के यहा आनेके वाद से शुरु हुई है । पार्लमेंट द्वारा नियुक्त रिपोर्ट के आधार पर मूल्य ।)

३२—**गंगा गोविन्दसिंह** । [अप्राप्य] मूल्य ॥=)

३३—**श्रीरामचरित्र** । मराठी के विद्वान् लेखक चिन्तामणि विनायक वैद्य लिखित रामायण की करुण और मधुर कहानी । मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी का उत्तम जीवन-चरित्र । मूल्य १।)

३४—**आश्रम-हरिणी** । एक पौराणिक उपन्यास । विधवा-विवाह की समस्या पर पौराणिको के विचार । मूल्य ।)

३५—**हिन्दी-मराठी-कोष** । मराठी-भाषा-भाषियो को हिन्दी सीखने मे वडे काम की चीज है । श्री केलकर तथा चिन्तामणि विनायक वैद्य ने वडी प्रशसा की है । मूल्य २)

३६—**स्वाधीनता के सिद्धान्त** । आयर्लैण्ड के अमर शहीद टिरेन्स मेकस्विनी के Principles of Freedom का अनुवाद । आजादी की इच्छावालो की नसो मे यह नया खून नया जोश भरने वाली पुस्तक । मूल्य ॥)

३७—**महान् मातृत्व की ओर** । स्त्री-जीवन की प्रारम्भिक कठिनाइयो

का दिग्दर्शन कराती हुई मातृत्व की जिम्मेदारी का दिग्दर्शन कराने वाली स्त्रियोपयोगी उत्तम पुस्तक। मूल्य ॥।=)

३८—**शिवाजी की योग्यता।** [छप रही है] मुल्य ॥)

३९—**तरंगित हृदय।** " मूल्य ॥)

४०—**हालैण्ड की राज्यक्रान्ति [नरमेध]** डच प्रजा के आत्मयज्ञ का पुनीत और रोमाचकारी इतिहास। हृदय मे उथल-पुथल मचा देने-वाली क्रान्तिकारी पुस्तक। मुल्य १॥)

४१—**दुखी दुनिया या प्रलय-प्रतीक्षा।** गरीव और पीडित दुनिया के करुण चित्र। चक्रवर्ती श्रीराजगोपालाचार्य की सच्ची घटनाओ पर लिखी कहानिया। मधुर, करुण और सुन्दर। मूल्य ॥)

४२—**जिन्दा लाश।** टाल्सटाय के The Living Corpse नामक नाटक का अनुवाद। उच्छखल युवको के पास, यौवन, धन, प्रभुत्व एकत्र होजाने के वाद उनके होनेवाले भयकर परिणाम का रोमाच-कारी चित्रण। मूल्य ॥)

४३—**आत्म-कथा।** महात्मा गाधी लिखित। ससार के साहित्य का एक रत्न। उपनिपदो की भाति पवित्र और उपन्यासो की भाति रोचक। चरित्र को ऊँचा उठाने वाली। हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा किया गया प्रामाणिक अनुवाद। दो खण्ड एक साथ वढिया जिल्द, मुन्दर छपाई। अजिल्द १।) सजिल्द मूल्य १॥)

४४—**जव अंग्रेज आये।** [ज़ब्त] मूल्य १॥)

४५—**जीवन-विकास।** डार्विन के विकासवाद के तत्व को विपद रूप से ममझानेवाली हिन्दी मे एक ही पुस्तक। मूल्य १।) सजिल्द १॥)

४६—**किसानों का विगुल।** [ज़ब्त] मूल्य =)

४७—**फासी।** फ्रास के क्रातिकारी उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो ही एक

आख्यायिका का अनुवाद। फासी की सजा प्राप्त एक युवक के मनोभाव का चित्रण। करुण और रुलानेवाला मूल्य ।।)

४८—**अनासक्तियोग और गीता-बोध**। गीता पर गाधीजी की व्याख्या। मूल श्लोक तथा महात्माजी के गीता के तात्पर्य गीताबोध-सहित २५० पृष्ठो मे मूल्य केवल ।=) केवल **अनासक्तियोग** =), सजिल्द ।) **गीताबोध** महात्माजी का लिखा गीता का तात्पय -)।।

४९—**स्वर्णविहान** [ज़ब्त] मूल्य ।=)

५०—**मराठों का उत्थान और पतन**। मराठा साम्राज्य का विस्तृत और सच्चा इतिहास। मराठी इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् श्री गोपाल दामोदर तामसकर लिखित। हिन्दी मे तो क्या स्वय मराठी भाषा मे मराठा साम्राज्य का ऐसा इतिहास नही है। मूल्य २।।)

५१—**भाई के पत्र**। कन्या, नारी, माता तीन खण्डो मे विभक्त, स्त्री-जीवन पर प्रकाश डालनेवाली, उनका घरेलू एव रोजमर्रा की कठिनाई मे पथप्रर्शक बहनो के हाथो मे दिये जाने योग्य एक ही पुस्तक। अपनी बहनो, बहुओ और बेटियो को इसकी एक प्रति अवश्य दे। मूल्य अजिल्द १।।) सजिल्द २)

५२—**स्वगत**। [हरिभाऊजी] नैतिक एव चरित्र को गढनेवाले उच्च उपदेश युवको को सच्चा रास्ता दिखानेवाले विचार। मूल्य ।-)

५३—**युगधर्म**। [ज़ब्त] मूल्य १।।)

५४—**स्त्री-समस्या**। नारी-जीवन की जटिल समस्याओ का गम्भीर अध्ययन तथा नारी-जाति के विकास का मनोरजक इतिहास। मूल्य अजिल्द १।।।) सजिल्द २)

५५—**विदेशी कपड़े का मुकाबला**। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री एम० पी० गाधी लिखित। इसमे बतलाया गया है कि किस प्रकार भारत

अपनी आवश्यकतानुसार कपडा तैयार कर सकता है। मू० ।।≈)

५६—**चित्रपट** । श्री शान्तिप्रसाद वर्मा के गद्य-गीतो का उत्कृष्ट संग्रह। भावनामय, करुण और मधुर मल्य ।≈)

५७—**राष्ट्रवाणी** । [अप्राप्य] मूल्य ।।≈)

५८—**इंग्लैण्ड में महात्माजी** । महात्माजी की इग्लैण्ड की यात्रा का सुन्दर, सरस और सुबोध वर्णन । हिन्दी मे अपने ढग का सर्वोत्तम यात्रा-वृत्तान्त । मूल्य १)

५९—**रोटी का सवाल** । मशहूर रूसी क्रातिकारी लेखक प्रिंस क्रोपाट-किन की अमरकृति Conquest of Bread का सुन्दर अनुवाद समाजवाद का सुन्दर, सरल और सुबोध विवेचन । मूल्य १)

६०—**दैवी-सम्पद्** । सर्वोत्तम नैतिक एव धार्मिक पुस्तक । 'दैवी-सम्पद् से मनुष्य को मोक्ष होती है।' इसी बात का सुन्दर विवेचन है। मनुष्य को मोक्ष का रास्ता बतानेवाली । अब मूल्य ।≈)

६१—**जीवन-सूत्र** । अग्रेजी मे थामस केपिस लिखित सर्व प्रसिद्ध पुस्तक 'इमिटेशन आफ क्राइस्ट' का अनुवाद । जीवन को उन्नत और विचारो को सात्विक बनानेवाली । मूल्य ।।।)

६२—**हमारा कलंक** । अस्पृश्यता-निवारण पर लिखे गये महात्माजी के लेखो का सग्रह, उनके महान् उपवास की कहानी, सरकार के साथ उनका पत्र व्यवहार, उनके ताजे वक्तव्य अस्पृश्यता निवारण पर महात्माजी के विचारो का 'रेफरेन्स बुक' । महात्माजी के आशीर्वाद सहित । ३०० पृष्ठो का लागतमात्र मूल्य ।।≈)

६३—**बुद्बुद्** । (हरिभाऊजी) अपने आदर्शो से जीवन का मेल मिलानेवाले युवको के लिए यह पुस्तक बडे काम की है। उनको इससे उत्साह मिलेगा, शाति मिलेगी, प्रेरणा मिलेगी, सात्वना मिलेगी । मूल्य ।।)

६४—संघर्ष या सहयोग ? प्रिंस क्रोपाटकिन की Mutual Aid नामक पुस्तक का अनुवाद। लेखक ने जोरो के साथ इसमे दिखलाया है कि पशु और पक्षियोसे लेकर मनुष्य तक सबके जीवन का आधार सहयोग है, संघर्ष नही। मूल्य १॥)

६५—गांधी-विचार दोहन। श्री किशोरलाल मशरूवाला ने इस पुस्तक मे थोडे से मे महात्माजी के समस्त राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक एव नैतिक विचारो का बडा सुन्दर दोहन किया है। यह महात्माजी के सम्पूर्ण विचारो का एक 'रेफ़रेन्स बुक' है। मूल्य ॥)

६६—एशिया की क्रांति। [जब्त] मूल्य १॥)

६७—हमारे राष्ट्र-निर्माता। हिन्दी मे चरित्र विश्लेषणात्मक जीवन गाथाओ का बिलकुल अभाव है। उस दिशा मे यह पहला और महत्वपूर्ण प्रयत्न है। नवीन शैली मे वर्तमान भारत के निर्माताओ—लोकमान्य तिलक स्व० मोतीलालजी, मालवीयजी, महात्माजी, दास बाबू, जवाहरलालजी, मौ० मुहम्मदअली, सरदार और प्रेसिडेन्ट पटेल—की जीवनिया (उनके सम्मरण, जीवन की झाकिया एव व्यक्तित्व के विश्लेपण के साथ) लिखी गई है। दस पुस्तको का काम देनेवाली एक पुस्तक। मूल्य १॥) सजिल्द ३)

६८—स्वतंत्रता की ओर—। (हरिभाऊ उपाध्याय) इस महत्वपूर्ण पुस्तक मे बताया गया है कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है ? हम उस लक्ष्य—स्वतत्रता—को किस प्रकार और किन साधनो से प्राप्त कर सकते है। हमारा समाज कैसा हो, हमारा साहित्य कैसा हो हमारा जीवन कैसा बने जिससे हम स्वतत्रता की ओर बढते चले जावे। हिन्दी मे अपने विषय की एक मात्र पुस्तक। मूल्य १॥)

शुद्धाशुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३८	१०	भारतभूत	भारभूत
४३	१८	शास्त्र	शस्त्र
४४	२३	ममाज	समाज
४७	१९	असली	अमली
७६	७	काम	कायम
८७	१	असक्ति	आसक्ति
,,	८	प्रेम	प्रेय
९६	९-१०	मे यह लगाना	सयम लगाना
७७	१५	एक सत्यता	एकात्मता
१०१	१८	विषयो	नियमो
११३	१९	होगा	होता
११९	३	ममदार	समझदार
१२४	३	मसनझा	समझना
,,	११	वढना	वढाना
,,	१७	मधर्प	सम्वन्ध
१२६	५	वनाया	वताया
१३३	१३	अहिसा	हिंसा
,,	१६	मरना	मारना
१४१	१	सत्याग्रह	सत्याग्रही
२०६	११	मदा	सादा

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शु'
२०९	१०	नाम	नाश
२२७	४	डालना	डाल
२२८	१४	अथवा	अ"
२३९	१९	जपनी	अ
२७२	३	गुणद्वेप	गु'
२८४	६	न्यायविभागो के द्वारा	न्या काम सीधी करना, विभाग।
२८६	२४	चमका	चकमा
२९१	२	उनका	उसका
२९३	४	रोव	दोप
३००	१६	अक्षर	असर
३०१	९	सामाजिक	सामयिव
३०१	१६	फुल्लित	फलित
३०५	८	समझनी	समझानं
३०६	२४	रेगीक	करेगी
३०९	६	सात्विक	तात्वि
३०९	१२	निर्भयत्व	निर्भ
३१३	१३	जीवन सग्राम भूमि	जी